अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ-परामर्श

रचयिता

प्रो. वसन्तकुमार म. भट्ट

निदेशक, भाषा-साहित्य भवन,

गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

॥ ओ३म् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ-परामर्श

प्रो. वसन्तकुमार म. भट्ट
आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
भाषा-साहित्य भवन,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

: प्रकाशक :
आर्षगुरुकुल महाविद्यालय, आबू पर्वत
देलवाड़ा, जि. सिरोही (राजस्थान) - ३०७ ५०१

2015

॥ अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ-परामर्श ॥

ABHIJNANA-SHAKUNTALA KA PATHA-PARAMARSHA

ISBN - No - 978 - 93 - 5235 - 160 - 2

लेखक - डॉ. वसन्तकुमार म. भट्ट

email : bhattvasant@yahoo.co.in

प्रकाशक - आर्षगुरुकुल महाविद्यालय, आबू पर्वत
देलवाड़ा, जि. सिरोही (राजस्थान) - ३०७ ५०१

संस्करण - प्रथम

संवत् - 2072 (29 मई, 2015)

मूल्य - 250 /=

टाईप सेटींग - बलभद्र शास्त्री, यश प्रिन्टर्स, अहमदाबाद

मुद्रक -

॥ मामकीनं निवेदनम् ॥

भाषा–साहित्य भवन, गुजरात युनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग में मुझे पढ़ने (1973-78) का एवं पढ़ाने का (वर्ष 1984 से 2015 तक) मौका मिला उसे मैं मेरा सद्–भाग्य समझता हूँ। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण ही मेरा ईप्सिततम विषय रहा है, किन्तु महाकाल ने मेरे अध्ययन की दिशा को कालिदास की ओर घुमा कर एक अकल्पित कार्य करवाया है। कालिदास समारोह, उज्जयिनी में शोध–आलेख प्रस्तुत करने का अवसर मिलता रहा, वहाँ से मैंने जाना कि सर्वोत्तम माने गये इस नाटक का पाठ बहुविध है। तथा उसके पाठ का अभी तक सर्वसम्मत हो ऐसा कोई संस्करण निकला ही नहीं है। कालिदास–साहित्य के धुरन्धर विद्वानों के होते हुए भी मुझे लगा कि यह मेरा भी कर्तव्य है कि मैं शाकुन्तल की पाठसंशुद्धि का प्रयास करुँ। इतने में, हेमचन्द्राचार्य उत्तर गुजरात युनि०, पाटण ने नाट्यकार कालिदास विषय पर एक परिसंवाद का आयोजन किया (मार्च 1994)। जिसमें मैंने ''अभिज्ञानशाकुन्तल की समीक्षित आवृत्ति की समस्याएँ'' इस आलेख को प्रस्तुत किया। डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल, कोलकाता के ग्रन्थ से मैंने इस नाटक के प्रचलित पाठ में रही अनेक समस्याओं को जाना। डॉ. सत्यपाल नारंग की कालिदास बिब्लिओग्राफी से जानकारी मिली कि सर विलियम् जोन्स ने (सन् 1780 में) प्रथमबार उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया तब से लेकर विदेशियों ने भी उसके कई संस्करण एवं अनुवाद तथा आलेखादि प्रकाशित किये हैं। कुछ विद्वानों ने उसकी बंगाली, काश्मीरी एवं देवनागरी जैसी वाचनाओं का भी प्रकाशन किया है। कालान्तर में मैथिली एवं दाक्षिणात्य पाठपरम्पराओं का भी पृथक् निर्देश होने लगा। किन्तु श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे सुविख्यात विद्वद्–वरेण्य ने बंगाली वाचना की अपेक्षा से देवनागरी वाचना का पाठ ही अधिक श्रद्धेय है, मौलिकता के नजदीक है ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया। तब से लेकर (राघवभट्ट ने जिस पाठ पर

टीका लिखी है, उस) देवनागरी वाचना के पाठ का सार्वत्रिक स्वीकार हो गया है। किन्तु ऑल इन्डिया ओरिएन्टल कोन्फरन्स के प्रथम पूणें-अधिवेशन (सन 1912) में गुजरात के मनीषी सॉनिटकार श्रीबलवन्तराय ठाकोर ने ''ध टेक्स्ट ऑफ शकुन्तला'' शीर्षक से एक शोध-आलेख प्रस्तुत किया। जिसमें कहा गया था कि तीन तो क्या, दो तरह के शाकुन्तल का पाठ भी असह्य है, उसमें एकरूपता लानी चाहिए। जहाँ से जो भी अच्छा याने काव्यत्वपूर्ण और नाट्यक्षम पाठ मिले उसका चयन करके, सर्वग्राह्य बने ऐसे पाठ का प्रकाशन होना चाहिए। लेकिन उनका वह स्वप्न अभी (सन् 2015) तक साकार नहीं हुआ है। अरे, अद्यावधि काश्मीरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का समीक्षित पाठ भी किसी विद्वान् ने तैयार नहीं किया है। लगता है कि सभी साहित्यरसिकों ने देवनागरी वाचना के ही पाठ से संतुष्ट रहना सीख लिया है। अथवा अन्यान्य वाचनाओं का प्रकाशन उपलब्ध होते हुए भी तुलनात्मक अध्ययन करने का परिश्रम शायद नहीं उठाया है॥

पाठसंशोधन की दिशा में चिन्तन करने से मुझे अवगत हुआ कि किसी भी कृति की साहित्यिक आलोचना करने से पहले उसकी पाठ-समीक्षा अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। बिना मौलिक पाठ की गवेषणा किये जो भी साहित्य-समीक्षा की जायेगी, वह कालान्तर में गलत सिद्ध हो सकती है॥ क्योंकि आज हम जो अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का पाठ पढ़ रहे हैं वह तो रंगकर्मियों के द्वारा संक्षिप्त एवं परिवर्तित किया गया पाठ है। इस दिशा के अभ्यास से आकारित हुआ ''अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचन में संक्षेपीकरण के पदचिह्न'' शीर्षकवाला शोध-आलेख। अब मेरे सामने प्रशन आया कि देवनागरी के पाठ में यदि कटौती हुई है तो उसका अखण्ड पाठ कहाँ होगा। मैंने विभिन्न वाचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन शूरु किया। पहले तो बंगाली वाचना के पाठ में मौलिकता के कुछ नवीन प्रमाण (जो डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के ध्यान में नहीं आये थे) पहचाने। (कालिदास के पद्यकाव्यों में जो पाठभेद हुए हैं, वे प्रायः साहित्यशास्त्र में हुए 'काव्यदोषविमर्श' से प्रेरित/जनित है, ऐसा मेरा मन्तव्य बना है।) तत्पश्चात् हैदराबाद संस्कृत अकादेमी (2010) ने तत्त्वबोध व्याख्यान के लिए निमन्त्रण दिया। उसमें

''अभिज्ञानशकुन्तल : कृतिसमीक्षा से पाठसमीक्षा (तृतीयांक के विशेष सन्दर्भ में)'' शीर्षक से व्याख्यान दिया, जिसमें देवनागरी में से हटाये गये दो दृश्यों, जो बंगाली पाठ में मिल रहे थे उसकी मौलिकता प्रमाणित करने का प्रयास उच्चतर समीक्षा से किया। उसके बाद, बंगाली वाचना पर चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने लिखी सन्दर्भदीपिका टीका, जो अप्रकाशित पाण्डुलिपि के रूप में लंदन की इन्डिया ऑफिस लाईब्रेरी में संगृहीत थी, उसका समीक्षित पाठसम्पादन (2013) तैयार किया। उसकी लम्बी प्रस्तावना में, ''अपि च'' एवं ''अथवा'' जैसे निपातों के विनियोग का स्वारस्य ढूँढ कर बंगाली पाठ में प्रविष्ट प्रक्षेपों को समुद्घाटित किये। (डॉ. कमलेशकुमार चोकसी जी ने कालिदास के द्वारा अथवा निपात का विशिष्टतया विनियोग होता है उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। अतः वे मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।) डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के ग्रन्थ से जब ऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी में सुरक्षित शारदा पाण्डुलिपियों की जानकारी मिली तो उसको प्राप्त करने का आर्थिक साहस किया। कालदेवता की कृपा से वे भी मिल गई। दो-तीन वर्षों के अन्तराल में, श्रीनगर और पूणें से भूर्जपत्र पर लिखी गई एवं अलभ्य घोषित की गई शारदा प्रतियाँ भी मिली। जिससे काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठ तैयार करने का मार्ग (2015) प्रशस्त हुआ है। अब इन पाण्डुलिपियों का बारिकी से अभ्यास करने से, बहुविध पाठभेदों में तिरोहित हुआ पाठविचलन का पौर्वापर्य क्रमशः ध्यान में आ गया है। तुलनात्मक अभ्यास से आरम्भ हुई शाकुन्तल के स्वाध्याय की मेरी यात्रा में जब ऐतिहासिक दृष्टि भी दाखिल हुई तो प्राचीन से प्राचीनतर, और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की गवेषणा का लक्ष्य सफल होने लगा है। काश्मीर के प्राचीनतम एवं मौलिकता के करीब का पाठ सामने आने से, अब इस नाटक का जो काव्यार्थ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सोचा है उसके प्रतिपक्ष में एक दूसरा काव्यार्थ भी दिखाई दे रहा है। जिसका निरूपण ''अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रतीकों से व्यक्त होनेवाला नाट्यकार्य'' शीर्षकवाले आलेख में रखा गया है। नवीन पाठालोचना का यह चरमोत्कृष्ट फल है॥ मेरे इस तरह के स्वाध्याय के दौरान प्रकट हुए कुछ शोध-आलेखों का संपुट ''अभिज्ञानशाकुन्तल

का पाठ-परामर्श'' शीर्षक से तैयार किया है, जो आप सुधी पाठकों के करकमल में विराजमान है ॥ इनमें एकत्र किये गये आलेख ''अपूर्वा'' वाराणसी, ''नाट्यम्'' सागर, ''तत्त्वबोध'' राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली, ''अपूर्वा'' वाराणसी, ''शोध-प्रभा'' दिल्ली, ''ऑल इन्डिया ओरिएन्टल कॉन्फरन्स, गुवाहाटी'', तथा ''संस्कृत विमर्श'' दिल्ली से प्रकाशित हुए हैं। उन सब पत्रिकाओं का मैं साभार ऋण स्वीकार करता हूँ ॥

मैं जून 2015 में वयमर्यादा के कारण, गुजरात युनिवर्सिटी से सेवा-निवृत्त हो रहा हूँ, उसके उपलक्ष्य में एक स्मृति-चिह्न प्रस्थापित करने का विचार मेरे हितैषी एवं संस्कृतानुरागी विद्वानों के हृदय में आया। जिनमें मुख्य है मेरे विद्वान् अनुज भ्रातृकल्प प्रोफे. डॉ. कमलेशकुमार सी. चोकसी । आप आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, आबू पर्वत के न्यासी हैं तथा संस्कृत भाषा और विद्या के उपासक हैं । इनकी सद्भावना से मेरे शाकुन्तल विषयक कुछ चुने हुए शोध-आलेखों का यह संग्रह आज प्रकाशित किया जा रहा है, जो मेरे लिए परम हर्ष का विषय है। मैं आशा करता हूँ कि मेरे विद्यानुरागी सभी छात्र तथा संस्कृताध्ययनरत समग्र प्रवर्तमान छात्रसमूह इस शोध-संपुट से प्रेरणा प्राप्त करेंगे और संस्कृत की निरन्तर सेवा करते रहेंगे। मैं उनकी सद्-भावनाओं के प्रति साधुवाद प्रकट करता हूँ ॥

एवमेव, इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का शुभ संकल्प आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, आबू पर्वत ने किया इसलिए मैं उनका भी ऋणी रहूँगा।

29 - May, 2015 **- वसन्तकुमार म. भट्ट**

॥ ओ३म् ॥

॥ प्रकाशकीयम् ॥

आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, आबू पर्वत (देलवाड़ा) जि. सिरोही राजस्थान अपने संस्कृत अध्ययन-अध्यापन सेवा के पच्चीस वर्ष पूरे कर रहा है। इस रजत जयन्ती वर्ष के निमित्त संस्कृतभाषा तथा संस्कृत विद्या के कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित करने का गुरुकुल की कार्यकारिणी सभा में संकल्प किया गया है।

इस संकल्प को साकार करने हेतु कई मूल्यवान् ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना तैयार की गई है। इस परम्परा में यह द्वितीय पुष्प प्रकाशित किया जा रहा है।

यह तो सर्वविदित है कि प्राचीन समय में प्रतिलिपिकरण के द्वारा ग्रन्थों को उपलब्ध करवाया जाता था। इस प्रतिलिपिकरण के अवसर पर स्वेच्छा से अथवा अनिच्छा से पाठान्तरों तथा प्रक्षेपों को प्रविष्ट करने कराने की प्रवृत्ति भी चलती रही है। इस कारण से आज वेदसंहिताओं को छोड़ कर संस्कृत का प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ पाठान्तरों से तथा प्रक्षेपों से ग्रस्त है। इस स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक ग्रन्थ का समीक्षित पाठसंपादन किया जाय। महाभारत, रामायण तथा कई पुराणों के ऐसे समीक्षित पाठसंपादन सम्पन्न हुए हैं। परन्तु संस्कृत साहित्य के प्रसिद्धतम कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का ऐसा कोई समीक्षित पाठसंपादन तैयार नहीं हुआ था। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि भाषा तथा विद्या के सन्निष्ठ उपासक तथा पाणिनीय व्याकरण के प्रथम पंक्ति के मर्मज्ञ विद्वान् प्रॉ. वसन्तकुमार म. भट्ट ने इस कार्य को सम्पन्न किया है। आपने विगत

कई वर्षों के सतत परिश्रम के फलस्वरूप देश तथा दुनिया के अनेक संग्रहालयों में संगृहीत अभिज्ञानशाकुन्तल के दुर्लभ हस्तलेख प्राप्त किये हैं तथा उन सब का वैज्ञानिक पद्धति से संपादन करके अभिज्ञानशाकुन्तल के प्राचीनतम तथा प्रामाणिक पाठ को निर्धारित करने का सफल प्रयास किया है। उनके इस प्रयास से संस्कृत जगत् का बहुत उपकार होगा।

आपने अपने इस संपादन कार्य के साथ साथ अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के पाठों को ले कर समय समय पर कई विचार प्रेरक संशोधनात्मक लेख लिखे हैं। गुरुकुल की ओर से इन लेखों का एकत्र संपादन कर प्रकाशन किया जा रहा है। आपने बड़ी उदारता से गुरुकुल को इसे प्रकाशित करने की सम्मति प्रदान की है। इसके लिये समग्र गुरुकुल परिवार आपका आभारी है।

देश के कोने कोने में आर्ष पद्धति से चल रहे हमारे गुरुकुलों में अद्यावधि इस प्रकार का पाठसंपादन या पाठसमीक्षा (अपर नाम पाठालोचन) का विषय अध्ययन-अध्यापन में समाविष्ट नहीं हुआ है। पर, इस विषय को अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना अतीव आवश्यक है। हम जिन बातों को उन उन ग्रन्थों में पाते हैं, पर ये बातें सिद्धान्त विरुद्ध हैं, ऐसा एक तरफा निर्णय करके या ये प्रक्षेप हैं, ऐसा कह कर परित्याग कर देने को उद्यत हो जाते हैं, उन बातों का हमने मात्र अपने तर्क के आधार पर निश्चय किया होता है। इसके अतिरिक्त सर्वमान्य बन सकने वाला कोई प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं होता है। पर, यदि हम उन उन ग्रन्थों के प्राचीन हस्तलेखों को एकत्र कर उन्हें देखें, तथा उसमें संगृहीत पाठों की समीक्षा करें, तो सम्भव है कि हमें अपनी बात को स्वीकार्य बनवाने के लिये उस ग्रन्थ के किसी हस्तलेख का आधार मिल जाय। यदि ऐसा होता है तो तर्क के द्वारा मान्य की गई हमारी बात का समर्थक एक ऐसा प्रमाण उपलब्ध

हो जायेगा, जिसे अमान्य करना किसी के वश की बात न होगी। परन्तु एतदर्थ गुरुकुलीय परम्परा के विद्वानों को हस्तप्रतविद्या तथा पाठसंपादन कला को हस्तगत करना अनिवार्य होगा।

गुरुकुल परम्परा को इस अछूते तथा अनिवार्य कार्य को करने की दिशा प्राप्त हो, इस के लिये यह ग्रन्थ प्रकाशित करवाया जा रहा है। आशा है शाकुन्तल के बहाने से अवगत की गई पाठसमीक्षा की विद्या को आधार बना कर हमारे गुरुकुलीय छात्र तथा अध्यापक अन्य आर्ष ग्रन्थों की भी पाठसमीक्षा करने में उद्यत होंगे तथा पाठसमीक्षा विद्या को हस्तगत करने में समर्थ बन सकेंगे।

आर्षगुरुकुल महाविद्यालय के संस्थापक
स्वामी श्री धर्मानन्द सरस्वतीजी की
ओर से
प्रो. कमलेशकुमार छ. शास्त्री
आबू पर्वत, राजस्थान
वार्षिकोत्सव,
29 मई, 2015

अनुक्रमणिका

[1]

पाठसम्पादन की विधाएँ और सिद्धान्तों की सन्दर्भानुसार प्रस्तुति : एक पुनःपरामर्शन

आधुनिक विश्व में यान्त्रिक मुद्रणकला का आविष्कार सार्धशताब्दी-पूर्व ही हुआ था। उससे पहले तो मानव अपने हाथ से ही भूतकाल में लिखे गये ग्रन्थों का ताड़पत्र या भूर्जपत्रादि पर पुनर्लेखन करता आया था। अतः प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों के द्वारा लिखे गये ज्ञान-विज्ञान के जो ग्रन्थ आज हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होते हैं, वे बार-बार प्रतिलिपिकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए हम तक पहुँचे हैं, परन्तु मानवकृत प्रतिलिपिकरण के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होने वाले इन ग्रन्थों का पाठ (Text) आकस्मिक कारणों से नष्ट-भ्रष्ट होता रहा है तथा ये सभी पाठ पुनर्लेखन के दौरान भी लिपिकारों के हाथ से अनजाने में और कभी-कभी जान-बूझकर भी अपने मूल रूप से विचलित किये गये हैं। अतः पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे इन ग्रन्थों का पाठ आज कैसे सम्पादित किया जाय-यह विचारणीय प्रश्न है। यह प्रश्न केवल भारतीय ग्रन्थों के लिये ही नहीं है, यह बाईबिल आदि जैसे अन्य धार्मिक ग्रन्थों के लिये भी है। यूरोपीय देशों में प्राचीन काल की कृतियों का पाठसम्पादन करने के लिए बहुत चर्चाएँ हुई हैं और हमारे वहाँ विदेशी-शासन करीब दो सौ वर्ष रहा था, इसके कारण इन चर्चाओं का प्रभाव भी हमारे वहाँ होना अवश्यम्भावी था।

प्रशिष्ट साहित्य की कृतियों की पाठालोचना और पाठसम्पादन में यूरोपीय विद्वानों ने जो मार्ग प्रशस्त किया था, उसी मार्ग पर चल कर हमारे देश के विद्वानों ने 'महाभारत' तथा 'रामायण' जैसे अतिप्राचीन काल के दो आर्ष महाकाव्यों (epics) का समीक्षित पाठसम्पादन (critical text-editing) किया है। समीक्षित पाठसम्पादन के निदर्श रूप ये दो महनीय कार्य आज तक हमारे लिये पथदर्शक रहे

हैं। लेकिन भारत के प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य की वैविध्यपूर्ण व्यापकता इतनी बड़ी है कि पाठसम्पादन की इस पद्धति का सर्वत्र एकसमान अनुगमन करना युक्तियुक्त नहीं लगता, लेकिन यह पद्धति केवल विदेशी होने के कारण ही त्याज्य है-ऐसा भी कहने का आशय नहीं है; क्योंकि जो भी पद्धति हो वह यदि तर्कनिष्ठ (युक्तिसंगत) हो तो अवश्य ग्राह्य बन सकती है, लेकिन यूरोपीय पाठसम्पादन के इन विभिन्न सिद्धान्तों का भारतीय सन्दर्भ में कहाँ, कैसे विनियोग किया जाना चाहिये-इसका एक पुनःपरामर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

सबसे प्रथम, प्राचीन भारतीय कृतियों के पाठ (Text) कितने प्रकार के हैं? उसके पाठसंचरण का क्या इतिहास रहा है ? इन सबका यथासम्भव विश्वतोमुखी विचार करना होगा; क्योंकि हमारे वहाँ साहित्यभेद से पाठ के स्वरूप का भेद है। पाठ-स्वरूप में भेद होने के साथ-साथ पाठ-कर्तृता का भेद भी ध्यानास्पद है और उसके साथ पाठसंचरण की विभिन्न विधाओं ने भी पाठविकृति की भिन्न-भिन्न समस्याओं को जन्म दिया है। इन सब बिन्दुओं के साथ, पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित हुए पाठ के अभिसाक्ष्यों (witness) की संख्या के भेद से भी उनकी पाठसम्पादन-विधा में भेद करना अनिवार्य हो गया है।

(1)

डॉ. एस.एम. कत्रेजी ने पाठ के तीन प्रकार बताये हैं। (1) मूलग्रन्थकार का स्वहस्तलेख, (2) स्वहस्तलेख की तुरन्त की प्रतिलिपि या (3) प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की....प्रतिलिपि की प्रतिलिपि.... और उसकी भी प्रतिलिपि। परन्तु इसको हम पाठ के प्रकार नहीं कहेंगे, यह तो उपलब्ध पाठों के अभिसाक्ष्यों (witness) के भेद हैं। वस्तुतः भारतीय सन्दर्भ में सोचा जाय तो हमारे वहाँ पाँच प्रकार के संचरित-पाठ विद्यमान हैं। जैसा कि -

1- दृष्टसाहित्य

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, ऋषि-मुनियों को वेद-मन्त्रों का दर्शन हुआ था। अर्थात् भारत में एक ऐसा साहित्य है कि जिसका कोई

कर्ता नहीं है और इसीलिये जिसका कोई स्वहस्तलेख भी कदापि नहीं था; क्योंकि वेद-साहित्य अकर्तृक रचना है। (वेदसाहित्य में मन्त्रसंहिताओं को छोड़कर जो उपनिषद् हैं, उसका पाठ विवादग्रस्त है।)

2 - उत्कीर्णसाहित्य

सम्राट् अशोक (ईसा पूर्व 283) से आरम्भ करके 18वीं शती पर्यन्त के शैललेख, शिलालेख, स्तम्भलेख और ताम्रलेख पर (ब्राह्मीलिपि या देवनागरी आदि लिपि में उत्कीर्ण) जो पाठ पढ़ने को मिलता है-उन सभी की पाठालोचना करके उनका समुचित पाठसम्पादन करना आवश्यक है; क्योंकि ऐसे उत्कीर्ण पाठों में भी कालान्तर में पैदा हुई अनेक विकृतियाँ दिखायी दे रही हैं। पर्वत या चट्टानों पर उत्कीर्ण किये गये इन लेखों के पाठ स्वहस्तलेख की तुरन्त की प्रतिलिपि कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे उत्कीर्ण लेखों का पाठ-संचरण नियन्त्रित रूप से होता रहा है-यह सर्वस्वीकार्य हकीकत है।

3 - प्रोक्तसाहित्य

रामायण, महाभारत एवं अष्टादश पुराणों का पाठ प्रोक्तसाहित्य के नाम से जानना चाहिये, क्योंकि इन कृतियों का पाठ आदिकाल से ही कथा-कीर्तन के अर्थात् प्रवचन के माध्यम से प्रवाहित होता रहा है। ऐसी कृति के प्रत्येक पारायण के दौरान अनेक कथाकारों के द्वारा उसमें बहुविध परिवर्तन एवं प्रक्षेपादि भी होते रहे हैं। परिणामस्वरूप उसमें मूल पाठ यथावत् रहा ही नहीं है। ऐसा पाठ 'अनेककर्तृकपाठ' कहा जाता है।

4 - कृतसाहित्य

कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति आदि कवियों, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, शंकराचार्च आदि शास्त्रकारों तथा उनके अनेक टीकाकारों के द्वारा जो काव्य, नाटक, शास्त्रादि का प्रणयन हुआ है, उसको 'कृत-साहित्य' कहना चाहिये। ऐसी कृतियों की पुष्पिका में लिखा होता है कि "**इति कालिदासकृतं**

अभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकं समाप्तम्''। यहाँ पर कोई एक ही निश्चित कर्ता होता है। इसलिये ये कृतसाहित्य के पाठ को हम 'एककर्तृक रचना' कहेंगे।

यहाँ पर प्रोक्त एवं कृतसाहित्य का पाठ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में ही बहुशः संचरित हुआ है और सुरक्षित रहा है। लेखकों (लिपिकारों) के द्वारा बार-बार उसका (देश की विभिन्न लिपियों में) प्रतिलिपिकरण होने के कारण (तथा मूल कवि या शास्त्रकार के दिवंगत हो जाने के कारण) इसके पाठ की मौलिकता की सुरक्षा नहीं हुई है। अतः ऐसे पाठों का संचरण अनियन्त्रित रूप से हुआ है। (मध्यकालीन संतसाहित्य के रचयिता तुलसी, कबीर, मीराबाई, नरसिंह मेहता, तुकाराम, ज्ञानेश्वरादि के पदों का पाठ भी अनियन्त्रित रूप से, पाण्डुलिपियों में एवं मौखिक रूप में संचरित होता रहा है।)

5 - श्रुतसाहित्य

भगवान् बुद्ध एवं महावीर ने जो भी धर्मोपदेश दिया था, वह आम प्रजा के बीच में जाकर दिया था। उन्होंने कभी भी अपने धर्मोपदेश को हाथ से लिखा नहीं था। बुद्ध तथा महावीर के प्रत्यक्ष शिष्यों ने उसे सुनकर स्मृतिस्थ रखा था और पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित किया है। अतः बुद्ध एवं महावीर की वाणी को 'श्रुतसाहित्य' कहेंगे लेकिन इस साहित्य का पाठ संचरण उभयात्मक था, क्योंकि बुद्ध परिनिर्वाण के बाद बौद्ध साधुओं ने तीन-चार 'संगीतियों' में एकत्रित होकर अपने-अपने स्मृतिस्थ बुद्धवचनों की परीक्षा कर ली थी। अशोक ने तो जिन बौद्धसाधुओं को बुद्धवाणी सही रूप में याद नहीं थी, उन सबको संघ से बाहर निकाल दिये थे। महावीर के परिनिर्वाण के बाद जैन साधुभगवन्तों ने भी ऐसे सम्मेलन बुलाये थे और अपने-अपने स्मृतिस्थ ज्ञान की परीक्षा कर ली थी। अर्थात् इन दोनों परम्पराओं में कुछ शताब्दियों तक तो श्रुतज्ञान नियन्त्रित रूप से संचरित हुआ था। परन्तु बाद में यह परम्परा अक्षुण्ण नहीं रही और बुद्ध एवं महावीर के वचनों को भी लिपिबद्ध (ग्रन्थस्थ) कर लिया गया। अतः उसकी भी प्रतिलिपियाँ बनना शुरू हुआ, परिणामस्वरूप उसमें भी पाठविचलन होना शुरू हो गया।

इस तरह से भारतीय सन्दर्भ में देखा जाय तो 1 - दृष्टसाहित्य, 2 - उत्कीर्णसाहित्य, 3 - प्रोक्तसाहित्य, 4 - कृतसाहित्य तथा 5 - श्रुतसाहित्य-ऐसे पाँच प्रकार के पाठ (Text) हमारे सामने विद्यमान हैं। इन पाँचों तरह के साहित्य का पाठ अलग-अलग रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी (तथा नियन्त्रित-अनियन्त्रित रूप से) संचरित होता रहा है। अब ध्यातव्य है कि पाठसंचरण का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने के कारण इन में प्रविष्ट होनेवाली अशुद्धियों-विकृतियों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है और अतिप्राचीन काल की पाण्डुलिपियाँ भी मिलती ही नहीं हैं। आज उपलब्ध होनेवाली पाण्डुलिपियों का समय भी तीन सौ या चार सौ साल से अधिक पुराना नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में अर्थात् समस्याभेद के सन्दर्भ में पाठसम्पादन के उपायभेद सोचने चाहिये।

(2)

प्रशिष्ट भारतीय (संस्कृत-पालि-प्राकृत) भाषाओं में विद्यमान विपुल साहित्य का पाठ, जो अद्यावधि पाण्डुलिपियों में प्रवहमान हुआ है और इसलिये वह अपने मूल रूप से विचलित भी हो गया है। इसका 'समीक्षित पाठसम्पादन' (critical text-editing) किस तरह से अधिक फलदायी हो ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। पश्चिमी देशों में जो विचारधाराएँ विकसित हुई हैं उनमें से प्रशिष्ट कृतियों के पाठसम्पादन के लिये तीन मार्ग उद्भावित किये गये हैं -

(क) प्रतिलेखन पद्धति से पाठसम्पादन (Copy text-editing)

(ख) संदोहन पद्धति से पाठसम्पादन (Eclectic text-editing)

(ग) वंशवृक्ष पद्धति से पाठसम्पादन (Stemmatic text-editing)

(क) प्रतिलेखन पद्धति से पाठसम्पादन (Copy text-editing)

किसी भी कृति का 'पाठ' 1- केवल एक ही पाण्डुलिपि में उपलब्ध होता हो, या 2- कोई लेख शिला, पर्वत, स्तम्भ या ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण हो, अथवा 3- कोई ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख कहीं से उपलब्ध होता हो तो उपर्युक्त प्रथम

प्रकार का ''प्रतिलेखन पद्धति से पाठसम्पादन'' करना चाहिये। यहाँ पर 'पाठ' के जो अवाच्यांश या त्रुटितांश होते हैं, उसका पाठ कैसे पुनः प्रतिष्ठित किया जाय ? यह चर्चा का विषय होता है। जो रूढ़िवादी पाठसम्पादक होते हैं, वे उपलब्ध पाठ के त्रुटितांश को (....) बिन्दुओं की लकीर से यथावत् रखने के पक्ष में होते हैं। दूसरे जो उदारतावादी पाठ सम्पादक होते हैं, वे असम्बद्ध या दुर्बोध या त्रुटित पाठ्यांश को असह्य मानते हैं। अतः वे 'पूर्वापर सन्दर्भ में जो अनुकूल प्रतीत हो ऐसे नवीन शब्दों से पाठ का पुनर्गठन कर लेना चाहिये' ऐसा सुझाव देते हैं। अर्थात् उदारतावादी पाठसम्पादक पाठसुधार को तथा पाठ के पुनर्गठन को पहले महत्त्व देते हैं। उसके विरुद्ध जो रूढ़ीवादी पाठसम्पादक होते हैं वे परम्परागत पाठ को यथावत् रखकर ''**स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया**'' के सिद्धान्त पर उपलब्ध असम्बद्ध पाठ्यांश के अर्थघटन को पहले महत्त्व देते हैं। नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका का पाठ सम्पादित करते समय श्रद्धेय आचार्य श्रीविश्वेश्वरजी ने त्रुटित पाठों के पुनर्गठन को प्राधान्य दिया है और स्वकल्पित नवीन शब्दों का उपनिवेश करके वाक्यपूर्ति की है और प्रकरणसंगति बिठायी है। यह उदारतावादी पाठ-सम्पादन है। यहाँ पर ध्यातव्य बिन्दु यह है कि 'प्रतिलेखन पद्धति' (Copy text-editing) के पाठसम्पादन में केवल एक ही पाण्डुलिपि में सुरक्षित रहे पाठ का सम्पादन करने की बात का समावेश होता है।

(3)

कदाचित् ऐसा भी होता है कि किसी कृति की शताधिक पाण्डुलिपियाँ विद्यमान होते हुए भी कोई सम्पादक केवल एक ही पाण्डुलिपि (जो सरलता से, अनायास मिल गयी हो उस) के आधार पर उसे पढ़कर प्रतिलेखन के तोर पर उसका प्रकाशन कर देता है तो वह भी 'प्रतिलेखन पद्धति' (Copy text-editing) प्रकार का पाठसम्पादन कहा जायेगा। आलस्य के कारण या प्रसिद्धि के मोह में उपलब्ध अन्य पाण्डुलिपियों को देखे बिना, जब कोई पाठसम्पादन कर देता है तो उसे अनालोचनात्मक पाठसम्पादन कहा जायेगा। सारांशतः उपलब्ध अनेक

पाण्डुलिपियों को देखे बिना केवल एक ही पाण्डुलिपि के आधार पर जो सम्पादन किया जाता है उसको 'अनालोचनात्मक पाठसम्पादन' (Uncritical text-editing) के नाम का कलंक लग जाता है। दूसरे सम्पादक लोग इस कलंक से बचने के लिये केवल एक प्राचीनतम पाण्डुलिपि (Oldest manuscript school) को आधार बनाकर पाठसम्पादन करते हैं, या उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों में से जो एक 'उत्तम पाण्डुलिपि' (Best manuscript school) होती है उसको (अथवा किसी के द्वारा प्राचीन काल में ही परीक्षित हो ऐसी पाण्डुलिपि को) आधार बनाकर पाठसम्पादन करते हैं। इस दृष्टि से जो पाठसम्पादन किया जाता है उसमें वस्तुलक्षिता (Objectivity) जरूर है। लेकिन पाठ की सच्चाई का प्रमाण केवल प्राचीनता या उत्तमता नहीं होती है। 'उत्तम' या 'प्राचीनतम' पाण्डुलिपि के आधार पर पाठसम्पादन करने का यह उपक्रम तभी मान्य हो सकता है कि जब उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों में केवल 'अनुलेखनीय सम्भावना' वाली ही अशुद्धियाँ हों।

अतः शताधिक पाण्डुलिपियाँ मिलने पर भी केवल उत्तमता या प्राचीनतमता के आधार पर प्रतिलेखन पद्धति से पाठसम्पादन करने में दोष भी हैं और उसमें मर्यादा भी है यह बात देखकर, दूसरे प्रकार का पाठसम्पादन सोचा गया है।

(ख) संदोहन पद्धति से पाठसम्पादन (Eclectic text-editing)

पाठसम्पादन के क्षेत्र में एक दूसरा दृष्टिकोण भी विचारणीय है। न प्राचीनतम और न उत्तम पाण्डुलिपि की शरण लेना; क्योंकि यह मार्ग तो जब (उपलब्ध होने वाली अनेक पाण्डुलिपियों में) केवल 'अनुलेखनीय सम्भावना' वाली ही अशुद्धियाँ हो तब औचित्य रखता है, लेकिन जब (1) उपलब्ध शताधिक पाण्डुलिपियों में सार्थक पाठान्तर होते हैं तब पाठसम्पादन की एक 'सन्दोहन पद्धति' अधिक औचित्यपूर्ण लगती है। इस पद्धति में जो पाठ बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों (Majority of Manuscrupts) में है – ऐसा देखा जाता है, उस पाठ का चयन किया जाता है और जो-जो पाठ्यांश अल्पसंख्यक पाण्डुलिपियों में ही संचरित हुआ दिखाई देता हो, उसको अस्वीकार्य माना जाता है। इस दृष्टि से जो

पाठसम्पादन किया जाता है उसमें जरूर वस्तुलक्षिता (Objectivity) है - ऐसा कहना पड़ेगा । लेकिन यहाँ पर बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में मिलने वाला पाठ 'अर्वाचीन काल का है या प्राचीन काल का है ?' यह हम किसी भी तरह से नहीं जान सकेंगे । (2) इस संदोहन पद्धति के पाठसम्पादन में कभी-कभी पाण्डुलिपियों की संख्या को नहीं, परन्तु जहाँ-जहाँ से गुणवत्ता से भरे पाठान्तर मिलते हों उनका चयन किया जा सकता हैं । यहाँ तरह-तरह के सार्थक पाठान्तरों में से जो-जो पाठान्तर अत्यन्त काव्यत्वपूर्ण या चमत्कृतिपूर्ण अर्थ देने वाला हो और कवि या ग्रन्थकार की शैली के अनुरूप हो, ऐसे पाठान्तरों का चयन करके भी पाठसम्पादन किया जा सकता है। इसको भी 'संदोहन पद्धति' से (Eclectic text-editing) किया हुआ पाठसम्पादन कहा जाता है।

परन्तु गुणवत्ता के आधार पर जो पाठ का चयन होता है उसमें सम्पादक की रुचि-अरुचि भी प्रतिबिम्बित होती है। अर्थात् ऐसा पाठसम्पादन आत्मलक्षिता (Subjectivity) से भरा होगा। ऐसा पाठसम्पादन कभी भी सर्वसंमत नहीं बनता है। एवमेव, एक दूसरी मर्यादा यह भी रहती है कि प्रस्तुत कृति की कितनी पाठ-परम्पराएँ (वाचनाएँ recensions) प्रवर्तमान हैं या कौन-सी पाठ-परम्परा प्राचीनतर है या प्राचीनतम है ? - यह भी हम नहीं जान सकते हैं।

★ ★ ★ ★
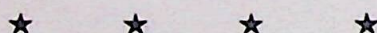
नीलकण्ठ ने जब महाभारत पर 'भारतभावदीप' नामक टीका लिखी है, तब देश के विभिन्न प्रान्तों से अनेकानेक पाण्डुलिपियाँ एकत्र की गयी थीं और उनमें से जहाँ जो भी उत्तम (अग्रगण्य) पाठान्तर मिले, उनका चयन करके (एक तरह से गुणोपसंहारन्याय से पहले पाठसम्पादन करके बाद में) उस पर टीका लिखी गयी थी। ऐसे संदोहन पद्धति वाले (Eclectic text-editing) पाठसम्पादन में भी पाठान्तरों की गुणवत्ता पर ध्यान दिया जाता है। परन्तु उपलब्ध पाण्डुलिपियों में भी प्राचीनतर या प्राचीनतम पाठ्यांश के शोध की ओर ध्यान नहीं होता है। सच बात तो यही है कि जिस कृति का पाठ शताब्दियों से संचरित होता रहा है, उसकी

पाठपरम्पराएँ कितने प्रकार की हैं तथा प्राचीनतर पाठ्यांश कौन-सा है ? यह 'इदं प्रथमतया' गवेषणीय होता है।

'कृत-साहित्य' की किसी भी कृति का पाठ यदि सन्दोहन पद्धति से सम्पादित किया जायेगा तो उसमें निश्चित ही आत्मलक्षिता प्रविष्ट होती है और इसी कारण से ऐसा पाठसम्पादन सर्वस्वीकार्य भी नहीं बनता है। इसी तरह से 'श्रुत-साहित्य' का पाठ भी यदि सन्दोहन पद्धति से सम्पादित किया जाएगा, तो वहाँ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेशबुद्धि कार्यरत होगी तथा प्राचीनतर या प्राचीनतम पाठपरम्पराओं का भी ज्ञान कदापि नहीं होगा। संक्षेप में कहें तो यह दूसरी ''संदोहन'' पद्धतिवाले पाठसम्पादन में अनेक भयस्थान दिखाई दे रहे हैं।

(3)

(ग) वंशवृक्ष पद्धति से पाठसम्पादन (Stemmatic text-editing)

यूरोपीय देशों में प्रशिष्ट कृतियों के पाठसम्पादन के लिये जो विभिन्न विधाएँ विकसित हुई हैं, उनमें एक तीसरा प्रकार है - वंशवृक्ष पद्धति से पाठसम्पादन (Stemmatic text-editing)। यह पद्धति सारे संसार में बहुत प्रचलित हुई है। इस पद्धति में (1) अनुसन्धान (Heuristics), (2) संशोधन (Recensio), (3) पाठसुधार एवं संस्करण (Emendation), (4) उच्चतर समीक्षा (Higher criticism) - जैसे चतुर्विध सोपान होते हैं। यहाँ पहले सोपान पर विविध भण्डारों से उपलब्ध पाण्डुलिपि का पाठ (=अशुद्धियाँ तथा पाठान्तरादि) सन्तुलन पत्रिकाओं (Collation-sheets) में अंकित किया जाता है तथा उनके आधार पर पाठान्तरों की तुलना करके उपलब्ध पाण्डुलिपियों के पारस्परिक आनुवंशिक सम्बन्ध ढूँढे जाते हैं। अर्थात् पाण्डुलिपियों का एक तरह का वंशवृक्ष (Genealogical tree/pedigree/stemma codicum) सोचा जाता है। तदनन्तर पाठ्यग्रन्थ की कितनी वाचनाएँ (पाठपरम्पराएँ) प्रवर्तमान हैं ? - यह निश्चित किया जाता है और अन्त में विभिन्न वाचनाओं में से कौन-सी वाचना में प्रचीनतर या प्राचीनतम पाठ्यांश (आर्ष या लघुपाठ के रूप में) संचरित हुआ है ? यह तय किया जाता है। ऐसे प्राचीनतम पाठ

को अधिक श्रद्धेय मानकर, उसके आधार पर पाठसम्पादन किया जाता है तथा अस्वीकार्य पाठान्तर पादटिप्पणी में निर्दिष्ट भी किये जाते हैं और प्रस्तावना में पसन्द की गई पाण्डुलिपियों का विवरण दिया जाता है। अमान्य किये गये प्रक्षिप्तांश परिशिष्टों में रखे जाते हैं। इस तरह से किये गये पाठसम्पादन को 'समीक्षित पाठसम्पादन' (Critically edited text) कहा जाता है।

यहाँ पर प्रथम तीन सोपान में जो कार्यविधि की जाती है उसे 'निम्न-स्तरीय पाठालोचन (Lower criticism) कहते हैं। तत्पश्चात् चतुर्थ सोपान के रूप में 'उच्चस्तरीय पाठालोचन' (Higher criticism) का कार्य करना होता है।

★ ★ ★ ★

संदोहन पद्धति वाले पाठसम्पादन की अपेक्षा से, यह तीसरे प्रकार का वंशवृक्ष पद्धति वाला पाठसम्पादन अधिक विश्वसनीय है; क्योंकि इस पद्धति से जो सम्पादन तैयार होता है, उसमें काफी हद तक वस्तुलक्षिता (Objectivity) बनी रहती है तथा अभीष्ट कृति की पाठपरम्पराओं के भेदोपभेद जानकर उसमें कौन-सा अंश प्राचीनतर या प्राचीनतम है ? यह भी निश्चित किया जाता है। जिसके कारण, इस तरह के पाठसम्पादन में तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी प्रविष्ट होते हैं। अतः एकाधिक पाण्डुलिपियों वाले 'प्रोक्त', 'कृत' तथा 'श्रुत' प्रकार की साहित्यकृति के लिये यह तीसरी वंशवृक्ष पद्धति वाला पाठसम्पादन अधिकतर सफल होने वाला दिखायी दे रहा है।

यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि दूसरी संदोहन-पद्धति कहाँ प्रयुक्त होगी या कहाँ पर उपयुक्त होगी ? इसका उत्तर है कि वंशवृक्ष पद्धति वाले पाठसम्पादन की जो लम्बी प्रक्रिया है, उसके अन्तर्गत (ही) हम इस संदोहन पद्धति का विनियोग कर सकते हैं। जैसा कि वंशवृक्ष पद्धति का अनुसरण करके जब 'प्रोक्त' प्रकार की किसी कृति की पाण्डुलिपियों का पहले पारस्परिक आनुवंशिक सम्बन्ध प्रस्थापित किया जाता है, तब 'प्राचीनतर' या 'बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों' के (बहुमान्य) पाठ का संदोहन ही किया जाता है। तथा जो-जो पाठभेद प्राचीनतर नहीं है या बहुमान्यपाठ से विरुद्ध हैं उन्हें अस्वीकार्य पाठ के रूप में पादटिप्पणी में रखा जाता है।

'प्रोक्त' प्रकार की साहित्यिक कृति में एक बात शुरू से ही साफ रहती है कि जो प्रोक्तसाहित्य है वह अनेककर्तृक होता है। अर्थात् वहाँ पर मूलभूत रूप से ही एक निश्चित पाठ कदापि नहीं होता है। अतः निम्नस्तरीय पाठालोचन के दायरे में प्रोक्तग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में से बहुमान्य या प्राचीनतर पाठ का संदोहन ही करना होता है। पाठसम्पादन का इतना कार्य हो जाने के बाद जब उच्चस्तरीय पाठालोचना शुरू की जाती है तब कौन से ऐतिहासिक घटनाचक्र के कारण कृति का अमुक पाठ्यांश बदला गया है इत्यादि सोचा जाता है तथा विभिन्न कालखण्ड में (विभिन्न कर्ताओं के द्वारा) जो-जो पाठ्यांश का प्रक्षेप या परिवर्तनादि हुआ होगा- ऐसा दिखाई देता है, उसका समय निर्धारित किया जाता है।

★ ★ ★ ★

'कृत' प्रकार के एककर्तृक साहित्य में वंशवृक्ष-पद्धति से पहले कृति का पाठ कितने प्रवाहों में विभक्त होता है - यह देख लिया जाता है। यहाँ पर भी प्राचीन से प्राचीनतर पाठ्यांश कौन हो सकता है तथा प्राचीनतर से भी प्राचीनतम पाठ्यांश कौन हो सकता है - यह ढूँढने का प्रयास किया जाता है। तथा पि इस 'कृत' प्रकार के साहित्य में जहाँ कोई एक ही कर्ता/कवि निश्चित होता है उसमें हमारा लक्ष्य कोई एक ही निश्चित पाठ निर्धारित करने का रखना चाहिये। अतः वंशवृक्ष-पद्धति के द्वारा पाण्डुलिपियों में जो द्विविध पाठ परम्पराएँ दिखाई देती हैं, उन दोनों की सम्मति लेकर या 'उच्चस्तरीय पाठालोचन' का कोई तर्क या समर्थन प्रस्तुत करके कोई एक ही पाठ निर्धारित करना चाहिए।

'श्रुत' प्रकार के साहित्य की कृति का पाठ-सम्पादन करने के लिए भी वंशवृक्ष पद्धति की चलनी से यदि उपलब्ध पाठान्तरों को छाँटा जायेगा तो प्राचीन से प्राचीनतर और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। तदनन्तर ही बुद्धवाणी एवं महावीरवाणी के पाठ का पुनर्गठन (Reconstruction) करना होगा। यहाँ पर पाठसम्पादन के साथ-साथ पाठ का पुनर्गठन भी लक्ष्य रूप में अवस्थित है। (जैन आगम-साहित्य के पाठसम्पादन में प्राकृतभाषा का मूल स्वरूप खोजना यही प्रथम कर्तव्य है। जैनागमों में प्रयुक्त शौरसैनी या महाराष्ट्री

प्राकृत को बदल कर, उसे अर्धमागधी में परिवर्तित करना चाहिए। क्योंकि भगवान् महावीर के श्रीमुख से निकली भाषा तो अर्धमागधी ही थी ! अस्तु ॥)

भारत का प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य विपुल होने के साथ-साथ बहुविध भी है। इन्हीं में भारतीय अस्मिता छिपी है। अतः वह हमारी विरासत भी है। उसकी सुरक्षा में हमारा भविष्य है। इसलिये पाण्डुलिपियों की सुरक्षा करना हमारा एक कर्तव्य भी है। तथैव इन पाण्डुलिपियों में निहित ज्ञान-सम्पदा का हमें पूरा लाभ उठाना चाहिये, लेकिन उसके लिये इनमें जो पाठ शताब्दियों से संचरित होकर हम तक पहुँचा है उसका सम्यक् रूप से सम्पादन करना जरूरी है।

प्रस्तुत आलेख में समीक्षित पाठसम्पादन के त्रिविध मार्ग की चर्चा करके भारतीय सन्दर्भ में इनकी उपयुक्तता बताने का प्रयास किया गया है। अभी तक इस दिशा में जो पुस्तक या शोध-आलेख देखने को मिले हैं उसमें यूरोपीय देशों के सिद्धान्तों का शुकपाठ होता रहा है, परन्तु भारतीय सन्दर्भ को शायद किसी ने आंशिक रूप से भी ध्यान में नहीं लिया है। अतः यहाँ पर संस्कृत-पालि-प्राकृत भाषा की विभिन्न कृतियों की पञ्चविध पाठ तथा पाठसंचरण की बहुविधता, पाठ के कर्तृत्व की अनेकरूपता इत्यादि का प्रथम बार निरूपण किया गया है तथा किस तरह के साहित्य के लिये कौन सी पाठसम्पादन-पद्धति तर्कशुद्ध एवं अधिक फलदायी होगी इसकी उपस्थापना की गयी है।

=o=

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Now texts may be either autographs, or immediate copies of autographs, or copies of copies, and this in any degree. - Chapter 2; Kinds of Texts, Introduction to Indian Textual Criticism, Pune, 1954, S.M. Katre, (p.19).
2. बहून् समाहृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान्, विनिश्चित्य तु पाठमग्र्यम्।
प्राचां गुरूणाम् अनुसृत्य वाचमारभ्यते भारतभावदीपः ॥ (महाभारतम्, आदिपर्व 1-1)

[2]

अभिज्ञानशाकुन्तल के देवनागरी पाठ में संक्षेपीकरण के पदचिह्न

(शारदा पाण्डुलिपियों के विशेष सन्दर्भ में)

0-1 भूमिका : विश्वनाट्यसाहित्य में महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल का नाम अपरिहार्य एवं अग्रगण्य है इस अभिमत में कोई विवाद नहीं है । लेकिन पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ उसका पाठ सर्वांश में 'कवि-प्रणीत' ही है ऐसा कहना विवाद से परे नहीं है, क्योंकि पाण्डुलिपियों में मिल रहा इस नाटक का पाठ एकरूप नहीं है, अनेकरूप है । जिसका प्रमुख कारण यही है कि दो हजार वर्षों की सुदीर्घ कालावधि में इस नाटक का मूलपाठ बार बार के प्रतिलिपिकरण, लिप्यन्तरण एवं मंचन के आवर्तनों से गुजरता हुआ हम तक पहुँचा है । परिणामतः वह अपने मूल रूप से काफी हद तक विचलित हो गया है । आज उपलब्ध होनेवाली पाण्डुलिपियों में मिल रहे विविध पाठान्तरों का अवलोकन करके विद्वानों ने देखा है कि इस नाटक का एक लघु पाठ चल रहा है, और दूसरा बृहत्पाठ भी है । इनमें से लघुपाठ तो विशेष रूप से लोकप्रिय भी है, और वही सुप्रचलित भी है । मैथिली एवं बंगाली वाचना में इस नाटक का शीर्षक 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' है । मतलब कि जिसमें अभिज्ञान से संस्मृता, अथवा ज्ञाता शकुन्तला केन्द्र में है, ऐसी नाट्यकृति । तथा काश्मीरी वाचना में इसका शीर्षक 'अभिज्ञानशकुन्तला' है। (जिसमें अभिज्ञानपूर्विका शकुन्तला प्रस्तुत होती है – ऐसा नाटक ।) इस बृहत्पाठ परम्परा में तीन वाचनायें निर्धारित की गई हैं । जैसे कि – 1. काश्मीरी वाचना, 2. मैथिली वाचना और 3. बंगाली वाचना । इसके प्रतिपक्ष में दूसरी लघुपाठ परम्परा है, जिसमें इस नाटक का शीर्षक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' है। इसका अर्थ होता है कि जिसमें अभिज्ञान से संस्मृत शकुन्तला और शाकुन्तल

(अर्थात् शाकुन्तलेय केन्द्र में है ऐसी नाट्यकृति । इस पाठपरम्परा में दो वाचनायें निर्धारित की गई हैं) जैसे कि - 4. संमिश्रित एवं संक्षिप्त देवनागरी वाचना, तथा 5. दाक्षिणात्य वाचना ।

देश-विदेश की बहुत सारी पाण्डुलिपियों को एकत्र करके जब इन सब की निम्नतर पाठालोचना की गई तब मालूम हुआ है कि इस देश के कम से कम पाँच प्रदेशों में जो पाठ प्रवाहित हुआ है वह बहुत स्थानों में परस्पर से भिन्न है। जिसको उपर्युक्त पञ्चविध वाचनाओं के नाम से पृथक्कृत किया गया है । लेकिन इस तरह की प्राथमिक पाठालोचना से ज्ञात हुई विभिन्न वाचनाओं की पहचान मात्र से पाठालोचना का कार्य संपूर्ण हो गया है ऐसा हम नहीं मान सकते हैं। क्योंकि एक ही कृति की पञ्चविध वाचनाओं का प्रचलन होना अपने आप में इस बात का प्रमाण बनता है कि मूलभूत रूप से जो कृति एक ही नाट्यकार की रचना है, अर्थात् जो 'एककर्तृक रचना' है उसके एकाधिक प्रचलित स्वरूपों में से कोई एक अधिकृत पाठ (जो सम्भवतः महाकवि कालिदास ने ही लिखा हो ऐसा) निश्चित करने का कार्य अभी तक हुआ ही नहीं है। लोकप्रियता और अधिकतया प्रचारित होने के मानदण्ड से देखेंगे तो आम तौर पर देवनागरी वाचना का लघुपाठ ही साहित्यरसिकों के हाथों में विराजमान है। पुराने जमाने के टीकाकारों ने भी लघुपाठ पर ही सब से अधिक टीकायें लिखी हैं । लघुपाठ की तुलना में बृहत्पाठ बहुशः अनजान या अप्रचलित ही रहा है, क्योंकि विद्वानों ने उसे 'प्रक्षेपों से भरा पाठ' कह कर उपेक्षित किया है । संस्कृत साहित्य के चूडामणिभूत इस नाटक की पाँच वाचनायें देख कर वहीं पर हम विरत नहीं हो सकते। क्योंकि जब तक कालिदासीय पाठ का सही स्वरूप हमारे सामने उजागर नहीं होगा तब तक हम सब 'अनवाप्तचक्षुःफल' ही रहेंगे । अतः पाठालोचना के अन्तिम, चतुर्थ चरण पर इन वाचनाओं के पाठ की उच्चस्तरीय समीक्षा करने का कार्य करना ही चाहिए। इस दिशा में प्रवृत्त होने के लिए जो पूर्वभूमिका रूप कार्य है वह यह है कि - मूलभूत रूप से कवि ने अपने हाथ से पहले बृहत्पाठ लिखा होगा या पहले लघुपाठ लिखा होगा ? इस प्रश्न का निर्णय किया जाय। यद्यपि इन दोनों में किसी एक में सर्वांश

में मौलिकता सुरक्षित रही होगी, ऐसी अवधारणा भी हम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इस नाटक का मूल पाठ तो अनेकबार के प्रतिलिपिकरणों की लम्बी परम्परा में एवं मंचन की भी सुदीर्घ परम्परा के दौरान निरन्तर बदलता ही रहा होगा। अतः तिर्यक् दृष्टि से इस प्रश्न की समीक्षा करनी चाहिए। (क) सबसे पहले लघुपाठ की परीक्षा करके उसमें अखण्डता है या नहीं वह निश्चित करना चाहिए। लघुपाठ यदि संक्षिप्त किया गया है ऐसा सिद्ध होता है, तो फिर (ख) बृहत्पाठ मौलिकता के नज़दीक है या नहीं ? उसकी परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् (ग) उस बृहत्पाठ में प्रदूषण प्रविष्ट है या नहीं उसकी भी समीक्षा करनी होगी। इन तीनों प्रश्नों का यदि सर्वमान्य समाधान हो सकता है तो (घ) उस बृहत्पाठ या लघुपाठ की 'उच्चतर समीक्षा' करके एक अधिकृत पाठ का निर्धारण करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

0-2 अब तक हुई पाठालोचना में प्राधान्येन बहुसंख्य समान-वंशज पाण्डुलिपियों के आधार पर विभिन्न प्रान्तों की अलग अलग वाचनाओं का निर्धारण हो पाया है। लेकिन इसके आगे का कार्य, जिसमें 'कवि-प्रणीत' प्रतीत होनेवाले एक अधिकृत पाठ का अनुमान/निश्चय करना अवशिष्ट ही है। इस सन्दर्भ में अद्यावधि हुई पाठालोचनाओं में भी जो कुछ विकलताएँ दिख रही हैं उससे भी अवगत होना सब से पहले आवश्यक है। जैसे कि -

(1) बंगाली Pischel, 1876, (Second edition-1922), मैथिली (रमानाथ, 1957) और देवनागरी (Patankar, 1902) वाचनाओं के पाठ की समीक्षीतावृत्ति (Critical Text-Edition) प्रकाशित हुई है। किन्तु दाक्षिणात्य वाचना के पाठ का आश्रयण करके काटयवेम ने कुमारगिरिराजीया नामक जो टीका लिखी है (रंगाचार्य, 1982) उसमें प्रसिद्ध हुए पाठ को हम दाक्षिणात्य पाठ मान कर चल सकते हैं। क्योंकि उपलब्ध टीकाओं में वही सब से पुरानी 15वीं शती की टीका है।

(2) काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन करने का प्रारम्भ डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने किया था, लेकिन जीवनसन्ध्या के समय पर स्वास्थ्य की प्रतिकूलताओं के कारण उस सम्पादन में बहुत कमियाँ रह गई हैं। उनके

देहावसान के बाद डॉ. वी. राघवन् जी ने साहित्य अकादमी, दिल्ली से उस सम्पादन का जो प्रकाशन (Belvalkar, 1965) किया है वह किसी काम का नहीं है। क्योंकि उसमें (क) कौन सी पाण्डुलिपि या पाण्डुलिपियों का विनियोग किया गया था, वह निर्दिष्ट नहीं है। (ख) उसमें एक भी पाठभेद का निर्देश नहीं है। (ग) डॉ. बेलवालकर जी ने उसकी प्रस्तावना नहीं लिखी है। (घ) ऑक्सफोर्ड से प्राप्त की गई दो शारदा लिपि में लिखित पाण्डुलिपियों में जो पाठ है उससे कुत्रचित् हटकर दूसरे तरह का पाठ बेलवालकर जी ने सम्पादित किया है। अर्थात् उनके द्वारा सम्पादित किये गये पाठ को हम पूर्ण रूप से शारदा-परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाला पाठ नहीं कह सकते हैं। (ङ) विदेशों में संगृहीत शारदा-लिपि में निबद्ध पाण्डुलिपियों को प्राप्त करके काश्मीरी पाठ का पुनः सम्पादन करने का कार्य भी किसी ने किया नहीं है।

(3) श्री पी. एन. पाटणकर जी ने 1902 में देवनागरी वाचना का शुद्धतर समीक्षित पाठसम्पादन प्रस्तुत करने का दावा किया है। लेकिन उन्होंने कृति का शीर्षक 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' ऐसा दिया है, जो वस्तुतः बृहत्पाठ परम्परा में स्वीकृत हुआ शीर्षक है। ऐसा होने का कारण यही है कि कार्ल बुरखड ने ब्युल्हर को प्राप्त हुई, शारदा-पाण्डुलिपि का रोमन स्क्रिप्ट में जो लिप्यन्तरण 1884 में जर्मनी से प्रकाशित किया था, वह प्रॉफे. भाण्डारकर जी ने श्री पाटणकर को भेजा था। श्रीपाटणकर ने उसी शारदा-पाठ को भी ध्यान में लेखर देवनागरी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए देवनागरी पाठ का निर्धारण किया था। अतः श्रीपाटणकर जी की 'शुद्धतर देवनागरी वाचना' की समीक्षितावृत्ति में भी कुत्रचित् काश्मीरी पाठान्तरों का प्रभाव प्रतिबिम्बित हो गया है॥

(4) अभी तक इस नाटक के जो भी समीक्षित पाठसम्पादन या स्थानीय संस्करण निकले हैं उसमें किसी ने भी पाण्डुलिपियों में संचरित होकर हम तक पहुँचे पाठ में रंगमंचीय पाठभेद (प्रक्षिप्त या संक्षिप्त किये गये पाठ) के स्वरूप पर शायद विचार ही नहीं किया है।

(5) डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने अभिज्ञानशकुन्तल के जो पुनर्गठित

'बंगाली' पाठ का प्रकाशन किया है, उसकी प्रस्तावना में यद्यपि अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में आये हुए अभिज्ञानशकुन्तल के उद्धरणों का अभ्यास करके दिखाया है कि ये सभी उद्धरण बृहत्पाठानुसारी ही है। जिससे यह फलित होता है कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के लघुपाठ की अपेक्षा से बृहत्पाठ निश्चित रूप से पुरोगामी है। किन्तु उन्होंने (क) पाँचों वाचनाओं में बिखरी हुई मौलिकता को ढूँढने का उपक्रम नहीं रखा है। केवल बंगाली पाठ को ही आद्य एवं मौलिक मान कर उसका मान्य-पाठ के रूप में ग्रहण करने का विचार पुरस्कृत किया है। तथा (ख) देवनागरी पाठ में कहाँ संक्षेपीकरण दिख रहा है, उसकी सप्रमाण चर्चा नहीं की है। एवमेव, (ग) ऑक्सफोर्ड की तीन शारदा पाण्डुलिपियों के पाठभेदों का पादटीप में प्रदर्शन जरूर किया है, लेकिन इस नाटक के पाठ का संक्रमण-क्रम और तदनुसारी उपलब्ध पाण्डुलिपियों के सम्भावित वंशवृक्ष की उन्होंने जो परिकल्पना की है वह विवादास्पद है। जिसका ऊहापोह अद्यावधि किसी ने किया भी नहीं है।

सर विलियम जोन्स ने ई. सन् 1780 में अभिज्ञानशकुन्तल का प्रथम आंग्ल अनुवाद प्रकाशित किया है तब से अद्यावधि (मतलब की दो सौ साल के अन्तराल में पाँच-छः विद्वानों से अधिक किसीने भी पद्धति-पुरस्सर की पाठालोचना नहीं की है। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् (पूना, 1919 के प्रथम अधिवेशन में प्राध्यापक श्रीबलवन्तराय ठाकोर (गुजरातीभाषा के संमान्य कवि ने The Text of Sakuntala शीर्षक से प्रस्तुत किये शोध-आलेख (1922) में इस नाटक का पाठ कैसे निर्धारित किया जाना चाहिए उसकी विचार-प्रेरक चर्चा ऊठाई थी। लेकिन वह चर्चा अरण्यरुदन के समान एकान्त में शान्त हो गई। उसके पश्चात् कतिपय विरल विद्वान् इस कार्य में लगे, जिसमें से सर्वप्रथम उल्लेखनीय श्रद्धेय डॉ. श्रीपाद कृष्ण बेलवालकर जी, जिन्होंने (1923, 1929, 1965) में अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ की उच्चतर समीक्षा की है, किन्तु कतिपय चुने हुए स्थानों की ही है।

पाठालोचना की इस तरह की विकलता को जानकर, उपलब्ध पञ्चविध वाचना का तौलनिक अभ्यास करना जरूरी है। ततः बृहत्पाठ या लघुपाठ में से जो

भी मौलिकता के नजदीक सिद्ध होता हो उसकी सर्वतोग्राही उच्चतर समीक्षा करने की कोशिश करनी चाहिए।

0-3 पहले यह निश्चित करना उपयुक्त होगा कि उपर्युक्त बृहत् एवं लघु पाठों में से कौन प्राचीनतर काल से प्रचलित हुआ दिख रहा है। इस प्रश्न का समाधान करने लिए इस नाटक की आज उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में से कौन सब से पुरानी है ?' यह देखने की अपेक्षा से बेहतर वही होगा कि इन पञ्चविध वाचनाओं के बहुविध पाठान्तरों में से कौन सा पाठ प्राचीनतर काल के आलंकारिकों के ग्रन्थों में उद्धृत हुआ है, वह देखा जाय। (इस सन्दर्भ में, उपलब्ध टीकाओं में कौन सा पाठ समादृत हुआ है वह परीक्षणीय नहीं है। क्योंकि 15वीं शती के काटयवेम से अधिक पुराना कोई टीकाकार मिलता नहीं है। तथा विद्यमान पाण्डुलिपियाँ भी बहुत पुराने काल की नहीं मिलती है। जब कि आलंकारिकों की परम्परा तो 7वीं शती के भामह या वामन से मिल रही है। निदर्श – (1) तृतीयांक के प्रवेशक के बाद रंगमंच पर राजा दुःष्यन्त का प्रवेश होता है। वहाँ काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में रंगसूचना देते हुए लिखा है कि *ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा।* मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में *ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा।* तथा, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में *ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा।* इन पाठान्तरों में से सब से पुराना पाठभेद कौन है उसका निश्चय एक बहिरंग प्रमाण से होता है : काश्मीर के आलंकारिक वामन ने (8वीं शती में) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में लिखा है कि – 'कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्।' (5-2-83) अर्थात् वामन के इस सूत्र से शारदा पाण्डुलिपियों में मिल रहे कामयान–अवस्था वाले पाठान्तर का ही समर्थन किया है। एवमेव, पण्डितप्रवर श्रीरेवाप्रसादजी ने कहा है कि स्वयं कालिदास ने रघुवंश (19-50) में कामयान शब्द का विनियोग किया है। निदर्श – (2) शारदा पाण्डुलिपियों में, *अस्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।* (अंक – 3-34) ऐसा जो पाठ मिलता है वही उद्धरण के रूप में आनन्दवर्धन (विश्वेश्वर, 1985) ने ध्वन्यालोक (16-3) में दिया है। (आनन्दवर्धन का समय 850 ई. है।) उसके प्रतिपक्ष में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में *अस्या : कथमप्युन्नमितं*

न चुम्बितं तत् । (अंक - 3-34) ऐसा प्राप्त हो रहा है । इससे सिद्ध होता है कि काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ जो पाठ है वही प्राचीनतम हो सकता है । डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी कुछ ऐसे ही अन्य बहिरंग प्रमाण दिये हैं, जिससे भी सिद्ध होता है कि लघुपाठ की अपेक्षा बृहत्पाठ ही पुरोगामी और प्राचीनतर पाठ है । निदर्श - (3) गणरत्नमहोदधि (2-70) में आये शाकुन्तल के उद्धरणों का पाठ, उदा. मणिबन्धन–गलितम् इदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः । हृदयस्य निगडमिव में मृणालवलयं स्थितं पुरतः ॥ (अ. शकु. 3-31) यह श्लोक बृहत्पाठानुसारी है । (यह श्लोक लघुपाठ परम्परा के शाकुन्तलों में कहीं पर भी नहीं है ।)

उपर्युक्त संदर्भों से बृहत्पाठ परम्परा प्राचीनतर है यह तो सिद्ध होता ही है, किन्तु इसके साथ–साथ यह भी दिखता है कि बृहत्पाठ का संचरण करनेवाली तीनों वाचनाओं में भी जो काश्मीरी वाचना है, और जिसका परम्परागत पाठ शारदा–पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है वही सब से प्राचीनतम है ॥

1-0-1 प्रस्तुत आलेख में, ऑक्सफोर्ड से प्राप्त की गई दो शारदा पाण्डुलिपियाँ, एवं उनके साथ में कार्ल बुरखाड के द्वारा रोमन लिपि में रूपान्तरित की हुई तीसरी शारदा पाण्डुलिपि का विनियोग करके, देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ है – ऐसा सिद्ध करनेवाले जो असंदिग्ध पदचिह्न दिख रहे हैं उनकी चर्चा करनी अभीष्ट है । इस चर्चा के अन्तर्गत (1) तृतीयांक में हुआ संक्षेप उद्घाटित करनेवाले पदचिह्न, जो सब से पहले डॉ. बेलवालकर जी ने दिखाये थे, उनकी चर्चा होगी । ततः (2) तृतीयांक के उपान्त्य श्लोक में विद्यमान एक प्रकट पदचिह्न की ओर ध्यान आकृष्ट किया जायेगा, जिससे इस अंक में हुए संक्षेप का साधक दूसरा प्रमाण मिल जाता है । एवमेव, (3) इस नाटक में साद्यन्त प्रयुक्त हुई एक निश्चित नाट्य–शैली का अन्तःसाक्ष्य के रूप में विनियोग करके बृहत्पाठ में संचरित हुए (लेकिन लघुपाठ में अनुपलब्ध ऐसे) दो दृश्यों की मौलिकता उजागर की जायेगी । तथा (4) वर्णनात्मक अंशो में जहाँ जहाँ पर श्लोकात्मक निरूपण है वहाँ कवि के द्वारा प्रयुक्त 'अपि च', एवं अथवा' जैसे निपातों का स्वारस्य

उद्घाटित करके, इस नाट्यकृति के वाचिक (पाठ्यांश) में मंचन के दौरान जो संक्षेप-प्रक्षेप की लीला खेली गई है वह प्रदर्शित की जायेगी ॥

1-0-2 अभिज्ञानशाकुन्तल के मौलिक पाठ सम्बन्धी दो पक्ष : (क) इस नाटक का लघुपाठ जिसमें चल रहा है वह देवनागरी वाचना का पाठ ही मौलिक पाठ हो सकता है। इस प्रथम मत के पक्षधर विद्वान् श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एवं श्री जीवानन्द विद्यासागर, प्रो. शारदारंजन राय, श्री पी. एन. पाटणकर एवं प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी आदि का विद्वत्समूह है। (ख) बृहत्पाठ परम्परा का पाठ मौलिक हो सकता है, इसमें भी बंगाली वाचना का पाठ ही मौलिकता के सब से अधिक नज़दीक है ऐसा कहनेवालों में डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल जैसे विरल विद्वान् हैं। यद्यपि डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने भी बृहत्पाठ परम्परा के पाठ को ही श्रद्धेय माना था। लेकिन सिल्वां लेवी के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने काश्मीरी पाण्डुलिपियों में से चयनित हो ऐसा नातिलघु एवं नातिदीर्घ समीक्षित पाठ प्रस्तुत करने का संकल्प किया था, उसका स्वप्न देखा था। किन्तु जीवनसन्ध्या की वेला में खराब स्वास्थ्य से वह कार्य अधूरा रह गया। परिणाम स्वरूप इस नाटक के एक सर्वसम्मत बन सके ऐसे अधिकृत पाठ का निर्णय नहीं हो पाया है। अब हमें महाकवि कालिदास के 'सन्तः विद्वांसः' 'परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।' (मालविकाग्निमित्रम्) इन शब्दों का स्मरण करते हुए, पुनः प्रयास करना जरूरी है। इस पूर्वपीठिका के साथ, ऑक्सफोर्ड से प्राप्त हुई तीन शारदा-पाण्डुलिपियों का सहारा लेकर देवनागरी वाचना के पाठ में जो संक्षेपीकरण के पदचिह्न मिल रहे हैं उसको पहले उजागर किया जा रहा है।

2-0 अभिज्ञानशाकुन्तल का सर्वाधिक विवादास्पद पाठ्यांश तृतीयांक में ही है। जिसके सन्दर्भ में ही 'लघुपाठ' और 'बृहत्पाठ' ऐसी यथार्थ संज्ञाएँ मुख्य रूप से प्रयुक्त की गई हैं। लघुपाठवाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयांक में 24 (या 26) श्लोकों का विस्तार है। और बृहत्पाठवाली वाचनाओं में 35 से लेकर 41 श्लोकों का विस्तार मिलता है। इस बृहत्पाठ परम्परा के तृतीयांक में न केवल श्लोक-संख्या ही अधिक है, लेकिन इन अधिक श्लोकों से जुड़े गद्य

संवादों के द्वारा सम्पन्न किये गये दो दृश्य भी अधिकतया निरूपित हैं। जैसे कि - 1. दुःषन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, और 2. शकुन्तला की पुष्परज से कलुषित हुई दृष्टि को वह अपने वदनमारुत से प्रमार्जित करता है। स्वाभाविक रूप के इस प्रेमसहचार के प्रसंगों में नायक-नायिका एक-दूसरे को 'जीवितेश्वरी' एवं 'आर्यपुत्र' शब्दों से सम्बोधित करते हैं। इन दो प्रसंगों को लेकर सीधा प्रश्न ऊठता है कि इनको हटाके लघुपाठ परम्परा में 24 श्लोकवाला पाठ्यांश बनाया होगा ? या फिर, पहले से जो लघुपाठ चला आ रहा होगा। उसमें इन दोनों प्रसंगों का प्रक्षेप किया गया होगा ? तो सब से पहले यह याद दिलाया जाता है कि आरम्भ में दिखाया है कि बृहत्पाठ ही 8वीं ले लेकर 12वीं शती तक के आलंकारिकों में प्रचलित रहा है। अतः बहिरंग प्रमाणों से जिस बृहत्पाठ का पुरोवर्तित्व सिद्ध होता है उसको हमें नहीं भूलना है। इस दिशा में अब ऐसे दो तर्क रखे जाते हैं कि जिससे (क) देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं में संक्षेपीकरण का उपक्रम किया गया है वह प्रकट रूप से दिख रहा है। इस बात को सिद्ध करनेवाले दो पदचिह्न दिखाने हैं। एवमेव, (ख) उपर्युक्त जिन दो दृश्यों को हटाके संक्षेप किया गया है उन हटाये गये दोनों प्रसंगों की मौलिकता भी सिद्ध करनेवाला कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण प्रस्तुत करना है।

2-1 डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने तृतीयांक में आयी हुई समयसूचक रंगसूचनाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। मृगपोतक को उनकी माँ से संयोजित करवाने का बहाना बनाकर दोनों सहेलियाँ रंगभूमि से बाहर चली जाती है। तब रंगभूमि पर केवल नायक-नायिका ही हैं, तब निम्नोक्त केवल छः वाक्यों की संवाद-शृंखला रखी गई है :-

राजा - सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवसः। इयञ्च ते शरीरावस्था,

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।

कथमातपे गमिष्यसि परिबाधाकोमलैर/पेलवैरंगैः॥ (बलादेनां निवर्तयति)

शकु. - पौरव रक्ष विनयम्, मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि!

राजा - भीरु, अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः ।

अपि च,

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥20॥

शकु. - मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।

राजा - भवतु, मोक्ष्यामि।

शकु. - कदा ।

राजा - अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि, गृह्यते रसोऽस्य ॥21॥

नेपथ्ये -चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व सहचरम्, उपस्थिता रजनी ॥

इसमें, दिवस अभी पूरा नहीं हुआ है और लताकुञ्ज से बहार आतप है - ऐसे मध्याह्न के समय का प्रकट निर्देश राजा ने पहले किया है। उसके बाद छोटे छोटे केवल छः गद्य वाक्यों का संवाद आता है, और तुरंत उसके पीछे नेपथ्योक्ति से कहा जाता है कि रात्रि का आगमन हो गया है, हे चकवी ! तुम अपने प्रियतम से बिदा ले लो ॥ इस तरह से मध्याह्न और रात्रि के बीच आयी ये छः उक्तियों का संवाद ही इस बात का द्योतक बनता है कि इन दो समयावधि के बीच में कोई दृश्यावली रही होगी, जिसको संक्षेप करने के आशय से हटाई गई है ॥ उसके प्रतिपक्ष में, बृहत्पाठ के पाठ्यांश में मध्याह्न, सायंकाल और रजनी - इन तीनों समय-सूचक शब्दावली का प्रयोग सुरक्षित रहा है। देवनागरी पाठ में आयी हुई समय-दर्शक सूचनाओं की विसंगति ही उच्च स्तरीय पाठालोचना की दृष्टि से हमारे लिए संक्षेप-साधक प्रमाण बनती है, जो कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण होने से सब को मान्य होना ही चाहिए। मूल पाठ में कटौती होने का यह सटीक प्रमाण देने वाले पहले विद्वान् डॉ. एस. के. बेलवालकर जी थे ।

2-2 तृतीयांक के पाठ में किस प्रसंग को लेकर कटौती हुई है उसका प्रमाण भी उपलब्ध हो रहा है। जैसे कि, तृतीयांक के आरम्भ में ही कहा गया है कि

शकुन्तला प्रेमासक्त हुई है और वह अस्वस्थता का अनुभव कर रही है। दोनों सहेलियाँ विषादग्रस्त हैं और उसे पवन झल रही है। राजा शकुन्तला को देख कर सोचता है कि क्या यह आतपदोष हो सकता है कि जैसा मेरा मन सोच रहा है? यहाँ राजा 'अथवा कृतं सन्देहेन' यह कहकर एक श्लोक में शकुन्तला का वर्णन करता है :- *स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं प्रियायाः साबाधं, किमपि कमनीयं वपुरिदम्। इत्यादि॥* (3-6) यह श्लोक सभी वाचनाओं में स्वीकृत है। इसमें कहा गया है कि शकुन्तला ने हाथ में पहना हुआ जो एक मृणाल-वलय साभिप्राय, सप्रयोजन ही होता है - इस गृहीत नियम को स्मरण-पथ में रखते हुए सोचेंगे तो, इस मृणाल-वलय से जुडा हुआ कोई प्रसंग तृतीयांक में होना अपेक्षित है। और जब हम इसी अंक के उपान्त्य (3-23) श्लोक की ओर गति करते हैं तो उसमें निम्नोक्त तीन चीजों का प्रकट निर्देश मिलता है :-

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं,
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रो नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो,
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥

शकुन्तला जिस पर लेटी थी वह पुष्पमयी शय्या, उसने अपने नाखूनों से लिखा मन्मथलेख, तथा उसके हाथ से निकल गया, गिर गया, बिसाभरण, अर्थात् मृणाल-वलय ! जिस मृणाल-वलय का निर्देश इस अंक के आरम्भ में आता है वही चीज अंक के अन्त भाग में भी उल्लिखित है। किन्तु इस देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में कहीं पर भी मृणाल-वलय से जुडा कोई प्रसंग मिलता ही नहीं है। इससे निःशंकतया स्पष्ट होता है कि दुःषन्त शकुन्तला के हाथ से गिरा मृणाल-वलय उसको दो बार पहनाता है ऐसा प्रसंग, जो बृहत्पाठ परम्परा की तीनों वाचनाओं में मिलता है, वह इन देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में से हटाया गया है॥ देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठ में संक्षेप किया गया है। उसका यह दूसरा प्रकट पदचिह्न है, जिसके सामने हम गज-निमीलिका नहीं कर सकते हैं।

2-3. जब भी किसी नाटक को अल्प समयावधि में प्रस्तुत करने के आशय से उसमें कुत्रचित् संक्षेप किया जाता है तब कहाँ से कटौती की जाय, और कैसे प्रस्तुत पाठ के साथ पुनः अनुसन्धान किया जाय ? यह भी समस्या होती है। अर्थात् संक्षेपीकरण का मार्ग प्रशस्त कैसे हुआ होगा यह भी प्रश्न तो है ही। क्योंकि कालिदास जैसे कविकुलगुरु की रचना में जो भी होगा वह निश्चित रूप से 'पर्यायपरिवृत्त्यसह' के स्तरवाला ही होगा। फिर संक्षेप कैसे हो ही सकेगा ? यह शंका बिलकुल समीचीन है। लेकिन सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर मालूम होता है कि महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से प्रेरित होकर (मैथिली परम्परा में) किसी अज्ञात पाठशोधक ने गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक प्रक्षिप्त कर दिया। इसी श्लोक के आगमन से ही, जो सहज सुन्दर प्रेमप्रसंग मूल (बृहत्पाठ परम्परा) में था उसको हटाकर नायक दुःषन्त एक मुग्ध आरण्यक कन्या को सद्योविवाह के लिए उकसाने में सफल होता है, ऐसा दिखाना सरल हो जाता है।

गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा किस आधार पर कहा जाता है ? तो इस को समझने के लिए कथा-प्रवाह का पूरा सन्दर्भ बारिकी से देखना होगा। जैसा कि - तृतीयांक में प्रियंवदा और अनुसूया मृग शावक को उनकी माता के पास पहुँचाने का बहाना बनाकर लतामण्डप से दूर चली जाती हैं। अब रंगमंच पर दुःषन्त और शकुन्तला अकेले हैं। अब दुःषन्त सखीजनों की भूमिका पर खड़ा है। मध्याह्न का समय होने से वह शकुन्तला को नलिनीदल से आर्द्र वायु का संचार करने का इच्छुक है, और शकुन्तला कहे तो उसके चरणों का संवाहन करने को भी तैयार है! किन्तु शकुन्तला माननीय व्यक्ति से ऐसी सेवा लेना उचित नहीं समझती है। अतः वहाँ से उठकर चली जाती है। दुःषन्त उसके पीछे चल पड़ता है और उसका पल्लू पकड़ कर रोकने की चेष्टा करता है। शकुन्तला कहती है कि - *पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः संचरन्ति॥* इस संवाद के बाद राजा की जो उक्ति है, उसकी मौलिकता संदेहास्पद है।

राजा - सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः ।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः ॥3-28॥

(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि । (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते ।)

शकु. - (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य सांगभंगम्) पोरव, अणिच्छापूरओ वि संभासणमेत्तएण परिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो ॥

यहाँ, लतामण्डप से बाहर निकल कर जा रही शकुन्तला के पीछे दुःषन्त भी चल पड़ता है तब उसको सावधान करने के लिए शकुन्तला ने 'यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगें' ऐसा कहा है । इस सन्दर्भ में दुःषन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी (तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर) खेद का अनुभव नहीं करेंगे । अर्थात् तेरे पर नाराज़ नहीं होंगे । दुःषन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें (या राजर्षियों की कन्याएँ) हैं, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अनुमोदित (अभिनन्दित) भी की गई हैं । इस श्लोक पर किसी विद्वान् ने नुक्ताचीनी शायद नहीं की है । लेकिन सम्भव है कि किसी साहित्यरसिक की दृष्टि में, दुःषन्त ने यहाँ शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिये उकसाया है - ऐसा भाव उठ सकता है । ऐसी संवित्ति मुखर होकर सामने आये या न आये, लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषि-मुनि घूम रहे होंगे, तब तो विनीत वर्ताव की ही अपेक्षा है । उससे विपरीत दुःषन्त गुरुजनों से डर ने की कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरु करे वह दुःषन्त के धीरोदात्त चरित के अनुरूप नहीं है । अतः दुःषन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं 'गान्धर्वेण विवाहेन' वाला श्लोक बीच में से हटाया जाय तो, जो रंगसूचना-पुरस्सर का जो अनुगामी वाक्य है : (दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि । (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते ।) वह बिलकुल सही सिद्ध होता है । इसमें विचार-सातत्य भी है, और दुःषन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है ॥ महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुःषन्त गान्धर्व-विवाह के लिए बहुत उतावला हो गया है।

उस मूल कथा में सुधार के लिए उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है, तो उसको अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव कराके किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की जरूरत नहीं थी । इसे, अर्थात् गान्धर्वेण विवाहेन वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर, हटा देने से दुःषन्त के उदात्त चरित की भी रक्षा होती है और शकुन्तला की उक्ति के साथ 'कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि' जैसा दुःषन्त का प्रतिभाव भी सुसंगत ठहरता है ॥ कहने का तात्पर्य यही है कि शकुन्तला का लतामण्डप से बाहर चले जाने के बाद, दुःषन्त भी जब वहाँ से बाहर आ जाता है तब 'यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे' ऐसी प्रिया शकुन्तला की चेतावनी के साथ तो, '(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि ।' का सन्धान ही मौलिक प्रतीत होता है ॥

यह श्लोक बंगाली, मैथिली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य – इन चारों वाचनाओं में संचरित हुआ है । किन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में वह प्रक्षिप्त प्रतीत हो रहा है तो स्वाभाविक रूप से कोई भी पाठालोचक 'जिसमें यह श्लोक न हो ऐसी एक भी पाण्डुलिपि का क्या साक्ष्य मिलता है ?' ऐसा प्रश्न हमसे पूछेगा ही । तो इस प्रश्न का उत्तर हाँ – में है। ऑक्सफर्ड युनि. की बोडलीयन लाईब्रेरी से प्राप्त की गई तीन एवं भूर्जपत्रवाली शारदा पाण्डुलिपियों में गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक नहीं है !! (द्रष्टव्य है इस पुस्तक का मुखपृष्ठ) उसका न होना भी इसी बात को सर्वथा प्रमाणित करता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है। तथा इस श्लोक के 'ताः' पद का अन्वय चतुर्थ-चरण में जाता है वह भी अनुष्टुप् की क्षति रूप है, जो भी कालिदास की रचना न होने का समर्थन करता है ॥

तीसरा ध्यातव्य बिन्दु यह है कि इस श्लोक के बाद जो दृश्यावली प्रस्तुत होती है उसमें नायक-नायिका के बीच मृणालवलय पहनाने का प्रेमभरा जो सहचार है, एवं उसी के सिलसिले में पुष्परज से कलुषित हुई शकुन्तला की दृष्टि को स्वच्छ कर देने की दुःषन्त की चेष्टावाला दृश्य, सही स्वरूप में मदनलेखादि के पूर्वप्रसंगों के अनुसन्धान में समुचित लगता है, जिसके आधार पर ही (बिना किसी तरह से उकसाये) दोनों का प्रेममिलन नैसर्गिक प्रतीत होता है ॥

2-4 पहले यह कहा गया है कि मूल पाठ में कटौती की जाने के बाद

कथा-प्रवाह की अक्षुण्णता बनाये रखना भी परम आवश्यक है। अतः (यह भी गवेषणीय है कि बृहत्पाठ में से दो दृश्यों को हटा कर संक्षिप्त किये गये पाठ का पुनःसन्धान कहाँ पर कर लिया गया है ? दोनों सहेलियाँ शकुन्तला को राजा के पास छोड़ कर रंगभूमि से बिदा लेती हैं। राजा शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह का मार्ग सूचित करके पिता की अनुमति के विचार से मुक्ति दिलवाता है, किन्तु शकुन्तला फिर भी सहेलियों की राय लेने का सोचती है। पहले देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का इस क्षण का संवाद द्रष्टव्य है :

शकु. - मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।

राजा - भवतु, मोक्ष्यामि।

शकु. - कदा।

राजा - अपरिक्षतकोमलस्य यावत्, कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि, गृह्यते रसोऽस्य॥
(इति मुखमस्याः समुन्नयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)

नेपथ्ये -चक्रवाकवधूके, आमन्त्र्यस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।

यह श्लोक केवल देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में ही है। (बृहत्पाठ परम्परा में तो यहाँ एक अलग ही श्लोक है :- जैसे कि - इदमुप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्। ननु कमलस्य मधुकरः (संतुष्यति गन्धमात्रेण॥) लघुपाठ परम्परा में ही मिलनेवाला यह श्लोक 'मालभारिणी' छन्द में लिखा गया है, जो गुजरात के हेमचन्द्राचार्य (11वीं शती में) ने पहलीबार परिभाषित किया था। दूसरी ओर यह श्लोक बृहत्पाठ परम्परा में (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) है नहीं। इन दो कारणों से सिद्ध होता है कि संक्षेपीकरण के बाद जो सन्धान करना अपेक्षित था, वो इस नवीन छन्द में निबद्ध श्लोक से यहाँ पर किया गया है।

इस तरह से प्रस्तुत नाटक के पाठ्यांश में संक्षेप हुआ ही है उसके साधक (कृतिनिष्ठ आन्तरिक) प्रमाणों की चर्चा की गई है॥ अब बृहत्पाठ में मिल रहे दो दृश्यों, जिसको हटाया गया है, उसी पाठ्यांश की मौलिकता के साधक प्रमाणों की

भी उपस्थापना करनी आवश्यक है। इस विषय की चर्चा प्रस्तुत नाट्यकृति में साद्यन्त प्रयुक्त की गई एक विशिष्ट नाट्यशैली के मानदण्ड से सिद्ध की जायेगी। नाट्य जैसे अभिनेय काव्यों की पाठालोचना में किसी भी पाठ्यांश में संक्षेप एवं प्रक्षेपादि, या पाठ्यांश की मौलिकता सम्बन्धी ऊहापोह पाण्डुलिपियों के साक्ष्य पर निर्भर नहीं होता है। पाठालोचक को उच्चतर समीक्षा के क्षेत्र में, बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में क्या मिल रहा है या क्या नहीं मिल रहा है ? इस दृष्टि का त्याग करके ऐसा तर्क प्रस्तुत करना है जिसमें अन्तःसाक्ष्य के रूप में कृतिनिष्ठ कुछ योजना से समर्थन उपलब्ध होता हो। इतनी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमिका के साथ अनुगामी चर्चा रखी जाती है।

3-0 देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयांक में 24 (या 26) श्लोकों का विस्तार है। उसके प्रतिपक्ष में, बृहत्पाठ परम्परावाले अभिज्ञानशकुन्तल में 35 से लेकर 41 श्लोकों का विस्तार दिखता है। इन विस्तृत भाग में दो दृश्यों का संनिवेश किया गया है। जैसे कि, (क) रंगभूमि से सखियों का निष्क्रमण होने के बाद नायक–नायिका रंगमंच पर अकेले हैं। नायक शकुन्तला के हाथ से गिरे मृणाल–वलय को पहनाता है। और तत्पश्चात् (ख) दुःषन्त शकुन्तला को वह मृणाल–वलय कैसा लगता है ? ऐसा प्रश्न करता है, उसी क्षण पवन की लहर चलने पर उसके नेत्र में कर्णोत्पल की रज गिरती है। अब उसकी दृष्टि कलुषित होने पर दुःषन्त अपने वदनमारुत से उसे निर्मल कर देता है। शकुन्तला के करीब आने पर दुःषन्त को उसके अधरपान की इच्छा होती है, किन्तु शकुन्तला मुख को घुमा लेती है। तब अचानक नेपथ्य से उक्ति सुनाई देती है कि हे चकवी, तुम अपने प्रिय सहचर से बिदा ले लो, रात्रि का आगमन हो गया है। रंगमंच पर गौतमी का आगमन होता है और वह शकुन्तला को लेकर चली जाती है, तब अंक समाप्त होता है। अब, इन दो दृश्यों की मौलिकता हमारी परीक्षा का विषय है।

3-1 देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में से उपर्युक्त दोनों दृश्य मिलते नहीं है। लेकिन जो विद्वान् देवनागरी के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ ही नहीं है ऐसा पूर्वाग्रह बनाकर बैठे हैं, वे ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों ही

दृश्य मौलिक पाठ के रूप में इस नाट्यकृति में पहले से ही थे ऐसा कैसे सिद्ध हो सकेगा ? तो तीसरे अंक के उपान्त्य श्लोक में जो बिसाभरण (अर्थात् लीलाभरण या मृणालवलय) का निर्देश आता है उनसे ही सिद्ध होता है कि पहलेवाला दृश्य मूल में था। यदि शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाने का प्रसंग कवि ने लिखा ही नहीं था तो फिर उपान्त्य श्लोक में वे शकुन्तला की जिन तीन चीजों का परिगणन दुःषन्त के मुख से करवाते हैं उसमें बिसाभरण=मृणालवलय का उल्लेख ही नहीं होना चाहिए। एवमेव, इस मृणालवलय का बार बार गिरना भी अवश्यंभावी था, क्योंकि इस अंक के आरम्भ में ही, जब शकुन्तला रंग पर प्रविष्ट हुई है तब से दुःषन्त ने ही कहा है कि उसने अपने हाथ में एक मृणाल-वलय पहना है, जो शिथिल भी है।

इस मृणाल-वलय का प्रसंग मूलगामी पाठ में होना एक अन्य आन्तरिक सम्भावना से भी समर्थित होता है :- जिस लतामण्डप में दुःषन्त-शकुन्तला का एकान्त मिलन होता है वहाँ आरम्भ में शकुन्तला लतामण्डप से बाहर चली जाती है। तब दुःषन्त शकुन्तला के मणिबन्धन से गलित हुए मृणालवलय को देखता है, जिसको वह 'हृदयस्य निगडम् इव' कहता है, फिर उसको उठा लेता है और अपने गले लगाता है। उस वलय को वापस लेने के बहाने शकुन्तला लतामण्डप में जब पुनः प्रविष्ट होती है वहाँ प्रिया शकुन्तला को देखते ही दुःषन्त सहर्ष बोलता है :- 'अये, जीवितेश्वरी मे प्राप्ता।' इसके बाद, दुःषन्त ने जब शकुन्तला के हाथ में उसे पहनाया तब शकुन्तला के मुख से 'त्वरताम् त्वरताम् आर्यपुत्रः।' ऐसा सम्बोधन निकल जाता है। कंकण-स्वरूप मृणाल-वलय पहनाने के अवसर पर शकुन्तला के मन में दुःषन्त के लिये पतिभाव प्रकट हुआ हो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस दृष्टि से, मृणाल-वलय प्रसंग में नायक-नायिका ने परस्पर जो 'जीवितेश्वरी' और 'आर्यपुत्रः' कहा है, जिससे मालूम होता है कि इन दोनों के दिल में दाम्पत्य भाव प्रकट हुआ है। यह क्षण प्रेक्षकों को दिखाना जरूरी था। क्योंकि मुद्रिका मिल जाने के बाद अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों के सामने दुःषन्त के मुख से कदाचित् 'गोत्र-स्खलन' हो जाता है, ऐसा षष्ठांक में निरूपण आता है तो (दाक्षिण्येन ददाति

वाचमुचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षिश्चिरम्। शाकु. 6) वह बिलकुल निराधार है ऐसा नहीं लगता है।

किन्तु देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में तो यह मृणाल-वलय का प्रसंग नहीं है। अतः वहाँ षष्ठांक में गोत्र-स्खलन का जब निर्देश आता है तब उसका कोई पूर्व-निर्दिष्ट आधार नहीं मिलता है। कहने का तात्पर्य यही है कि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में मृणाल-वलय का प्रसंग है और उस प्रसंग के निमित्त से दोनों के चित्त में जो सहज दाम्पत्यभाव प्रकट हुआ था, उससे ही षष्ठांक में दुःषन्त से अनजान में होनेवाले गोत्र-स्खलन की स्वाभाविकता प्रतीतिकर बनती है। और इस तरह से, बृहत्पाठ में आया हुआ मृणाल-वलय का प्रसंग षष्ठांक में आनेवाले गोत्र-स्खलन के निर्देश को उपकारक भी प्रतीत होता है।

3-2 बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं के तृतीयांक में प्रक्षिप्त माने गये दूसरे प्रसंग की, अर्थात् शकुन्तला की दृष्टि पुष्परज से कलुषित होने पर दुःषन्त उसे अपने वदन-मारुत से निर्मल कर देता है, उस प्रसंग की मौलिकता भी कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य से समर्थित होती है। यहाँ प्रथमतः यही बात विचारणीय है कि शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने जैसे कोई प्रसंग की हम अपेक्षा रख सकते हैं या नहीं ? प्रथमांक में वृक्षसेचन के दौरान परिश्रान्त हुई शकुन्तला का दुःषन्त ने जो वर्णन किया है, उस श्लोक में कहा गया है कि, स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं, बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः (शाकु. 1-26, राघवभट्ट, 2004, पृ. 47) अर्थात् शकुन्तला अपने कर्णों में शिरीष पुष्पों को लगाती थी। और इसी लिये षष्ठांक में शकुन्तला का चित्र अंकित करते हुए दुःषन्त ने फिर से कहा भी है कि – कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेरसम्। न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ (शाकु. 6-18, राघवभट्ट, पृ. 213) इस तरह शकुन्तला अपने कानों में प्रसाधन के रूप में पुष्प लगाती थी, और इसी लिये कदाचित् उसके नेत्र में पुष्परेणु गिरने की सम्भावना (एवं नाटकीय अपेक्षा) तो थी ही। लेकिन यहाँ ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा कोई

प्रसंग महाकवि ने ही अपने हाथों से लिखा होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उच्चतर समीक्षा को मान्य हो ऐसा कोई प्रमाण देना आवश्यक है।

महाकवि कालिदास ने इस नाट्यकृति की दृश्यावली में सर्वत्र एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की जिस नाट्यकला का साद्यन्त विनियोग किया है उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने की जरूरत है। उदाहरण के रूप में –

(1) प्रथमांक में पिनाकी स्वरूप दुःषन्त का मालिनी नदी की उपत्यका में मृगया के लिए प्रवेश होता है। वैसे ही सप्तमांक के आरम्भ में इन्द्रसखा दुःषन्त मारीच के आश्रम में प्रवेश करता है। यहाँ प्रथमांक में शिकारी दुःषन्त का जो एक रूप प्रस्तुत किया था, उसका ही दूसरा प्रतिरूप दानवहन्ता के रूप में खड़ा किया गया है।

(2) द्वितीयांक में मृगया से विषण्ण और रोता हुआ विदूषक हमारे सामने आता है, तो षष्ठांक के आरम्भ में अकारण ताडित हो रहा दयनीय धीवर हमारे सामने खड़ा किया जाता है। दोनों दृश्य हास्यप्रेरक है और दोनों पात्र प्रेक्षकों की सहानुभूति प्राप्त करते हैं। अन्त में एक युवराज होकर हस्तिस्कन्ध पे आरूढ होता है, तो दूसरा भी शूली से उतार कर हस्तिस्कन्ध पर आरोपित होने जैसा सुख प्राप्त करता है।

(3) इसी अंक में राजमाताएँ पुत्रपिण्डपालन (पुत्रपिण्डपर्युपासन) व्रत कर रही हैं ऐसी खबर लेकर करभक आता है, तो उसके सामने षष्ठांक में धनमित्र की विधवा निर्वृत्तपुंसवना है ऐसा सुना जाता है।

(4) राजा ने कनक-वलय पहना है, तो शकुन्तला ने मृणाल-वलय पहना है। दुःषन्त अपनी भुजाओं पर उसको बार बार उपर उठाता है, तो शकुन्तला का मृणाल-वलय भी बार बार नीचे गिर जाता है।

(5) प्रथमांक में दुःषन्त भ्रमर से असूया करता हुआ उसके प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने आता है, तो वही दुःषन्त षष्ठांक में भ्रमर का उपदेष्टा एवं शास्ता बन जाता है।

(6) तृतीयांक के अन्त में प्रेमाविष्ट नायक को रंगभूमि से बाहर ले जाने के लिए यज्ञ में बाधा डालनेवाला राक्षसोपद्रव होता है, और राजा धनुष उठाकर रंगभूमि से निष्क्रमण करता है। तथैव, षष्ठांक के अन्त में भी विदूषक को किसी अज्ञात शोणितार्थी से बचाने के लिए विरहसंतप्त नायक धनुष्य उठाकर रंगभूमि से बाहर जाता है।

(7) प्रथमांक में शकुन्तला के दुर्दैव का शमन करने ऋषि कण्व सोमतीर्थ की यात्रा पर दूर चले जाते हैं ,तो चतुर्थांक में दूसरे ऋषि दुर्वासा शकुन्तला के दुर्भाग्य का विधाता बनकर सामने आते हैं।

इस तरह महाकवि ने सम्पूर्ण कृति में एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप (एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य) खड़ा करने की स्पृहणीय नाट्य-शैली का मार्ग अपनाया है। यह शैली भी हमारे लिये कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य बनती है, और उसके आधार पर काश्मीरी, मैथिली और बंगाली वाचनाओं के तृतीयांक में शकुन्तला की दृष्टि कर्णोत्पल रेणु से कलुषित होने का जो प्रसंग वर्णित किया है उसका समर्थन किया जा सकता है। जैसे कि - तृतीयांक में दुःषन्त ने अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि निर्मल कर दी थी - उसी एंक दृश्य के सामने, षष्ठांक में कवि ने दूसरा प्रतिदृश्य भी खड़ा किया है। मुद्रिका मिल जाने पर जब दुःषन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो जाता है तब वह शकुन्तला का चित्रांकन करते हुए एक श्लोक बोलता है :

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बित-वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुम् इच्छाम्यधः,
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥6-17॥

इसमें कहा गाया है कि मुझे (दुःषन्त को) इस चित्र में बह रही मालिनी नदी की बालुका में बैठा एक हंस-मिथुन आकारित करना है। हिमालय की उपत्यका में बैठे चमरों के समूह को बनाना है। वृक्ष की डालियों पर वल्कल वस्त्र टंगे हो, एवं उस वृक्ष के अधोभाग में कृष्णमृग के शृंग पर अपना वाम-नेत्र

खुजलाती हुई एक हरिणी भी चित्रित करने की चाहत हो रही है। यहाँ 'कण्डूयमानां मृगीम्' का जो चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की गई है वह निरतिशय व्यञ्जना पूर्ण है। षष्ठांक में वर्णित इस प्रसंग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से तृतीयांक में पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्रवाले प्रसंग के साथ ही है। वहाँ पर दुःषन्त ने जब अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि को निर्मल कर देने का प्रस्ताव रखा था, तब शकुन्तला ने कहा था कि मेरे मन में तुम्हारे लिये विश्वास नहीं है। किन्तु दुःषन्त इस चित्र से व्यंजित करना चाहता है कि वह अब शिकारी के रूप में शकुन्तला को प्राप्त करना नहीं चाहता है। परन्तु हरिणी स्वरूपा शकुन्तला का 'सगन्ध' और विश्वसनीय हरिण बनके, शकुन्तला का जीवनाधार बनना चाहता है। दुःषन्त ने तृतीयांक के वही प्रसंग को स्मरण-पट में रख कर एक प्रतिदृश्य के रूप में, यह 'कण्डूयमानां मृगीम्' का चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की है। इस तरह एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य खड़ा करने की जो नाट्य-शैली समग्र कृति में बार बार दिखाई देती है उसको तार्किक दृष्टि से आन्तरिक सम्भावना के रूप में स्वीकारना ही चाहिए। और इसके आधार पर पुष्परज से शकुन्तला के नेत्र कलुषित होने का जो प्रसंग है वह प्रक्षिप्त नहीं है, बल्कि सर्वथा मौलिक है - ऐसा स्वीकारना ही चाहिए।

एवमेव, सप्तमांक में शकुन्तला दुःषन्त से पूछती है कि इस दुःखभागी व्यक्ति की याद आपको कैसे आयी ? तब दुःषन्त कहता है कि पहले तुम्हारी आंसू-भीगी आँखों को पोंछने दो, बाद में अंगूठी कैसे मिली उसकी कहानी सुनाऊँगा। यहाँ पर फिर से शकुन्तला के अश्रु भरे नेत्रों का परिमार्जन करने का जो निर्देश आया है वह भी एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की नाट्यशैली का ही अनुमोदन एवं दृढ़ीकरण करता है॥

4-0 देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के मुख्य स्थान में, अर्थात् तृतीयांक के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ है इतना सयुक्तिक सिद्ध करने के बाद, अन्य अंकों में भी बृहत्पाठ की अपेक्षा से लघुपाठवाली वाचनाओं में कम-ज्यादा श्लोक मिल रहे हैं उसकी भी चर्चा करनी आवश्यक है। क्योंकि अल्प कालावधि

में नाट्य-प्रस्तुति करने के लिए संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति शुरू होती है तब केवल एक ही अंक में तो कटौती नहीं की जाती है। अतः इस नाटक की अन्य कौन सी दृश्यावली में, तथा अन्य वर्णनात्मक श्लोकों में कहाँ कटौती की गई है वह भी विवेचनीय बिन्दु है। एवमेव, प्रतिलिपिकरण के दौरान या मंचन के अवसर पर मूल पाठ्यांश में न केवल अशुद्धियाँ ही प्रविष्ट होती है, किन्तु कदाचित् संक्षेप भी होता है, और प्रक्षेप भी होते हैं। अतः अभिज्ञानशकुन्तल में संक्षेपीकरण की चर्चा करने के साथ साथ प्रक्षेपों की चर्चा भी अविनाभाव सम्बन्ध से आगन्तुक रहेगी, किन्तु विस्तारभय से हम उसे श्लोकात्मक भाग पर्यन्त ही मर्यादित रखेंगे।

4-1 चतुर्थांक में कन्या-विदाय का प्रसंग आलिखित है। शकुन्तला की विदाई के समय आश्रमस्थित सभी पेड़-पौधे और पशु-पक्षी आदि संतप्त हैं। यहाँ पर अनुसूया कहती है कि इस आश्रम में ऐसा कोई नहीं है जो तेरे विरह से दुःखी न हो। यहाँ चक्रवाक पक्षी सम्बन्धी एक उक्ति मिलती है। रिचार्ड पिशेल के द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना के पाठ में अनुसूया की मूल प्राकृत उक्ति इस तरह की है : 'सहि, ण णो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहीअन्तो अज्ज ण ऊसुओ ण किदो। पेक्ख,

पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेई पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ ॥4-18॥

सखि, न नः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणः अद्य न उत्सुकः कृतः।

प्रेक्षस्व पुटकिनीपत्रान्तरितां व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोद्व्यूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥

बंगाली पाठ में अनुसूया के मुख से चक्रवाक-सम्बन्धी यह एक ही उक्ति मिलती है। और जिसको सुनकर शकुन्तला ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है। दूसरी ओर, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठ में इस सन्दर्भ में शकुन्तला एवं अनसूया के द्वारा बोली गई दो उक्तियाँ मिलती हैं। जो निम्न स्वरूप में मिलती है, यहाँ शकुन्तला की उक्ति से आरम्भ हो रहा है :

शकुन्तला - हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति, दुष्करमहं करोमीति ।

अनसूया - सखि, मा मैवम् मन्त्रय ।

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं ।

गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥

(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ।

गुर्वपि विरहदुःखम् आशाबन्धः साहयति ॥)

यानें यहाँ पर (बंगाली वाचना में आयी हुई) अनुसूया की उपर्युक्त उक्ति को संक्षेप करने के आशय से देवनागरी में से हटाई गई है। और एक नयी उक्ति अनसूया के मुख में रखी गई है वह मिलती है । किन्तु बंगाली वाचना में से शकुन्तला एवं प्रियंवदा की एक एक उक्ति का संक्षेप किया गया है। देवनागरी में अनसूया की पहली उक्ति हटाई गई है और (शकुन्तला की उक्ति के बाद) जो प्रियंवदा की उक्ति थी, वह अनसूया की उक्ति बना दी गई है। वस्तुतः चक्रवाक-पक्षी के सन्दर्भ में तीनों सहेलियों की एक एक उक्ति मूल में थी, जिसमें संक्षेप किया गया है, और उसकी जानकारी हम जब काश्मीरी वाचना की शारदा-पाण्डुलिपियों में देखते हैं तब मिलती है। क्योंकि उसमें तीनों सहेलियों की तीन उक्तिओं वाला अखण्ड पाठ सुरक्षित रहा है :

अनसूया - सहि ण सो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुओ किदो अज्ज । पेक्ख दाव,

पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेइ पिअं ।

मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ ॥4-18॥

(सखि, न सः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणया न उत्सुकः कृतः अद्य । पश्य तावत् -

पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम् ।

मुखोद्व्यूमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥)

शकुन्तला - (जनान्तिकम्) हला पेक्ख, नलिनीपत्तन्तरिदंपि सहअरं

अदेक्खन्ती आदुरं चक्कवाई आरडइ । दुक्करं खु अहं करेमित्ति । (हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करं खलु अहं करोमीति ।)

प्रियंवदा – सहि, मा एव्वं मन्तेहि। (सखि, मा मैवम् मन्त्रय ।)

एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसूरणादीहं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धः सहावेदि ॥
(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विसूरणादीर्घाम् ।
गुर्वपि विरहदुःखम् आशाबन्धः साहयति ॥)

जिस तरह से चक्रवाकी से सम्बद्ध तीनों उक्तियाँ काश्मीरी में सुरक्षित रही है वैसे ही मैथिली वाचना में भी ये तीनों सुरक्षित रही हैं, और हम तक पहुँची भी हैं। (जिसका उल्लेख डॉ. बेलवालकर जी ने नहीं किया है ।) यद्यपि चक्रवाक की उक्तियों में कटौती हुई है इसकी ओर सब से पहले ध्यान आकृष्ट करनेवाले मूर्धन्यविद्वान् श्री एस. के. बेलवालकर जी ही थे। निसर्ग कन्या शकुन्तला, 1962 (वि.सं. 2019) उन्होंने शकुन्तला की एक 'निसर्ग कन्या' के रूप में पहचान प्रस्थापित करके ऐसी अपेक्षा व्यक्त की है कि शकुन्तला जब पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब भले ही सहेलियों ने एवं पिता कण्व ने दुर्वासा के शाप की जानकारी शकुन्तला को न दी हो, किन्तु प्रकृति–समस्त में से किसी वनस्पति ने या पशु–पक्षी ने क्यूँ शकुन्तला को इस शाप के सन्दर्भ में सावधान नहीं किया ? यही एक बड़ी समस्या है। ऐसा कुछ होना न केवल अपेक्षित था, अनिवार्य भी था। काश्मीरी वाचना में, चक्रवाकवाले प्रसंग में यह आकारित किया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में कुल तीन उक्तियों में से एक एवं दो उक्तियाँ ही हम तक संचरित होकर आई हैं । यदि काश्मीरी वाचना की (तथा मैथिली वाचना की) पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करके देखा जाय तो तीनों उक्तियों वाला पूर्ण संवाद, जो उपर्युक्त अवतरण में दिया है वह हम तक संचरित होके आया ही है। चक्रवाक के इस प्रसंग में (तीनों संवादों के द्वारा) शकुन्तला को दुष्यन्त की ओर से नकारात्मक प्रतिभाव ही मिलेगा और शकुन्तला को कुछ कालावधि तक पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करनी होगी ऐसा व्यंजित किया ही गया है ॥

श्री बेलवालकर जी के शब्दों में देखे तो – 'यहाँ पर पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिए लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है ? चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सान्त्वना देती है और वह विश्वास के साथ सान्त्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त कराने वाली अँगुठी तो थी ही। इसीलिए ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती है। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दुःख की चेतावनी दे दी।' इस उच्च स्तरीय पाठालोचना से यह सुदृढ हो जाता है कि बंगाली वाचना में और देवनागरी वाचना में संचरित होकर जो पाठ हम तक पहुँचा है वह प्रकृत सन्दर्भ में संक्षिप्त किया गया पाठ है ॥

सामान्यतया तो देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में ही संक्षेप के पदचिह्न मिलते हैं। लेकिन प्रस्तुत सन्दर्भ में बंगाली वाचना के पाठ में भी कुत्रचित् संक्षेप हुआ है ऐसा सिद्ध होता है। (इस विषय की चर्चा डॉ. दिलीपकुमार ने नहीं की है।)

4-2 अभिज्ञानशकुन्तल का पाठ पञ्चविध वाचनाओं में संचरित होके हम तक पहुँचा है। उन सब में तीसरे अंक के पाठ में जो सब से बड़ा विवादास्पद भाग था उसकी चर्चा हो गई। किन्तु इसके साथ साथ पूरे नाटक में आये हुए श्लोकों के सन्दर्भ में भी व्यापक विमति प्रवर्तमान है। निम्नोक्त श्लोक-सरणी देखने से मालूम होता है कि प्रत्येक वाचना में श्लोक-संख्या कम-ज्यादा मिल रही है। तो वह भी संक्षेप या प्रक्षेप का ही परिणाम होगा। अब किस दृष्टि से इस संक्षेप एवं प्रक्षेप को पकड़े जा सकते हैं उसकी चर्चा की जाती है :-

बृहत्पाठ परम्परा में				लघुपाठ परम्परा में	
अंक	काश्मीरी	मैथीली	बंगाली	देवनागरी	दाक्षिणात्य
1	30	33	33	30	31
2	19	19	19	18	18
3	35	40	41	24	24
4	26	26	24	21	22
5	33	34	32	32	32
6	34	37	37	32	32
7	36	36	35	34	35
योग	213	225	221	190	193

यहाँ पर विभिन्न वाचनाओं में जो कम-ज्यादा श्लोकसंख्या दिख रही है वह ज्यादा तौर पर वर्णनात्मक श्लोकों को लेकर ही है। लेकिन यहाँ अमुक श्लोक 'कालिदासीय काव्य-स्वरूप' में लिखा गया है या नहीं लिखा गया है ? ऐसे अभिप्रायों से प्रेरित होकर उसकी मौलिकता निर्धारित नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उसमें आत्मलक्षिता प्रविष्ट होनी अनिवार्य है, जो विवाद का घर है ॥ अत (इस नाटक में जहाँ पर भी 'अपि च' एवं 'अथवा' जैसे निपातों का विनियोग करके दो दो, अथवा तीन-चार श्लोकों को प्रस्तुत किया है उसकी परीक्षा पर ध्यान केन्द्रित करना व्याकरणनिष्ठ रहेगा।

प्रस्तुत पाँचों वाचनाओं के तुलनात्मक अभ्यास से ऐसा मालूम होता है कि 'अपि च' एवं 'अथवा' जैसे निपातों से बांधे गये दो दो श्लोकों में ही संक्षेप एवं प्रक्षेप की लीला खेली गई है। अतः शाकुन्तल में प्रयुक्त इस समुच्चयार्थक 'अपि च' के प्रयोग का स्वारस्य सर्व प्रथम गवेषणीय बनता है। उदाहरण के रूप में भ्रमरबाधा प्रसंग को हम लेते हैं :- यहाँ पर बंगाली एवं मैथिली वाचना में 'अपि च' से सम्बद्ध किये गये दो श्लोक हैं।

राजा - (सस्पृहम्)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते, ततस्ततः प्रेरितवामलोचना ।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम् ॥1-22 ॥

अपि च – (सासूयमिव)

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वम् अधरं
वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती ॥1-23॥

इन शब्दों से वर्णित भ्रमरबाधा प्रसंग में, पहले (22) श्लोक में भ्रमर से संत्रस्त हो रही शकुन्तला के दृष्टिविभ्रम का चित्र खींचा गया है । तत्पश्चात् दूसरे (23) श्लोक में शकुन्तला के मुखारविन्द पर घूम रहे ईर्ष्याजनक भ्रमर का चित्र खींचा गया है । यहाँ एक ही दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता को दो अलग अलग श्लोक में वर्णित करने की आवश्यकता है। अतः कालिदास ने यहाँ समुच्चयार्थक 'अपि च' का प्रयोग करके इन दोनों को परस्पर बाँधे है। नायक के द्वारा भ्रमरबाधा प्रसंग के प्रथम क्षण में नायिका के लोचन का सौन्दर्य प्रेक्षणीय है, और इसी लिये कवि ने भी 'सस्पृहम्' ऐसी रंगसूचना लिखी है। दूसरी क्षण में, नायक के मन में भ्रमर के प्रति प्रतिस्पर्धी का भाव जाग उठता है, इसलिए उस भाव को भी अभिव्यक्त करने के लिए 'अपि च' से दूसरे श्लोक का अवतार किया जाता है। और वहाँ पर 'सासूयम्' ऐसी रंगसूचना दी जाती है। यहाँ दोनों श्लोकों में दृष्टिकोणों का ही भेद होने से उसमें पुनरुक्ति का कोई अवकाश ही नहीं है। अतः दो श्लोकों से प्रस्तुत हुआ यह वर्णन मूलगामी पाठ हो सकता है, जो बंगाली एवं मैथिली वाचना में संचरित होता रहा है। लेकिन समय–मर्यादा की बाधा से पीड़ित सूत्रधारों ने उन दोनों में से पहलेवाले श्लोक को हटा दिया होगा। परिणामतः देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना की पाठपरम्परा ने केवल चलापांगां वाला श्लोक ही सुरक्षित रखा है ॥

बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में दूसरे स्थान पर एक श्लोक का जो संक्षेप मिलता है वह इस तरह का है :– शकुन्तला पतिगृह की ओर प्रस्थान कर

रही है तब (बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में) इस तरह का संवाद है : शकुन्तला कण्व को पूछती है कि मैं पति के घर जा रही हूँ, लेकिन पिताजी आपका विरह कैसे सह पाऊँगी ? तब पिता कण्व श्लोक 4-22 से उत्तर देते हैं कि कुलीन व्यक्ति के घर में गृहिणी पद प्राप्त होने के बाद तूं बहुविध कार्यकलाप में व्यस्त हो जायेगी और तेरे अंक में पुत्र का आगमन हो जाने के बाद तो सुख ही सुख होने से तूं मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाले दुःख को भूल ही जायेगी। इतना सुनने के बाद शकुन्तला पिता के चरणों में प्रणाम करती है (ऐसी रंगसूचना है)। अर्थात् बंगाली वाचना में कण्वमुनि एक ही श्लोक बोलते हैं। किन्तु इस सन्दर्भ का मैथिली पाठ निम्नोक्त है, जिसमें कण्व दो श्लोक बोलते हैं :-

शकुन्तला - कधं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं। (इति रोदिति) (कथं तातस्यांकात् परिभ्रष्टा मलयपवनोन्मूलिता इव चन्दलनता देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये ॥)

कण्वः - वत्से, किमेव कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे,
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं,
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥4-22॥

अपि च, इदमवधारय -

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्मानः परेण को नाम भवेद् विषादी ॥4-23॥

शकुन्तला - (पितुः पादयोः पतित्वा) ताद वन्दामि।

यहाँ श्लोक 22 के नीचे, 'अपि च' निपात से बांधा गया एक श्लोक 23 दिख रहा है, जो मैथिली वाचना के पाठ में ही उपलब्ध होता है। बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह नहीं मिलता है। (तथा डॉ. एस. के. बेलवालकर जी के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वह श्लोक नहीं मिलता है, किन्तु भूर्जपत्रवाली पूणे की शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक : 192), एवं ऑक्सफोर्ड

लाईब्रेरी में सुरक्षित दो शारदा पाण्डुलिपियों में यह श्लोक 'अपि च' निपात से अवतारित किया गया है। अतः विचारणीय है कि क्या 'अपि च' के विनियोग से दूसरा श्लोक काश्मीरी–मैथिली में प्रक्षिप्त किया गया होगा ? या फिर वह मौलिक होते हुए भी बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से उसे हटाया गया है ? यहाँ पूर्वधारणा के रूप में मान लिया जाय कि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक रचा गया था। अब, पहले श्लोक 22 में शकुन्तला को पिता की याद नहीं आयेगी उसके बहुत प्रतीतिकारक कारण पेश किये गये हैं। फिर भी यह चिन्त्य तो है ही कि पुत्री को ससुराल में कितना भी सुख मिल जाय तो भी क्या वह अपने पिता को भुला सकती है ? सब का अनुभवजन्य उत्तर यही है कि ढेर सारे सुख में भी पुत्री अपने पिता को कदापि नहीं भुला सकती है। अतः प्रश्न होगा ही कि क्रान्तद्रष्टा महाकवि ने यहाँ सर्वजनानुभव विरुद्ध क्यों लिखा है। क्या सचमुच में शकुन्तला सुखातिशय में पिता कण्व को भुला देगी ? वृद्ध पिता के स्वास्थ्यादि को लेकर कोई चिन्ता उसे नहीं सताती रहेगी ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर सभी रसिकों के मन में होगा कि शकुन्तला अपने पिता को हरगिज नहीं भूल सकती है। यह बात कण्व भी जानते होंगे, अतः यहाँ उनको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता होगी। यदि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक था ऐसी पूर्वधारणा को छोड़के, काश्मीरी और मैथिली वाचना में आया हुआ दूसरा श्लोक भी मूल में होगा ऐसा स्वीकारते हैं तो उपर्युक्त क्षति का विसर्जन होता है।

प्रस्तुत चर्चा में पहले कहा गया है कि इस नाट्यकृति में एक श्लोक के बाद 'अपि च' से अवतारित दूसरे श्लोक में प्रवर्तमान दृश्य या विचार का यदि दूसरा पहलू रखा जाता है तो वह दूसरा श्लोक मौलिक होगा। क्योंकि, समुच्चयार्थक 'अपि च' का प्रयोग तभी सार्थक हो सकता है कि जब प्रस्तुत विचार का दूसरा पहलू भी सम्मीलित करना हो। इस दृष्टि से सोचा जायेगा तो पहले श्लोक में शकुन्तला को ससुराल में सुख मिलने पर वह पिता को भूल जायेगी ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा जाता है कि इन ऐहिक सुखों के बीच में भी पुत्री शकुन्तला के हृदयाकाश में पिता के वार्धक्य को लेकर सदैव चिन्ता

विद्यमान रहनेवाली है। तो उसका निरसन करने के लिए क्रान्तद्रष्टा कालिदास ने ऋषि कण्व से निम्नोक्त दूसरा श्लोक कहलाया है :

अपि चेदमवधारय -

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्मानः परेण को नाम भवेद् विषादी ॥4-23॥

शकुन्तला - ताद वन्दामि। (पितुः पादयोः पतति।)

अर्थात् कण्व ने शकुन्तला को आश्वासन देते हुए 'अपि च' से अवतारित 23वें श्लोक से यह भी कह दिया है कि शरीर और शरीरी का पृथक्त्व अवश्यंभावी है। जैसे कोई नट अपनी पहनी हुई मुकुटादि आहार्य चीजों का त्याग करते समय दुःखी नहीं होता, (वैसे ही कल कण्वमुनि के देहावसान की खबर मिले तो भी शकुन्तला को दुःखी नहीं होना चाहिए।) ॥ यहाँ 'अपि च' का प्रयोग यथार्थ सिद्ध होता है। अतः काश्मीरी और मैथिली वाचना में दृश्यमान यह दूसरा श्लोक मौलिक होने में संदेह नहीं रहता है ॥ उपर्युक्त दो श्लोकों वाला काश्मीरी पाठ, जो पहले मैथिली पाठ में संक्रान्त हुआ होगा वह वहाँ पर सुरक्षित रहा है। लेकिन तीसरे स्तर पर उसे अन्य तीन वाचनाओं में से हटाया गया होगा ॥

4-3 इसी तरह से 'अपि च' से बांधे गये श्लोकों में प्रक्षेप होने की भी सम्भावना होती है। जिसका उदाहरण चतुर्थांक के आरम्भ में आये चार श्लोकों में मिलता है। यहाँ पर 1. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्०, 2. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती०, 3 कर्कन्धूनामुपरि तुहिनम् और 4 पादन्यासं क्षितिधरगुरोः० ऐसे चार श्लोकों को 'अपि च', 'अपि च' करके प्रस्तुत किया है। किन्तु प्रभातवेला का समय नापने के लिए झोंपड़ी से बाहर निकला शिष्य (जब स्नान-ध्यान सब कुछ बाकी है तब) चार चार श्लोकों में प्रभात का वर्णन करें वह चिन्त्य है। पहले दो श्लोकों में व्यंजना से शकुन्तला का भावि जीवन पतन की ओर जा रहा है वह सूचित जरूर करता है, लेकिन (क) उसमें पुनरुक्ति है। तथा (ख) उसमें प्राकरणिक अर्थ व्यंजित होते हुए भी वह निश्चित रूप से अप्रासंगिक तो है ही। एवं (ग) 'अपि च' के प्रयोग का जो पूर्वोक्त स्वारस्य है वह इन पहले दो श्लोकों में घटित नहीं होता

है। अब तीसरे चौथे श्लोकों का विचार किया जाय तो उसमें 'अपि च' के प्रयोग का स्वारस्य घटित होता है। शिष्य पहले कर्कन्धूनाम्० वाले श्लोक से अपने सामने स्थित वनस्पति एवं मयूर की अंगडाई का अवलोकन करे, तत्पश्चात् चौथे श्लोक में, दृष्टि उठाके सामनेवाले आकाश में अस्त होता हुआ चन्द्रमा देखे तो उसमें द्विपार्श्वी दृश्य का निरीक्षण प्रस्तुत हो रहा है। इस लिए उसमें पुनरुक्ति भी नहीं है। तथा ऐसे वर्णन में ही प्रासंगिकता भी झलकती है। सही स्वरूप में तो तीसरे चौथे श्लोक में ही प्रभात का वर्णन मिलता है। अतः जहाँ 'अपि च' के प्रयोग से किसी दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता वर्णित नहीं होती है वहाँ प्रक्षेप का होना सर्वथा सम्भव है॥

5-0 कालिदास के काव्यों में 'अथ वा' निपात का विनियोग भी परीक्षणीय है। व्याकरण की दृष्टि से पहले सोचें तो 'अथ' का अर्थ प्रारम्भ होता है, एवं 'वा' से विकल्प या पक्षान्तर दिखाया जाता है। जहाँ दोनों की सहोपस्थिति है वहाँ नये पक्ष का आरम्भ प्रस्तुत करने का खयाल होता है। कालिदास जब ऐसे 'अथ वा' निपात का प्रयोग करते हैं तो वहाँ केवल नये पक्षान्तर की प्रस्तुति ही नहीं होती है, वहाँ नये, लेकिन अभीष्ट हो ऐसे नये पक्षान्तर की प्रस्तुति की जाती है। उदाहरण के रूप में, इस नाटक में कण्वाश्रम में प्रविष्ट हुआ दुःषन्त बोलता है कि, इदमाश्रमद्वारम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्) शान्तमिदमाश्रमपदं, स्फुरति च बाहुः, कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ (अभि. शाकु. 1.15) कालिदास कथाप्रवाह में जहाँ पर भी अभीष्ट पक्षान्तर को उपस्थापित करना चाहते हैं वहाँ 'अथ वा' निपात का विनियोग करते हैं। इस स्वारस्य को याद रखेंगे तो हम अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के श्लोकों में कहाँ संक्षेप हुआ है वह जान सकेंगे॥

5-1 'अथवा' निपात से बाँधे गये दो श्लोकों में जहाँ संक्षेप-लीला खेली गई है उसका उदाहरण नीचे दिया गया है :- (बंगाली वाचना के पाठ में) शकुन्तला के वल्कल के लिए निम्नोक्त संवाद-शृंखला प्रस्तुत होती है :

राजा- (आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला। (सविस्मयम्) अहो असाधुदर्शी तत्रभवान् कण्वो य इमां वल्कलधारणे नियुक्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपः क्लमं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥1-17॥

भवतु, पादपान्तरितो विश्वस्तां तावदेनां पश्यामि । (इत्यपवार्य स्थितः)

शकुन्तला – हला, अणुसूए, अदिपिणणेण एदिणा वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिदम्हि । ता सिढिलेहि दाव णं । (अनुसूया शिथिलयति), (सखि अनुसूये, अति पिनद्धेनैतेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडिताऽस्मि । तत् शिथिलय तावदेनम् ।)

प्रियंवदा – (विहस्य) – एत्थ दाव पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणारम्भं उवालहसु । (अत्र तावत् पयोधरविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व ।)

राजा – सम्यगियमाह –

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन ।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥1-18॥

अथ वा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्णाति । कुतः

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥1-19॥

बंगाली वाचना के पाठ में उपर्युक्त तीनों श्लोक मिलते हैं । (टीकाकार चन्द्रशेखर ने भी इन पर टीका लिखी है ।) किन्तु राघवभट्ट द्वारा जिस पर टीका लिखी गई है उस देवनागरी वाचना में दो ही (पहला और तीसरा) श्लोक है । (अर्थात् इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना० वाला श्लोक देवनागरी में नहीं मिलता है) अतः चर्चा करनी आवश्यक हो जाती है कि बंगाली पाठ्यांश में उपरि स्थित दूसरा श्लोक प्रक्षिप्त है या फिर देवनागरी पाठ में उसका संक्षेप हुआ है ? जैसा कि पहले कहा गया है कालिदास जब एक विचार की प्रस्तुति करते हैं तो वहाँ तर्क की दृष्टि से प्रतिपक्ष में भी कोई विरोधी, किन्तु अभीष्ट विचार प्रस्ताव के योग्य होगा तो

उसको तुरन्त 'अथवा' निपात से अवतारित कर ही देते हैं। उदाहरण के रूप में क्व सूर्यप्रभवो वंशः, क्व चाल्पविषया मतिः। इत्यादि (रघुवंशम् 1-2) लिखने के बाद तो, काव्यसर्जन के लिये उद्यत हुए कवि को उस कर्म से विरत ही हो जाना चाहिये। लेकिन हमारे कवि यहाँ तुरन्त 'अथवा' निपात का प्रयोग करते हुए अभीष्ट पक्षान्तर को प्रस्तुत कर देते हैं कि - अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघुवंशम् 1-4)

इस तरह से, सूर्यवंश अतिमहान् होते हुए भी उनके द्वारा रघुवंश का वर्णन कैसे सम्भव है वह लिख देते हैं।

(बंगाली पाठ के अनुसार) शकुन्तला की सहेलियों के ऐसे उपर्युक्त संवाद को सुन कर वृक्ष के पीछे खड़े दुःषन्त ने दो (18 एवं 19) श्लोकों का उच्चारण किया है। और इन दोनों के बीच में 'अथवा' निपात का विनियोग किया है। श्लोक - 18 में पहले कहा गया है कि स्तन-युगल के विस्तार को वल्कल से बांधा गया है, जिससे शकुन्तला का अभिनव शरीर अपनी निजी शोभा को नहीं बढ़ाता है। जैसे कि पाण्डु पर्णों के अन्दर बांधे गये पुष्प शोभा नहीं देते हैं। इतना कह देने के बाद नायक को अपने विचार में रहा एक सूक्ष्म दोष भी दिखाई देता है। अभी जो कहा गया है उसका मतलब तो यही होगा कि शकुन्तला के सौन्दर्य को निखार ने के लिए वल्कल नहीं, किन्तु कुछ अच्छे वस्त्र होने चाहिए। नायक तुरन्त अपने वाग्दोष को सुधार ने के लिए, (स्वोक्तिम् आक्षिपति-अथवेति।) 'अथ वा' शब्द का प्रयोग करता हुआ, इस सन्दर्भ में एक नया पक्षान्तर प्रस्तुत करता है कि वल्कल भी उसकी शोभा नहीं बढ़ाते हैं ऐसा नहीं है। क्योंकि जो मधुर आकृति वाले लोग होते हैं उसको तो सब कुछ अच्छा ही लगता है॥

इस तरह से पूरे नाटक में, जहाँ जहाँ पर अमुक विचार को प्रस्तुत करने के बाद पक्षान्तर में दूसरा विचार भी कहना तर्क की दृष्टि से अनिवार्य लगता है तो कवि ने वहाँ 'अथवा' का प्रयोग किया है। अर्थात् 'अथवा' निपात से अवतारित

किये दो दो श्लोकों का (बंगाली पाठ में) जो भी सन्दर्भ है उसमें मौलिक होने की सम्भावना बहुत है। तथा देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ को संक्षिप्त करनेवालों ने ऐसे 'अथवा' निपात से जुड़े दो दो श्लोकवाले सन्दर्भों को ही कटौती करने के लिए प्राय: पसंद किये हैं। राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत पाठ में उपर्युक्त श्लोक - 18 इसी कारण से नहीं मिलता है। तथा 'अथवा' से शुरू होने वाली (बंगाली वाचना के पाठ की) वाक्य-रचना भी बदल दी गई है। इस तरह से देवनागरी में इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना०। श्लोक का न होना संक्षेपीकरण का परिणाम है ऐसा सिद्ध होता है।

6-0 उच्चतर समीक्षा का निष्कर्ष - (1) अनेक बहिरंग प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बृहत्पाठ की परम्परा प्राचीनतर है। (2) उसमें भी शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित हुई काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम प्रतीत होता है। (3) देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयांक के पाठ में संक्षेप के दो असंदिग्ध पदचिह्न दिख रहे हैं। (4) काश्मीर की शारदा-पाण्डुलिपियों में गान्धर्वेण विवाहेन० श्लोक का न होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। (जिसका फोटोग्राफ मुखपृष्ठ पर दिया है।) बृहत्पाठ की रंगसूचनाओं से भी यह सिद्ध होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इस एक प्रक्षिप्त श्लोक ने शाकुन्तल नाटक के मूल पाठ में दो तरह से क्षति पहुँचाई है : (क) शकुन्तला को मृणाल-वलय पहनाना एवं शकुन्तला के नेत्रकलुषित होने का जिसमें निरूपण है वैसे दो दृश्यों की कटौती का मार्ग प्रशस्त किया, (और लघुपाठ परम्परा का जन्म हुआ) तथा (ख) यह श्लोक मैथिली से बंगाली पाठ में भी गया। जिसके कारण उनमें सुरक्षित रहा नैसर्गिक प्रेम का चित्र प्रदूषित भी हो गया। (5) इस नाटक में साद्यन्त प्रयुक्त हुई रूप-प्रतिरूप की नाट्यशैली ही आन्तरिक प्रमाण बनती है, जिससे बृहत्पाठ परम्परा के दो अधिक दृश्यों की मौलिकता प्रमाणित होती है। (6) 'अपि च', एवं 'अथवा' की यथार्थता परखने से अन्यान्य श्लोकों के सन्दर्भ में खेली गई संक्षेप-प्रक्षेपलीला निश्चित की जाती है। (७) प्राचीनतम सिद्ध

होनेवाली काश्मीर की शारदा–पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से एवं कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाणों से परिपुष्ट होनेवाली उच्चतर समीक्षा से एक 'अधिकृत पाठ' तैयार हो सकेगा। (9) ऐसे अधिकृत पाठ में आविष्कृत हुए बृहत्पाठ को लेकर इस कृति की अभिनव साहित्यालोचना की जायेगी तो सर्वथा नवीन काव्यार्थ अभिव्यक्त होगा, और वह अपूर्व रसानुभव करायेगा ॥

=o=

पादटीप

1. यद्यपि उन्होंने अपने अन्य लेख में निर्देश किया है कि उनके पास भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक शारदा–पाण्डुलिपि थी, जो डॉ. ब्युल्हर को 1875 में काश्मीर से मिली थी। जिसका क्रमांक : 192 है। द्रष्टव्य : निसर्ग कन्या शकुन्तला। (शोध–आलेख), कालिदास ग्रन्थावली, अनु. सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1964, पृ. 66
2. ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की बोडलीयन लाईब्रेरी में संगृहीत 1247 एवं 159 क्रमांक की दो पाण्डुलिपियाँ।
3. SACONTALA; OR, THE FATAL RING : AN INDIAN DRAMA By KALIDAS - TRANSLATED FROM THE ORIGINAL SANSKRIT AND PRAKRIT -by Sir William Jones (1789), online version prepared by FWP, January 2004,
4. पाण्डुलिपियों में नायक के नाम में ही दुष्यन्त के अलावा दुष्मन्त, दुष्वन्तादि पाठभेद मिलते हैं। किन्तु महाभारत में तो दुःषन्त ऐसा ही मिलता है, जो कालिदास के समक्ष रहा होगा। अतः उसे मूलगामी पाठ मानना चाहिए।
5. A chance remark made by that acute French scholar, Professor Sylvain Le'vi] in his epoch-making work, Le Theatre Indien, note-1 to page (Appendice, page 37), set me, however, on the track, and I believe that it is now possible to arrive at a text of the scene

neither too short nor too long, a text which retains only the dramatically essential elements, ...-See : Sringaric Elaboration in Sakuntala Act - 3, by S.K. Belvelkar, Pub-In the Indian Studies in Honor of C.R. Lanman, Harvard Univ-Press, 1929, pp-187-192.

6. **राजा** – सुन्दरि, त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे । दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः ॥ 3-29

7. डॉ. रिचार्ड पिशेल, डॉ. बेलवालकर एवं डॉ. दिलीप कुमार काञ्जीलाल ने इस गान्धर्वेण विवाहेन० श्लोक के सन्दर्भ में पाठालोचन के नाम पर कुछ भी टिप्पणी नहीं की है। (द्रष्टव्य A Reconstruction of the Sakuntalam, (p-68)

8. यहाँ कोई कहेगा कि सप्तमांक में दुःषन्त ने स्वयं अपने विवाह को 'गान्धर्व-विवाह' नाम दिया है । जैसे कि – इमाम् आज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिदौर्बल्यात् प्रत्यदिशन्नपरद्धोऽस्मि । तो इस वाक्य को देख कर कैसे कहेंगे कि प्रकृत श्लोक प्रक्षिप्त ही है ? इसका समाधान यह है कि किसी विवाह को गान्धर्वविवाह शब्द से परिभाषित करना एक बात है, और गान्धर्वविवाह शब्द का उपयोग करके किसी नारी को विवाह के लिए सद्यः उत्तेजित करना – वह दूसरी बात है। दुःषन्त ने इस शब्द का विनियोग करके नायिका को उकसाया है।

9. ससजाः प्रथमे पदे गुरू चेत् सभरा येन च मालभारिणीयम् इति राघवभट्टः । (पृ. 111)

10. स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयम्, प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरिदम् । (3-10)

11. इस श्लोक को वर्द्धमान ने गणरत्नमहोदधि (12वीं शती) में उद्धृत किया है।

12. अनतिलुलितज्याघाताङ्कान्मुहुर्मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते । (अ. शा. 3-15)

13. एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि० । (अ. शा. 6-22)
14. बिम्बाधरं दशसि चेत् भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् । (अ.श. 6-23)
15. राजा - उद्धृतविषादशल्यः कथयामि ।
    मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते
    यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
    तं तावद् आकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
    कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवामि । (अ.श. 7-25)
16. द्रष्टव्य : मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से प्रकाशित श्रीरमानाथ झा द्वारा संपादित : अभिज्ञानशकुन्तलम्, (मैथिल–पाठानुगम्) पृ. 75.
17. लेकिन चक्रवाक सम्बन्धी जिन तीन उक्तियाँ काश्मीरी में होने के साथ साथ मैथिली में भी मिल रही हैं वह उसी बात का साक्ष्य दे रहा है कि शाकुन्तल की उपलब्ध पाठपरम्परा काश्मीरी वाचना में से पहले मैथिली वाचना में गई होगी। अथवा ये दोनों पाठ समान–पूर्वज से प्रवर्तित हुए हो सकते हैं और तदनन्तर ही वह पाठ बंगाली में गया होगा।
18. निसर्ग कन्या शकुन्तला : शीर्षकवाला आलेख, जो कालिदास–ग्रन्थावली, (तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59 से 70), अनुवादक : सीताराम चतुर्वेदी ने अलीगढ़ से 1962 में प्रकाशित किया है वह बार बार द्रष्टव्य है।
19. यह श्लोक वंशस्थविल वृत्त में लिखा गया है।
20. यह श्लोक शिखरिणी वृत्त में लिखा गया है।
21. टीकाकार चन्द्रशेखर ने ऐसे सन्दर्भों के लिए लिखा है कि - स्वोक्तिम् आक्षिपति - अथवेति ।
22. कालिदास अकादेमी एवं विक्रम युनिवर्सिटी, उज्जयिनी द्वारा आयोजित कालिदास–समारोह (24-29 नवम्बर, 2012) में प्रस्तुत शोध–आलेख।

=o=

Biblography

Belvalkar, S-(1965)- The Abhijnana-sakuntala- Delhi : Sahitya Akademi.

Patankar, P-N-(1902)-The Abhijnana-sakuntalam, A purer Devanagari recension]-Poona:Shiralkar-Co.,BoodhwaraPeth.

Pischel,R-(1876)(Second edition - 1922).-Kalidasa's Sakuntala, an ancient Hindu drama, - Cambridge : Harvard University Press.

Thakore, B-(1922)-The Text of the Sakuntala- Bombay : D-B Taraporewala Sons - Co.m Fort, Bombay.

बेलवालकर, एस. के. (1962) वि.स. 2019. निसर्ग कन्या शकुन्तला. सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रन्थावली (हिन्दी अनुवाद के साथ) (pp. तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59-70, अलीगढ, भारत प्रकाशन मन्दिर.

भट्ट, राघव. (2004) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अर्थद्योतनिकया टीकया समेतम्) दिल्ली, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान.

रंगाचार्य, च. (1982) अभिज्ञानशाकुन्तम् (काटयवेमविरचितया कुमारगिरिराजीया व्याख्यया समेतम्). हैदराबाद : आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकादेमी.

रमानाथ झा, (1957). अभिज्ञानशकुन्तलम् (मैथिल पाठानुगम्), शंकर-नरहरिकृतटीकाभ्यां समलंकृतम् । दरभंगा, मिथिला विद्यापीठ.

विश्वेश्वर. (1985). ध्वन्यालोकः (हिन्दी अनुवाद के साथ). वाराणसी : ज्ञान–मण्डल लिमिटेड.

=o=

[3]

अभिज्ञानशाकुन्तल - कृति-समीक्षा से पाठ-समीक्षा
(तृतीय अङ्क के विशेष सन्दर्भ में)

भूमिका : पाठसमीक्षा की प्रक्रिया में दो स्तर होते हैं :- 1. निम्न स्तरीय पाठसमीक्षा और 2. उच्च स्तरीय पाठसमीक्षा। पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ में जब अशुद्धियाँ, खण्डितांश, विविध पाठभेद एवं प्रक्षेपादि दिखाई देते हैं तब प्रथमतः निम्न स्तरीय पाठ-समीक्षा की जाती है। जिसमें अभीष्ट कृति का पाठ निश्चित पद्धति से परिशुद्ध स्वरूप में तैयार किया जाता है। तथा विभिन्न पाण्डुलिपियों में संचरित हुए, लेकिन अमान्य किये गये पाठान्तर एवं प्रक्षेपादि को पादटिप्पणी में प्रदर्शित भी किया जाता है। इस तरह की समीक्षितावृत्ति में अधिकृत पाठ के रूप में स्थापित किया गया पाठ मूल कवि ने ही लिखा होगा या नहीं ? उसकी भी प्रमाण-पुरस्सर परीक्षा करने के लिये (स्वतन्त्र रूप से) "उच्च स्तरीय पाठसमीक्षा" की भी आवश्यकता रहती है। पाठसम्पादक को इस द्वितीय स्तर की पाठसमीक्षा में पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से बाहर निकल के सोचना होता है। पाण्डुलिपियों में संचरित हुए विविध पाठभेदों में से प्राचीनतम या बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में ग्राह्य रह गये पाठ का (अधिकृत पाठ के रूप में) चयन कर लेने के बाद भी, अमुक पाठ मूल ग्रन्थकार या कवि के द्वारा ही लिखा गया है ऐसा सुसम्बद्ध अनुमान प्रस्तुत करने के लिये कुछ अन्य समर्थक हेतु एवं सामग्री की भी आवश्यकता रहती है।

अतः इस द्वितीय स्तर की पाठ-समीक्षा में - 1. कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना (=पूर्वापर सन्दर्भों में कही गई बातों में सुसंगति है या नहीं उसकी परीक्षा की जाती है। अर्थात् कृति के दो वाक्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं होना चाहिये।) 2. कृति में आदि से लेकर अन्त तक कवि की निरूपण शैली, 3. बहिरंग प्रमाण के रूप में कवि ने अपने पुरोगामी ग्रन्थों से कौन सी सामग्री ली है एवं अनुगामी

कविओं पर क्या प्रभाव डाला है – उसका विश्लेषण एवं परीक्षण भी किया जाता है। इस तरह की उच्च स्तरीय पाठ–समीक्षा में उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से सोचना आवश्यक है। पाठसम्पादक आरम्भ में तो जब पाण्डुलिपियों के साक्ष्य को लेकर सोचता है, तब (अर्थात् निम्न स्तरीय पाठसमीक्षा में) तो वह पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ अनुमान क्या निकाला जा सकता है – उस पर ही ध्यान रखते हुए आगे बढ़ता है। लेकिन उच्च स्तरीय पाठसमीक्षा के दौरान उसे कृतिसमीक्षा से पाठसमीक्षा करनी चाहिये, जो अधिक फलदायिनी सिद्ध होगी। क्योंकि यहाँ पर आत्मलक्षिता से बचते हुए, कृतिनिष्ठ ठोस प्रमाणों से यदि पाठ की मौलिकता सिद्ध की जाती है, तो उसमें सर्वसम्मति प्राप्त होने की योग्यता भी रहती है। प्रस्तुत आलेख में, इसी दृष्टिकोण से अभिज्ञान–शकुन्तल नाटक के तृतीयाङ्क की पाठसमीक्षा करने का लक्ष्य रखा है॥ (यहाँ यह ध्यातव्य है कि शाकुन्तल के तीन पाठ्यांश 1. तीसरे अङ्क का शृङ्गारिक अंश, 2. पञ्चमाङ्क का आरम्भ, तथा 3. सप्तमाङ्क का प्रवेशक – मुख्य रूप से विवादास्पद रहे हैं॥)

[1]

महाकवि कालिदास का अभिज्ञानश(शा)कुन्तल नाटक संस्कृत नाट्यसाहित्य में सर्वश्रेष्ठ है, तथा विश्वनाट्यसाहित्य में भी यही नाटक अग्रगण्य है। सारे संसार के विद्वानों ने बहुविध पाण्डुलिपियों का उपयोग करके इस नाट्यकृति की अनेक समीक्षित आवृत्तियाँ प्रकाशित की है। लेकिन इनमें से एक भी समीक्षित आवृत्ति का पाठ अद्यावधि सर्वस्वीकृत नहीं हो सका है। शाकुन्तल के विविध संस्करणों का प्राथमिक परिचय किया जाय तो सर विलीयम्स जॉन्स ने बंगाली पाण्डुलिपियों में संचरित हुए अभिज्ञानशकुन्तल की देवनागरी वाचना का पाठ प्रकाशित किया (प्रथमावृत्ति :– 1853)। (लेकिन उनके सामने राघवभट्ट की अर्थद्योतनिका टीका नहीं थी)। रिचार्ड पिशेल ने ई. सन्. 1876 में बंगाली पाण्डुलिपियों के आधार पर बंगाली वाचना (Pichel, 1876 (First Ed), 1922 (Second Ed.) समीक्षित पाठ प्रथम बार प्रकाशित किया। उसी तरह से श्री

रमानाथ झा (1957) ने शङ्कर एवं नरहरि की टीकाओं के साथ मैथिली-वाचना के पाठ का प्रथम बार प्रकाशन किया। यद्यपि अधिकांश विद्वान ऐसे हैं जो मैथिली वाचना का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकारते हैं। क्योंकि इस वाचना का साम्य बहुशः बंगाली वाचना के साथ सद्यः प्रतीत होता है। प्रोफे. ब्युह्लर ने 1873 में कश्मीरी (शारदालिपि में लिखी) पाण्डुलिपि ढूँढ निकाली थी, और प्रोफे. एस. के. बेलवलकर ने उसका महत्त्व मूल आदर्शप्रति (Archetype) के समान मान के, उसी के आधार पर कश्मीरी-वाचना (बेलवलकर, 1965) का तथाकथित पाठ निर्धारित किया है। उसके बाद, 1904 ई. स. में T. Foulkex[3]ने ग्रन्थ, तेलुगु इत्यादि दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होनेवाले अभिज्ञानशाकुन्तल के विविध पाठान्तरों का संग्रह प्रकाशित किया। तब से विद्वज्जगत् को शाकुन्तल की दाक्षिणात्य वाचना भी है इसकी जानकारी मिली। आन्ध्र प्रदेश संस्कृत अकादेमी, हैदराबाद के द्वारा काटयवेम की कुमारगिरिराजीया टीका के साथ अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रकाशन 1982 ई.स. में हुआ है, उसमें दाक्षिणात्य वाचना का पाठ देखा जा सकता है॥

इस तरह से करीब दो सो वर्षों की कालावधि में पाण्डुलिपियों में संचरित हुऐ पाठवैविध्य की निम्न स्तरीय पाठ-समीक्षा करने से विद्वानों को ज्ञात हुआ है कि अभिज्ञानशा(श)कुन्तल नाटक का पाठ पँचविध वाचनाओं में प्रवहमान हुआ है। इन में से बंगाली, मैथिली एवं कश्मीरी वाचना में नाटक का बृहत्पाठ संचरित हुआ है। तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में नाटक का लघुपाठ दिखाई देता है। यहाँ प्रश्न होगा कि इन पाँचों वाचनाओं में से कौन सी वाचना में कालिदास ने ही लिखा हुआ पाठ सुरक्षित रहा होगा। अथवा इन पाँचों वाचनाओं में जहाँ जहाँ जो भी मौलिक अंश सुरक्षित रहा हो उसको कैसे पहचाना जाये। इस दिशा में सब से पहला संनिष्ठ प्रयास गुजरात के प्रोफे. बलवन्तराय ठाकोर (B.K. Thakore, 1922) ने किया था। उन्होंने प्रथम अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् (1919, पूना) में कहा था कि इस नाटक की तीन वाचनायें तो क्या, केवल दो वाचनायें भी होना वह किसी भी शिष्ट/शिक्षित मानवप्रजा को सम्भवतः मान्य नहीं होगा। किन्तु अभी तक जो काम हुआ है उसमें, जैसा कि उपर कहा गया है – अलग अलग

प्रान्तों की पञ्चविध वाचनायें ही प्रकाश में आयी हैं। उनमें से कोई एक पाठ जो निश्चित रूप से केवल कालिदास ने ही लिखा हो ऐसा पाठ अभी तक सामने नहीं आया है। अतः शाकुन्तल का एक विश्वसनीय पाठ, जो सर्वमान्य हो सके ऐसा पाठ तैयार करने के लिये उच्चतर पाठ-समीक्षा करने की आवश्यकता है ॥

प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी ने इस दिशा में जो प्रयास किये हैं वह ध्यानास्पद हैं। यद्यपि मार्गदर्शक हो सके ऐसे उनके शोध-आलेख होते हुए भी परिस्थित में वस्तुतः कोई सुधार नहीं हुआ है[5]। क्योंकि आज भी शाकुन्तल का पँचविध पाठ ही प्रचार में है, और इन में से कौन सी वाचना का पाठ विश्वसनीय माना जाय इस विषय में एकमति का सर्वथा अभाव है। जैसे कि - 1. प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी ने नातिलघु और नातिबृहत् हो ऐसे कश्मीरी वाचना के पाठ को चूना है। 2. प्रोफे. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बंगाली वाचना में संचरित हुए पाठ को प्राचीनतम सिद्ध किया है, लेकिन साथ साथ उसे ही मौलिक भी मान लिया है। 3. काशी के पण्डितमूर्धन्य श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी ने देवनागरी वाचना के पाठ को ही कालिदास-प्रणीत माना है ॥

प्रस्तुत आलेख में शाकुन्तल नाटक के तृतीयाङ्क के दो तरह के पाठों का परिचय प्राप्त करके उसकी उच्च स्तरीय पाठ-समीक्षा करने का उपक्रम किया जा रहा है। यहाँ कृति-निष्ठ आन्तरिक सम्भावनाओं की चर्चा सोदाहरण की जायेगी। जिसको देख कर सुज्ञ पाठक को प्रतीति होगी कि तृतीयाङ्क का उपर्युक शृङ्गारिक अँश, जो बंगाली (एवं मैथिली) वाचना में उपलब्ध होता है वह मौलिक हो सकता है ॥

[2]

अभिज्ञानशकुन्तल के तृतीयाङ्क में गान्धर्व-विवाह का वर्णन किया गया है। इस अङ्क की दृश्यावली दो स्वरूप की है। देवनागरी वाचना में संचरित हुए तृतीयाङ्क के पाठ में कुल मिला के 24 श्लोक हैं। किन्तु बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में 41 श्लोक हैं। केवल श्लोकसंख्या को देखने से मालूम होता है कि

देवनागरी वाचना की अपेक्षा से बंगाली-वाचना के श्लोक करीब दुगुने हैं। अतः तृतीयाङ्क के लघुपाठ एवं बृहत्पाठ की दृश्यावली में क्या अन्तर है वह द्रष्टव्य है :- यहाँ विशेष रूप से जिस अंश में संक्षेप या प्रक्षेप की स्थित प्रवर्तमान है वह भाग निम्नोक्त है :-

देवनागरी वाचना में दोनों सखियाँ मृगपोतक को अपनी माता के साथ संयोजित करने का बहाना बनाती हैं। और शकुन्तला जब अपने को अशरणा मेहसूस करने लगती है तब दोनों सखियों ने कहा कि - **पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते** ॥ इस के बाद दोनों सखियाँ लतावलय से विदा लेती है - अब नायक और नायिका के एकान्त - (रहसि) मिलन का वर्णन किया जाता है। यहाँ पर 18-19-20-21 इन चार श्लोकों के अन्तराल के बाद तुरन्त ही नेपथ्योक्ति आती है कि - **चक्रवाकवधूके आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्। उपस्थिता रजनी** ॥ और दोनों सखियाँ गौतमी का प्रवेश करवाती है। इसके प्रतिपक्ष में बंगाली वाचना का जो पाठ है उसमें सखियों की बिदा और नेपथ्योक्ति के बीच में 25-26-27-28-29-30-31-32-33-34-35-36-37, अर्थात् कुल मिला के 13 श्लोकों का समूह उपस्थित होता है। बंगाली वाचना के इतने लम्बे पाठ्यांश में कौन सी दृश्यावली रखी गई है - यह किसी भी पाठालोचक के लिये जानना अतीव आवश्यक है[6]।

1. दुःषन्त शकुन्तला को लतावलय से बाहर जाने से रोकता है। क्योंकि मध्याह्न का आतप अभी प्रखर है। फिर भी शकुन्तला बाहर जाती है और दुःषन्त वहाँ जमीन पर गिरे शकुन्तला के मृणालवलय को अपने वक्षःस्थल से लगाता है। शकुन्तला इस वलय को लेने के बहाने फिर से लतावलय में प्रविष्ट होती है और दुःषन्त उसके हाथ में मृणालवलय पहनाता है।
2. शकुन्तला जब लतावलय में पुनः प्रविष्ट होती है तब दुःषन्त नायिका को 'जीवितेश्वरी' शब्द से पुकारता है, और दुःषन्त जब मृणालवलय पहनाता है तब शकुन्तला भी दुःषन्त को 'आर्यपुत्र' ऐसा सम्बोधन करती है।
3. दुःषन्त ने मृणालवलय को जब दुबारा पहनाया, तब शकुन्तला उसे ठीक तरह से देख नहीं पाती है। क्योंकि उसके नेत्र में कर्णोत्पल की रेणु गिरने के कारण

उसकी दृष्टि कलुषित हो गई थी। दुःषन्त उसे अपने वदन-मारुत से स्वच्छ कर देता है। शकुन्तला प्रिय करनेवाले व्यक्ति पर स्वयं अनुपकारिणी बनी रहने के लिये लज्जा का अनुभव करती है। दुःषन्त शकुन्तला को चुम्बन करना चाहता है, परन्तु उसी क्षण नेपथ्य से आवाज आती है। तदुपरान्त अकेली गौतमी का प्रवेश होता है। (बंगाली पाठ में, गौतमी को लतावलय का मार्ग दिखाती प्रियंवदा और अनसूया साथ में नहीं आती है) ॥

यहाँ पर प्रश्न ऊठता है कि बंगाली वाचना का बृहत्पाठ यदि मौलिक है तो, क्या देवनागरी वाचना का लघुपाठ (रङ्गभूमि की आवश्यकता को ध्यान में लेकर किसी के द्वारा) संक्षिप्त किया गया पाठ है ? अथवा - गान्धर्व-विवाह का संयम के साथ वर्णन करनेवाला देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना का पाठ, जो अधिक व्यंजनापूर्ण लगता है वह मौलिक पाठ है और कालान्तर में बंगाली परम्परा के विद्वानों ने उपर्युक्त नवीन दृश्यावली का प्रक्षेप करके, लघुपाठ में से बृहत्पाठ बनाया है ? । इस समस्या का उत्तर ढूँढने के लिये केवल प्राचीनतम पाण्डुलिपि का साक्ष्य या बहुसंख्य पाण्डुलिपियों का साक्ष्य देखना पर्याप्त नहीं है और निर्णायक भी नहीं है। यहाँ किसी भी टीकाकार का मत भी विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि उपलब्ध टीकाकारों में से एक भी टीकाकार 15वीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। ऐसी स्थिति में, हमारे लिये निम्न स्तरीय पाठ-समीक्षा के उपरान्त उच्च स्तरीय पाठ-समीक्षा के रूप में "कृति-समीक्षा से पाठ-समीक्षा" करनी अनिवार्य बन जाती है ॥

[3]

आन्तरिक सम्भावना या कृतिनिष्ठ ठोस प्रमाण - शब्द से जो अभिप्रेत है उसको समझने के लिये एक उदाहरण देखना होगा :- (1) शाकुन्तल की प्रस्तावना करते हुए सूत्रधार ने कहा :- **अद्य खलु कालिदास-ग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तल-नामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः** । उसके बाद सूत्रधार के कहने पर नटी ने ग्रीष्म ऋतु का गीत गाया। जिसको सून

कर सूत्रधार ने कहा – **आर्ये, साधु गीतम्। अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमत् प्रकरणम् आश्रित्यैनम् आराधयामः।** – यहाँ पर, 'प्रकरण' शब्द देवनागरी वाचना का है, उसके स्थान में बंगाली एवं मैथिली वाचना में 'प्रयोगम्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। इसके उपरान्त 'चर्चा' नामक टीका में 'प्रयोगकरणेन' ऐसा तीसरा पाठभेद भी दिखाई पडता है। (जिसमें प्रकरण और प्रयोग इन दोनों शब्दों को संमिश्रित किया गया है)। संस्कृत के सभी छात्र यह जानते हैं कि दशविध रूपकों में से प्रकरण प्रकार का रूपक तो दश अङ्कों का होता है। इसी लिये शास्त्राज्ञा के दुराग्रही किसी (बंगाली या मैथिली) व्यक्ति ने 'प्रकरण' के स्थान पर 'प्रयोग' शब्द को रख कर दूसरे पाठभेद को जन्म दिया। और तीसरे किसी ने इन दोनों शब्दों को एकत्र करके 'प्रयोगकरण' जैसा इदं तृतीयम् कर दिया। राघव भट्ट जैसे आरूढ टीकाकार भी प्रकरण शब्द के विनिवेश का ध्वनि नहीं समझ पाये। यद्यपि उन्होंने परम्परागत पाठ की रक्षा तो की, किन्तु सम्भवतः बिना सूक्ष्म विचार किये "प्रकरणम् रूपकम्।" लिख दिया। मतलब कि राघव भट्ट को भी यहाँ प्रकरण शब्द के विनिवेश का प्रयोजन ध्यान में नहीं आया, और (यहाँ प्रकरण शब्द रूपक सामान्य का वाचक है – ऐसे) एक गलत व्याख्यान का जन्म हुआ। दूसरी ओर प्रतिलिपि-कर्ताओं ने नये नये पाठान्तरों को भी उद्भावित कर लिया।

वस्तुतः यहाँ इस नाटक में आगे चल कर, पञ्चम अङ्क में दुःषन्त की विस्मृति का प्रसंग आकारित होनेवाला है। दुर्वासा के शाप से दुःषन्त शकुन्तला को भूल जानेवाला है। इस केन्द्रवर्ती घटना की अभिव्यंजना करने के लिये ही महाकवि ने नाटक की प्रस्तावना में **क्षणचुम्बितानि....** वाले ऋतुगीत को सून कर मुग्ध हुए सूत्रधार के मुख से नाटक शब्द के स्थान पर प्रकरण शब्द का उच्चारण करवाया है। अन्यथा सूत्रधार ने आरम्भ में ही कहा था कि '**नवेन नाटकेन उपस्थातव्यम्...**'। लेकिन रागबद्धचित्तवृत्ति का यही परिणाम हो सकता है। अतः नटी सूत्रधार को याद दिलाती है कि – **नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तम् अभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति**। जिसके प्रत्युत्तर में

सूत्रधार ने कहा है कि – **आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि । अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया** ॥ नाटक में आगे चल कर प्रस्तुत होनेवाले विस्मरण और पुनःस्मरण का यह साङ्केतिक लघुरूप प्रस्तावना में ही रखा गया है। अतः प्रकरण शब्द से जो भावि विस्मरण का प्रसंग ध्वनित होता है – उसे आन्तरिक सम्भावना कहते हैं। यहाँ बहुसंख्य पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से या प्राचीनतम पाण्डुलिपि के साक्ष्य से यदि **प्रयोगम्** जैसे[7] पाठभेद का समर्थन होता है, तो भी उसको हटा कर **प्रकरणम्** जैसे आन्तरिक सम्भावना वाले (देवनागरी वाचना के) पाठ को ही मौलिक पाठ के रूप में स्थापित करना चाहिये ॥

(2) इसी तरह से, (देवनागरी वाचना के) द्वितीयाङ्क के अन्त भाग में करभक राजमाताओं का सन्देश लेकर आया है :– वह कहता है कि – **देव्याज्ञापयति – आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीया इति** । दाक्षिणात्य वाचना के पाठ पर काटयवेम भूप की टीका है उसमें **निवृत्तपारणो मे उपवासो...** जैसा पाठान्तर है। किन्तु बंगाली, मैथिली और कश्मीरी वाचना के पाठानुसार क्रमशः **पुत्रपिण्डपारणो, पुत्रपिण्डपालन** और **पुत्रपिण्डपर्युपासनो** – जैसे तीन पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं। यहाँ पर भी बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में कौन सा पाठ ग्राह्य रहा है, या प्राचीनतम पाण्डुलिपि किस पाठभेद को मान्यता देती है, उसको महत्त्व न देते हुए, नाटक के आरम्भ में ही नायक दुःषन्त को **"सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रम् अवाप्नुहि"** ऐसा जो आशीर्वचन मिला है । उसको ध्यान में लेकर सोचना चाहिये कि पुत्रप्राप्ति को यहाँ नाटक का लक्ष्य बताया गया है। तथा आदि से लेकर अन्त तक प्रकट या अप्रकट रूप में पुत्रप्राप्ति का उल्लेख सभी अङ्कों में होता ही रहा है । अतः यदि (सर्वत्र) देवनागरी या दाक्षिणात्य वाचना के पाठभेदों को मौलिक पाठ के रूप में मान्यता देंगे तो **प्रवृत्तपारणो** – जैसे पाठभेद से वहाँ द्वितीयाङ्क में पुत्रप्राप्ति का लक्ष्य अनुल्लिखित रह जायेगा। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रकृत स्थल में पुत्रप्राप्ति के सन्दर्भ को यदि आन्तरिक सम्भावना के रूप में स्वीकारते हैं तो बंगाली, मैथिली या कश्मीरी वाचना के पाठान्तर को ही मौलिक पाठ के रूप में मान्यता मिल सकती है ॥

आन्तरिक सम्भावना शब्द से किस तरह के प्रमाण अभिप्रेत है उसको स्पष्ट करने के लिये ये उदाहरण दिये गये हैं। और इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि आन्तरिक सम्भावनावाला पाठ केवल देवनागरी में ही हो, या केवल बंगाली में ही हो। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में हम जिस पाठ्यांश की आलोचना करना चाहते हैं वह बंगाली वाचना का तृतीयाङ्क का विस्तृत शृङ्गारिक भाग है। सामान्य रूप से तो पाठसमीक्षा का एक अधिनियम ऐसा है कि लघुपाठ की अपेक्षा से जो बृहत् एवं अलंकृत पाठ होता है वह परवर्ती काल का होता है। यद्यपि यह अधिनियम रामायण, महाभारत जैसे प्रोक्त-प्रकार[8] के ग्रन्थों के लिये एकदम सही है। क्योंकि ये ग्रन्थ अनेकर्तृक प्रकार के होते हैं। किन्तु नाटक जैसी एककर्तृक एवं अभिनेय कृति के लिये यह अधिनियम सर्वथा युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि नाट्यप्रयोग के दौरान रंगभूमि की, या समयमर्यादा की अपेक्षा के अनुसार नाट्यकृति के पाठ्यांश में प्रक्षेप या / एवं संक्षेप बार बार किये जा सकते हैं। अतः शाकुन्तल के मौलिक पाठ को ढूँढने के लिये, उपलब्ध द्विविध (बृहत्पाठ एवं लघुपाठ) पाठ-परम्पराओं की आन्तरिक सम्भावना के मानदण्ड से परीक्षा करने का यहाँ उपक्रम किया गया है॥

[4]

तृतीयाङ्क का उपर्युक्त विस्तृत वर्ण्य विषय, जो केवल बंगाली और मैथिली वाचना के अभिज्ञानशकुन्तल में ही उपलब्ध होता है उसकी मौलिकता के बारे में भूतकाल के अनेक पुरोगामी विद्वानों ने भी चर्चा की है। अतः उन गणमान्य विद्वानों के मत-मतान्तर को सब से पहले जानना आवश्यक है। तत्पश्चात् ही "कृति-समीक्षा से पाठ-समीक्षा" करने का आरम्भ किया जायेगा॥ जैसे कि -

(1) कोलकाता के प्रोफे. शरदरंजन राय (Ray, 1908, (1924, 1962) ने कहा है कि - This is slovenly in style. In substance it is silly and does not care much for decorum. The passage describes at great length how the मृणालवलय was picked up by Dushyanta and put back on the wrist of

Shakuntala. This however contradicts the poet; later on we find the मृणालवलय still lying in the grove. Compare **हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाद् ईशोऽस्मि शून्यादपि** - Infra - which is undoubtedly authentic being common to all the recensions.[13]

यद्यपि उन्होंने बंगाली वाचना के बृहत्पाठ्यांश को प्रक्षिप्त माना है, किन्तु यह प्रक्षेपवाला पाठ 12 शताब्दी में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को मालूम था - ऐसा भी श्री शरदरंजन राय ने ही बहुत पहले (1908) कहा था :-

- The interpolation, clumsy as it is must have been made at a very early dates. The Sahitya-darpana quotes the sloka चारुणा स्फुरितेनायम् etc. from the above in some 14th century; the line हृदयस्य निगडमिव मे, as it occurs here, was by Vardhamana ascribed to Kalidasa. (pp. 344).

(2) प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी (S.K., 1929) ने उपर्युक्त वलय प्रसंग के सन्दर्भ में श्रीशरदरंजन राय के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि - शकुन्तला ने केवल एक एक वलय ही दोनों हाथ में पहने थे ऐसा निश्चयात्मक रूप से कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि यहाँ **मृणालैकवलयम्** शब्द का अर्थ तो "एकमात्र मृणालतन्तु से ही बने हो ऐसे अनेक वलय भी उसने पहने होंगे" ऐसा हो सकता है। यदि राघवभट्ट (राघवभट्ट, 2006) जो कहते हैं कि - **शिथिलितं शिथिलं संजातं मृणालस्यैकं मुख्यं वलयं यत्र ।... एकम् इत्यनेन वलयान्तरासहत्वं ध्वन्यते ॥** (राघवभट्ट, पृ. 90) उसको मान लिया जाय तो भी यह तो स्वीकारना ही होगा कि शकुन्तला के दूसरे हाथ से वलय गिर सकता है।[14]

हम यह भी कह सकते हैं कि - श्री शरदरंजन राय के मतानुसार यदि मृणाल-वलय प्रसंग प्रक्षिप्त है तो, तृतीयाङ्क के अन्तिम श्लोक में जो बिसाभरण का निर्देश है उसका क्या समाधान दिया जायेगा - ऐसा प्रश्न खड़ा होता है। क्योंकि यह श्लोक तो शाकुन्तल नाटक की पाँचो वाचनाओं में एक समान रूप से ग्राह्य रहा है।

इस श्लोक में निर्दिष्ट तीन चीजों में से 1. शकुन्तला की पुष्पमयी शय्या, तथा 2. शकुन्तला का मदन-लेख अङ्क में साक्षात् निर्दिष्ट हुआ है, परन्तु मृणाल-वलय प्रसंग यदि प्रक्षिप्त होगा तो इस श्लोक में तीसरी चीज के रूप में बिसाभरण (मृणाल-वलय) का जो उल्लेख हुआ है, वह निराधार हो जायेगा । परन्तु यदि मृणाल-वलय प्रसंग को मौलिक मानते हैं तो अन्तिम श्लोक में निर्दिष्ट तीनों चीजों की संगति बैठ जाती है ॥

[5]

तृतीयाङ्क के बृहत्पाठ्यांश की मौलिकता का समर्थन करने के सन्दर्भ में प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी का जो मुख्य प्रदान है (S.K. Belvalkar, 1929) वह दो अन्य तर्क के उपर अवलम्बित है :- जैसे कि (1) सखियों की बिदा हो जाने के बाद और गौतमी के आगमन के बीच में जो अपेक्षित काल का अन्तराल होना आवश्यक है वह देवनागरी वाचना के लघुपाठ में नहीं दिखाई देता है[15] । दुःषन्त की उक्ति है :- **सुन्दरि, अपरिनिर्वाणो दिवसः ।....कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः** ॥ (3-19) और जब गौतमी का आगमन होता है तब वह बोलती है कि **वत्से, परिणतो दिवसः । तद् एहि, उटजम् एव गच्छामः** ॥ अर्थात् अङ्क का आरम्भ मध्याह्न में होता है - ऐसी प्रकट सूचना है, किन्तु (देवनागरी पाठ के अनुसार) कुछ ही क्षणों में गौतमी आती है और नेपथ्य से कहा जाता है कि शाम ढल गई है.... **उपस्थिता रजनी** । इस के प्रतिपक्ष में, मध्याह्न एवं सन्ध्या के बीच का अपेक्षित समयावधि व्यतीत होने के लिये बंगाली वाचना का जो बृहत्पाठ है उसमें वर्णित नायक नायिका का लम्बा सहचार समुचित प्रतीत होता है । अर्थात् समय-सूचना के अनुरूप विस्तारवाला पाठ केवल बंगाली एवं मैथिली वाचनाओं में ही है । नाटक जैसी साहित्यिक कृति में समय-सूचना की संगति होना - वह भी एक आन्तरिक सम्भावना है, और महाकवि कालिदास की नाट्यकृति के मौलिक पाठ को ढूँढने में वह सबल प्रमाण सिद्ध होता है ॥ प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी ने कहा है कि तृतीयाङ्क की विस्तृत शृङ्गारिक घटना मध्याह्न से सायंकाल के बीच

में व्यतीत होने का प्रमाण डॉ. रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति में जो श्लोक 18 है, जिस में सायंकाल की लम्बी होनेवाली छाया का उल्लेख है। अर्थात् - **दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः** (3-29) वह श्लोक भी समर्थक प्रमाण है । तथा (2) पिशेल की आवृत्ति का मणिबन्धनगलितमिदं....मृणालवलयं स्थितं पुरतः । (3-31) श्लोक वर्धमान (12वीं शती) ने गणरत्नमहोदधि में उद्धृत किया है, एवमेव अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये.... जनः समाश्वासित एष दुःखभाग् अचेतनेनापि सता न तु त्वया ॥ (3-32) वाला श्लोक हर्षवर्धन ने रत्नावली में उपयुक्त किया है इस लिये बंगाली वाचना का मृणालवलय प्रसंग भी, गद्य-संवादो के साथ, मौलिक मानना होगा । इस तरह प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी (1929) ने बंगाली वाचना के बृहत्पाठ का समर्थन करने के लिये बाह्य प्रमाण के रूप में हर्षवर्धन की दो नाटिकाओं - रत्नावली और प्रियदर्शिका - के कुछ शब्दसमूह एवं दृश्य-सादृश्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । और उन्होंने कहा है कि हर्षवर्धन ने महाकवि कालिदास का अनुकरण करते हुए इन दोनों नाटिकाओं में जो निरूपण किया है उससे यह सिद्ध होता है कि अभिज्ञानशकुन्तल का विस्तृत पाठ सप्तम शताब्दी के पूर्वार्ध से प्रचार में रहा है[16] ॥

इस तरह प्रोफे. एस. के. बेलवलकरजी ने शकुन्तल के बृहत्पाठ की मौलिकता एवं प्राचीनतमता सिद्ध करने के लिये जो उच्चतर समीक्षा प्रस्तुत की है, वह हमारे लिये उपकारक एवं दिशासूचक भी है। तथापि यह भी कहना होगा कि बंगाली बृहत्पाठ का समर्थन करने के बाद भी, कालान्तर में उन्होंने बृहत्पाठ के मौलिक होने का पक्ष छोड दिया होगा ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उनके अवसान के बाद, उन्होंने तैयार किये अभिज्ञान-शाकुन्तल का समीक्षित पाठ, जो साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली की ओर से डॉ. वी. राघवन ने प्रसिद्ध (1965) किया है, उसमें तो तथाकथित कश्मीरी वाचना का पाठ दिया है। उसमें उन्होंने ब्युह्लर ने ढूँढी हुई शारदालिपि की पाण्डुलिपि को आधार बनाया है। जैसा कि डॉ. वी. राघवन ने बताया है - उनकी दृष्टि में कश्मीरी वाचना का पाठ मौलिक पाठ के रूप में उनको मान्य हो सकता है[17] । (कश्मीरी वाचनावाले शाकुन्तल का जो पाठ तैयार किया है वह नातिविस्तृत एवं नातिलघु ऐसा पाठ है ।) डॉ. बेलवलकरजी ने अन्य कौन

कौन सी पाण्डुलिपियों का विनियोग किया था उसका विवरण डॉ. वी. राघवन नहीं दे पाये हैं ॥

यहाँ पर यह भी कहना आवश्यक है कि (1) मृणालवलय - प्रसंग के अनुसन्धान में ही एक दूसरा रोचक शृङ्गारिक दृश्य आता है, जिसमें शकुन्तला के नेत्र में पुष्परज गिरने के कारण उसकी दृष्टि कलुषित होने का प्रसंग निरूपित होता है। दुःषन्त उस पुष्परज को अपने वदन-मारुत से हटा कर शकुन्तला के नेत्र को स्वच्छ कर देता है। यह प्रसंग प्रक्षिप्त है या नहीं उसके लिये प्रोफे. श्री एस. के. बेलवलकरजी ने अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं। एवमेव, दूसरे भी कोई विद्वान् ने इस के बारे में सम्मति या विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई है। तथा (2) इस शृङ्गारिक दृश्यावली प्रस्तुत करनेवाले विस्तृत तीसरे अङ्क के 41 श्लोकों में से कौन कौन से श्लोक प्रक्षिप्त हो सकते हैं, उसकी भी स्वतन्त्र रूप से चर्चा किसी विद्वान ने की हो ऐसा ज्ञान नहीं है ॥

[6]

रिचार्ड पिशेल के बाद अभिज्ञानशकुन्तल के बृहत्पाठ का पुनः सम्पादन करनेवाले विद्वान् हैं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल (Kanjilal, 1980)। उन्होंने इस नाटक की सम्भवतः अधिकाधिक पाण्डुलिपियाँ और सभी टीका-सामग्री देखी है। तथा पूरे विस्तार के साथ यह सिद्ध किया है कि कश्मीर के आठवीं - नवमीं शताब्दी के प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने अभिज्ञानशकुन्तल के जिन श्लोकों का उद्धरण दिया है, उसमें बंगाली वाचना में संचरित शब्दों (पाठान्तरों) का ही समादर किया है। यद्यपि 1908 में श्री शरदरञ्जन राय (कोलकाता) ने 14वीं शती के साहित्यदर्पण में उद्धृत हुए शकुन्तल के एक श्लोक की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। लेकिन डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने तो कश्मीर के बहुत सारे आलङ्कारिकों का सन्दर्भ देते हुए यह दिखाया है कि अभिज्ञानशकुन्तल का बृहत्पाठ ही प्राचीन काल से प्रसिद्धि में रहा है। वे कहते हैं कि 10वीं शती से पूर्व में यदि शकुन्तल का बृहत्पाठ प्रचार में है, तो 20वीं शती के हम लोगों को यही पाठ अधिक श्रद्धेय है ऐसा स्वीकारना ही चाहिये[18]।

डॉ. एस. के. बेलवलकरजी ने जैसे तृतीयाङ्क की समय-सूचनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बृहत्पाठ का समर्थन किया है, उसी तरह से डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने एकान्त मिलन के दौरान अपने प्रियतम का पति के रूप में स्वीकार करने से पहले जो विस्तृत समय (सहचार) की अपेक्षा रहती है[19] उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यह भी एक सबल तर्क है, जो बंगाली वाचना के बृहत्पाठ का समर्थन करता है। डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी बंगाली पाण्डुलिपियों में संचरित हुए अभिज्ञानशकुन्तल के बृहत्पाठ को ही प्राचीनतम और मौलिक मानने का जो मताग्रह पुरस्कृत किया है, वह केवल एक व्यवहारिक तर्क उपर ही आधारित है। उसमें कृतिनिष्ठ कोई वचन का समर्थन नहीं दिया है। एवमेव, इसी बंगाली वाचना की विस्तृत शृङ्गारिक दृश्यावली में आये हुए कौन कौन से श्लोक स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्त प्रतीत हो रहे हैं - उसकी भी प्रकट आलोचना उन्होंने नहीं की है॥

[7]

शाकुन्तल के तृतीयाङ्क के शृङ्गारिक दृश्यों की मौलिकता के सन्दर्भ में पुरोगामी पाठसमीक्षकों की स्थापनाओं को देखने के बाद, प्रस्तुत आलेख में कृति-समीक्षा से पाठ-समीक्षा प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखा है। उसकी चर्चा करने का अब अवसर है :- इस तीसरे अङ्क में आये हुए 1. दुःषन्त ने शकुन्तला को पहनाये हुए मृणालवलय का प्रसंग, और 2. शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने पर दुःषन्त ने अपने वदन-मारुत से उसे निर्मल की थी यह प्रसंग कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना-युक्त है या नहीं ? यही दो प्रसंग मुख्य रूप से विवेचनीय है :- देवनागरी वाचना के लघुपाठ में शकुन्तला ने मृणालवलय हाथ में पहना है ऐसा स्पष्ट उल्लेख तीसरे अङ्क के आरम्भ में ही है, और कवि ने कहा भी है कि वह वलय 'शिथिल' हुआ है[20]। अतः उसे नीचे गिर जाने की बात सर्वथा अपेक्षित थी। कालिदास जैसे महाकवि की नाट्यकृति में जो कुछ भी कहा जाता है वह सप्रयोजन ही होता है। अतः दुःषन्त ने उस शिथिलित मृणाल-वलय को पहनाया हो ऐसा प्रसंग कालिदास के लिये

वर्ण्य विषय बनता ही है। तथा वह शिथिल था, उसी लिये फिर से वह गिरा हुआ दुःषन्त के हाथ में आ जाता है ऐसा अङ्क के अन्त में कहा गया है वह भी समुचित है। और, जो बात अङ्क के आदि और अन्त में उल्लिखित है वह अङ्क के मध्य भाग में भी हो सकती है - ऐसा मानना तर्क-विरुद्ध नहीं होगा। एवमेव, महाकवि ने केवल शकुन्तला के ही शिथिलित मृणालवलय का निर्देश किया है ऐसा नहीं है। उन्होंने तो विरही दुःषन्त के हाथों से बार बार नीचे उतर जाने वाले कनकवलय का भी निर्देश किया है[21]। दूसरा, यहाँ नगर-संस्कृति के नायक के हाथ में कनकवलय का होना और आरण्यक-संस्कृति की नायिका के हाथों में मृणाल-वलय का होना वर्णित करना - उसमें हम एक संतुलित कलाकृति का लक्षण भी देख सकते हैं।

इस मृणाल-वलय के प्रसंग का मूलगामी पाठ में होना एक अन्य आन्तरिक सम्भावना से भी समर्थित होता है उसकी ओर भी सत्यान्वेषी साहित्यरसिकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है :- जिस लता-वलय में दुःषन्त-शकुन्तला का एकान्त मिलन होता है वहाँ आरम्भ में शकुन्तला लता-वलय से बहार चली जाती है। तब दुःषन्त शकुन्तला के मणिबन्धन से गलित हुए मृणालवलय को देखता है, जो उसे "हृदयस्य निगडम् इव" लगता है[22], उसको ऊठा लेता है और अपने गले लगाता है। तब उस वलय को वापस लेने के बहाने शकुन्तला लता वलय में पुनःप्रविष्ट होती है। यहाँ प्रिया शकुन्तला को देखते ही दुःषन्त सहर्ष बोलता है :- "अये, जीवितेश्वरी मे प्राप्ता।" इसके बाद, दुःषन्त मृणाल-वलय को वापस लौटाने के लिये एक अभिसन्धि (शर्त) रखता है कि वह उसके हाथ में पहनाये, जो शकुन्तला मंजूर रखती है। दुःषन्त ने जब शकुन्तला के हाथ में उसे पहनाया तब शकुन्तला के मुख से "त्वरताम् त्वरताम् आर्यपुत्रः।" ऐसा सम्बोधन निकल जाता है। कङ्कण-स्वरूप मृणाल-वलय पहनाने के अवसर पर शकुन्तला के मन में दुःषन्त के लिये पतिभाव प्रकट हुआ हो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस दृष्टि से, मृणाल-वलय प्रसंग में नायक-नायिका ने परस्पर जो "जीवितेश्वरी" और "आर्यपुत्रः" कहा है, वह क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि आगे चल कर जब

षष्ठाङ्क में (दुःषन्त-नामधेयाङ्किता मुद्रिका मिल जाने के बाद) कदाचित् अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों के सामने विरही दुःषन्त के मुख से "गोत्र-स्खलन" हो जाता है ऐसा निरूपण आता है[23] तो वह बिलकुल निराधार है ऐसा नहीं लगता है।

किन्तु देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में तो यह मृणाल-वलय का प्रसंग नहीं है। अतः वहाँ षष्ठाङ्क में गोत्र-स्खलन का निर्देश आने पर उसका कोई पूर्व-निर्दिष्ट आधार नहीं मिलता है। कहने का तात्पर्य यही है कि बंगाली वाचना में मृणाल-वलय का प्रसंग है और उस प्रसंग के निमित्त से दोनों के चित्त में जो सहज दाम्पत्यभाव प्रकट हुआ था उससे ही षष्ठाङ्क में दुःषन्त से अनजान में होनेवाले गोत्र-स्खलन की स्वाभाविकता प्रतीतिकर बनती है। और इस तरह से षष्ठाङ्क में आनेवाला गोत्र-स्खलन का निर्देश हमारे लिये मृणाल-वलय का समर्थक प्रमाण बनता है।

[8]

अब तृतीयाङ्क में जो दूसरा विवादस्पद प्रसंग है उसकी पाठ-समीक्षा की जा रही है :- शकुन्तला की दृष्टि पुष्परज से कलुषित होने पर दुःषन्त उसे अपने वदन-मारुत से निर्मल कर देता है - उस प्रसंग की मौलिकता कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य से समर्थित होती है या नहीं ? इस विषय में सम्भवतः किसी ने नहीं सोचा है। यहाँ, शकुन्तला के नेत्र पुष्परज से कलुषित होने जैसे कोई प्रसंग की हम अपेक्षा रख सकते हैं या नहीं ? यही बात प्रथमतः विचारणीय है :- प्रथमाङ्क में वृक्षसेचन के दौरान परिश्रान्त हुई शकुन्तला का दुःषन्त ने वर्णन किया है, इस श्लोक में कहा गया है कि, स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं, बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः (शाकु. 1-26, राघवभट्ट, पृ. 47) अर्थात् शकुन्तला अपने कर्णों में शिरीष आदि पुष्पों को लगाती थी। और इसी लिये षष्ठाङ्क में शकुन्तला का चित्र अंकित करते हुए दुःषन्त ने फिर से कहा भी है कि - कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमा-गण्डविलम्बिकेसरम्। न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ (शाकु. 6-18, राघवभट्ट, पृ.

213) इस तरह शकुन्तला अपने कानों में प्रसाधन के रूप में पुष्प लगाती थी, और इसी लिये कदाचित् उसके नेत्र में पुष्परेणु गिरने की सम्भावना (एवं अपेक्षा) तो थी ही यह बात कृति-निष्ठ वाक्यों से ही समर्थित होती है। लेकिन यहाँ ऐसे प्रश्न का उत्तर देने के लिये उच्च स्तरीय समीक्षा को मान्य हो ऐसा भी कोई प्रमाण देना आवश्यक है ॥

महाकवि कालिदास ने इस नाट्यकृति की दृश्यावली में सर्वत्र एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की जो कलात्मक सर्जनविद्या का साद्यन्त विनियोग किया है उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने की जरूरत है। जैसा कि - 1. प्रथमाङ्क में मृगया-विहारी दुःषन्त का कण्वमुनि के आश्रम में प्रवेश होते ही - न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्... शब्द सुनाई पड़ते हैं, वैसे ही सप्तमाङ्क के आरम्भ में "मा चापलम् कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्।" शब्द नेपथ्य से आते हैं। यहाँ प्रथमाङ्क में शिकारी दुःषन्त का जो एक रूप प्रस्तुत किया था, उसका ही दूसरा प्रतिरूप सिंहबाल के साथ खेल रहे सर्वदमन का खड़ा किया गया है। 2. प्रथमाङ्क में भ्रमर-बाधा प्रसंग वर्णित करने के बाद, कवि ने षष्ठाङ्क में वही दुःषन्त भ्रमरोपदेश करता है[24] ऐसा भी निरूपण किया है। 3. द्वितीयाङ्क के अन्त में यज्ञक्रिया में राक्षसोपद्रव को संयमित करने के लिये दुःषन्त प्रस्थान करता है - ऐसा जो एक रूप (दृश्य) प्रस्तुत किया है, उसके सामने (प्रतिदृश्य के रूप में) षष्ठाङ्क में मातलि ने मेघप्रतिच्छन्द प्रासाद में विदूषक को पकड़ लिया है और दुःषन्त उसे छुड़ाने के लिये शरासन धारण करता है। 4. एवमेव, द्वितीयांक के आरम्भ में विदूषक मृगया से संत्रस्त, विषण्ण हुआ है। उसके सामने, षष्ठांक के आरम्भ में भी धीवर को मारा-पिटा जा रहा है। तथा विदूषक हस्तिस्कन्ध पर बैठ कर, युवराज बनके हस्तिनापुर वापस लौटता है। तो धीवर भी शूली से उतर कर हस्तिस्कन्ध पर समारोपित होने का भाव महेसूस करता है। 5. तृतीयाङ्क में महाकवि ने संभोग-शृङ्गार का निरूपण किया है, तो षष्ठाङ्क में उसके प्रतिरूप में विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन किया है। और इन दोनों के बीच में, चतुर्थाङ्क में पितृ-वात्सल्य का अनन्य एवं अभूतपूर्व आलेखन किया है। 6. तृतीयाङ्क में शकुन्तला अपनी

अस्वस्थ शरीरदशा का रहस्योद्घाटन करते हुए कहती है कि -सखि, यतः प्रभृति मम दर्शनपथम् आगतः स तपोवन-रक्षिता राजर्षिः, तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतद् अवस्थास्मि संवृत्ता। यहाँ दुःषन्त सहर्ष बोलता है कि श्रुतं श्रोतव्यम्। इस दृश्य के सामने, प्रतिदृश्य के रूप में पञ्चमाङ्क में जब शकुन्तला दुःषन्त की अंगुठी नहीं दिखा सकती है तब वह मृगपोतक की एकदा घटित बात सुनाने का प्रस्ताव रखती है। तब यहाँ दुःषन्त शकुन्तला का उपहास करता हुआ कहता है कि - श्रोतव्यम् इदानीं संवृत्तम्। इस तरह महाकवि ने सम्पूर्ण कृति में एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप (एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य) खड़ा करने की स्पृहणीय निरूपण-शैली का मार्ग अपनाया है। यह निरूपण-शैली भी हमारे लिये कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य बन सकती है, और उसके आधार पर बंगाली (और मैथिली) वाचना के तृतीयाङ्क में शकुन्तला की दृष्टि कर्णोत्पल रेणु से कलुषित होने का जो प्रसंग वर्णित किया है उसका समर्थन किया जा सकता है। जैसे कि - तृतीयाङ्क में दुःषन्त ने अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि निर्मल कर दी थी - उसी एक दृश्य के सामने, षष्ठाङ्क में कवि ने दूसरा प्रतिदृश्य भी खड़ा किया है। धीवर के पास से जब शकुन्तला के हाथ से गिरी मुद्रिका मिल जाती है और दुःषन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो जाता है तब शकुन्तला का चित्रांकन करते हुए वह एक श्लोक बोलता है :-

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
> पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बित-वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुम् इच्छाम्यधः,
> शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥6-17॥

इसमें कहा गया है कि मुझे (दुःषन्त को) इस चित्र में बह रही मालिनी नदी का बालुका में बैठा एक हंस-मिथुन आकारित करना है। हिमालय की उपत्यका के पास में बैठे हरिणों के समूह को बनाना है। वृक्ष की डालियों पर कुछ वल्कल वस्त्र टाँगे हो एवं उस वृक्ष के अधो भाग में कृष्णमृग के शृङ्ग पर अपना वाम-नेत्र खूजलाती हुई एक हरिणी भी चित्रित करने की चाहत हो रही है। - यहाँ

''कण्डूयमानां मृगीम्'' का जो चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की गई है वह निरतिशय व्यञ्जना पूर्ण है। षष्ठाङ्क में वर्णित इस प्रसंग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से तृतीयाङ्क में निरूपित शकुन्तला के नेत्र कलुषित होने के प्रसंग के साथ ही है। वहाँ पर दुःषन्त ने जब अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि को निर्मल कर दी थी। दुःषन्त ने इसी तृतीयाङ्क के प्रसंग को स्मरण-पट में रख कर एक प्रतिदृश्य के रूप में, यह ''कण्डूयमानां मृगीम्'' का चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की है। इस तरह एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य खड़ा करने की जो निरूपण शैली समग्र कृति में बार बार दिखाई देती है उसको तार्किक दृष्टि से ही आन्तरिक सम्भावना के रूप में स्वीकारना चाहिये। अतः तृतीयाङ्क में शकुन्तला का नेत्र कलुषित होने पर दुःषन्त ने उसे अपने वदन-मारुत से स्वच्छ कर दिया था ऐसा एक प्रसंग जो बंगाली वाचना में निरूपित किया गया है, वह प्रक्षिप्त नहीं है, बल्कि सर्वथा मौलिक है - ऐसा मानने को हम बाध्य हो जाते हैं॥

[9]

यहाँ जो कृति-समीक्षा से पाठ-समीक्षा करने का उपक्रम रखा है उसमें महाकवि की प्रतीक-योजना का भी विश्लेषण करना अतीव उपकारक सिद्ध होगा। जैसा कि - कवि ने शकुन्तला के लिये मुख्य रूप से तीन प्रतीकों का विनियोग किया गया है :- 1. हरिणी, 2. कमल और 3. शकुन्त (पक्षी) महाकवि कालिदास ने इन तीनों प्रतीकों का साद्यन्त उपयोग करते हुए ही नाट्यकार्य का विकास प्रदर्शित किया है। प्रथम उदाहरण के रूप में शकुन्तला के लिये हरिणी का प्रतीक जो समग्र कृति में प्रयुक्त गिया गया है वह तो सुविदित है। लेकिन इस प्रतीक के द्वारा महाकवि ने नाट्यकार्य का कैसे विकास होता हुआ वर्णित किया है वह ज्ञातव्य है। शकुन्तला के लिये प्रयुक्त प्रतीक यदि हरिणी है, तो हरिणी को किसी शिकारी की अपेक्षा होगी ही। वह शिकारी यहाँ दुःषन्त है, और नाटक का आरम्भ ही मृगया-विहारी दुःषन्त के प्रवेश से होता है। नाटक का आरम्भ जिस स्थिति से शूरु होता है, उसमें आगे चल कर बहुत कुछ परिवर्तन / विकास आ गया है ऐसा

महाकवि दिखाना चाहते हैं। दुःषन्त शिकारी बनके तो कदापि हरिणी स्वरूपा शकुन्तला को प्राप्त नहीं कर सकता है - ऐसा महाकवि का तत्त्वदर्शन है। क्योंकि सौन्दर्य को प्राप्त करने के लिये स्वयं को भी सौन्दर्ययुक्त बनना होता है। अतः हरिणी को (हृदय से) प्राप्त करने के लिये शिकारी को भी हरिण बनना पड़ेगा यह बात स्पष्ट है। षष्ठाङ्क के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि दुःषन्त अब विश्वसनीय हरिण बनके हरिणी के सामने खड़ा रहना चाहता है, जिससे उसके शृङ्ग पर वह हरिणी आश्वस्त हो के अपने वाम-नयन को खूजला सके।

यहाँ दूसरा ध्वनि यह है कि (पञ्चमाङ्क के) शकुन्तला-प्रत्याख्यान प्रसंग में मुद्रिका नहीं मिलने पर शकुन्तला ने दुःषन्त को एकदा एकान्त में हुई बात का स्मरण दिलाने की कोशिश की। वह कहती है कि एकबार नवमालिका के मण्डप में दुःषन्त के हाथ का पानी दीर्घापाङ्ग नामक मृगपोतक ने नहीं पिया, तब वही जलपात्र शकुन्तला ने अपने हाथ में लिया और दीर्घापाङ्ग ने तत्क्षण उसमें से जल पी लिया। इसको देख कर दुःषन्त ने उपहास करते हुए कहा था :- समान गन्धवाले प्राणी समान गन्धवाले में ही विश्वास करते हैं। आप दोनों जंगल के ही तो निवासी हैं। यहाँ पर दुःषन्त ने अपने आपको नागर कहा और शकुन्तला को आरण्यक कही। इस विषमता को जब तक नहीं मिटाया जाय तब तक दोनों के दाम्पत्य में सुसंगतता कैसे सिद्ध हो सकती है? दुःषन्त जब तक हरिण बनके खड़ा न रहे, अर्थात् वह भी शकुन्तला का सगन्ध-सखा न बने तब तक दोनों का मिलन होना महाकवि को मंजूर नहीं है। अतः दुःषन्त जिस चित्र को आलिखित करने जा रहा है, उसमें तरु की छाया में खड़ा हरिण और कोई नहीं है, वह दुःषन्त ही है। हरिणी स्वरूपा शकुन्तला को वामाङ्गी के रूप में प्राप्त करने की योग्यता शिकारी में नहीं थी, वह तो हरिण बनने से ही सिद्ध होगी - यह बात संकल्पित चित्र का वर्णन करते हुए दुःषन्त ने गहरी मार्मिकता से व्यक्त की है॥

[10]

बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क का विस्तृत शृङ्गारिक अंश प्रक्षिप्त नहीं है, किन्तु मौलिक है - यह दिखाने के लिये यहाँ जो चर्चा उपस्थापित की गई है उसके

समर्थन में अब केवल दो बिन्दु जोड़ना अवशिष्ट है : 1. मृणाल-वलय प्रसंग एवं पुष्परेणु से शकुन्तला का नेत्र कलुषित होने का प्रसंग परस्पर से स्वतन्त्र नहीं है। बल्कि मृणाल-वलय पहनाने के प्रसंग में ही अत्यन्त स्वाभाविक रूप से दूसरे प्रसंग का अवतार हो जाता है। और इस दूसरे प्रसंग के अनुसन्धान में ही गौतमी का प्रवेश भी सहज रूप से अन्वित हो जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि ये दोनों प्रसंग परस्पराश्लिष्ट है। तथा तार्किक रूप से पूर्वापर क्रम में सुग्रथित होने से, किसी ने इन दोनों को उत्तरवर्ती काल में चिपकाये हैं ऐसा नहीं लगता है। 2. दुःषन्त - शकुन्तला का सहचार जो बंगाली पाठ में निरूपित किया गया है उसको देख कर अनेक साहित्यरसिकों ने ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है कि यहाँ शकुन्तला प्रगल्भ दिखती है, एक नादान - भोलीभाली निसर्ग कन्या नहीं लगती है। अतः ये दोनों प्रसंग कालिदास की कलम का परिणाम नहीं हो सकता। किन्तु देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना के लघुपाठ में जो शकुन्तला वर्णित की गई है वह भी नितान्त रूप में व्यवहार जगत् से अनभिज्ञ भोली कन्या है ऐसा निरूपण नहीं है। वहाँ पर भी दोनों सखियाँ जब दुःषन्त को शकुन्तला का स्वीकार करके उनके जीवन को अवलम्बन देने की बिनती करती है, तब शकुन्तला ने तुरन्त कहा है कि - हला, किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन। अर्थात् अली, अन्तःपुर की रानियों के विरही राजर्षि को यहाँ रोकने से क्या फायदा ? शकुन्तला, जो प्रायः मौन रहती है उसने मौके की क्षण पर तो दुःषन्त की सम्पूर्ण परीक्षा हो जाय ऐसा प्रश्न कर ही लिया था - यह क्षण स्मर्तव्य है। यहाँ पर शकुन्तला की अन्यथा अव्यक्त प्रगल्भता एक क्षण के लिये विद्युत् की लकीर जैसी चमक जाती है, तो उसको देखते हुए बंगाली वाचना में वर्णित नायक-नायिका का शृङ्गारपूर्ण सहचार अस्वाभाविक या अनपेक्षित नहीं लगता है॥

[11]

यद्यपि कृति-निष्ठ आन्तरिक सम्भावना से तृतीयाङ्क के विस्तृत शृङ्गारिक पाठ्यांश की मौलिकता का समर्थन अवश्य हो सकता है। तथापि बंगाली वाचना

के इस बृहत्पाठ में जो कुछ भी उपलब्ध होता है वह सम्पूर्णतया ग्राह्य है – ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि डॉ. रिचार्ड पिशेल एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बंगाली वाचना का जो पाठ प्रकाशित किया है उसमें भी ऐसे अनेक श्लोक हैं जिनकी भी कृति–निष्ठ आन्तरिक सम्भावना के मानदण्ड से परीक्षा करने की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में एक श्लोक को देखते हैं :– (बंगाली वाचना में) दुःषन्त तृतीयाङ्क के आरम्भ में कामदेव को सम्बोधन करता हुआ बोलता है –

कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत्। स्मृत्वा आं ज्ञातम्।
अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः ॥3-3॥

इस श्लोक के बाद, तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोः...श्लोक आता है।

आगे चलकर मृणालवलय पहनाते हुए दुःषन्त ने शकुन्तला के हस्त को अपने हाथ में लिया है। वहाँ शकुन्तला के हस्त का स्पर्श होते ही दुःषन्त जो श्लोक बोलता है वह इस तरह का है :–

राजा – (शकुन्तलाया हस्तमादाय) अहो स्पर्शः।
हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृतवर्षिणा।
प्ररोहः संभृतो भूयः किं स्वित्कामतरोरयम् ॥3-34॥

यहाँ पर एक ही अङ्क में दो बार हरकोपवह्नि/हरकोपाग्नि शब्दों से भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्राग्नि से जले कामदेव का निर्देश है, जो स्पष्ट रूप से एक ही विचार की पुनरुक्ति ही है। कविकुलगुरु की वाणी में यह दोष रूप ही प्रतीत हो रहा है। अतः इन दोनों में से कोई एक श्लोक प्रक्षिप्त होगा – यह निश्चित है। यहाँ आन्तरिक सम्भावना के रूप में एक ही तर्क है कि महाकवि एक ही विचार की पुनरुक्ति नहीं करते हैं। सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर दूसरी भी पुनरुक्ति यहाँ यह है कि अद्यापि नूनम्... से (3-3) कामदेव को उपालम्भ देने के बाद, फिर से तव कुसुमशरत्वम्... के द्वारा भी वही भाव प्रदर्शित किया गया है। यहाँ 3-3 के रूप में जो श्लोक है वह प्रक्षिप्त होगा। क्योंकि 3-34 के रूप में जो श्लोक है वह मृणाल-वलय की घटना में पूर्ण रूप से प्रासंगिक लगता है॥

काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों की उपलब्धि होने के बाद, यह बात ध्यान में आयी है कि यह ''अद्यापि नूनं हरकोपवह्नि०। (3-3) श्लोक काश्मीरी वाचना में परम्परागत रूप से विरासत में मिला प्रक्षिप्त श्लोक है। जो बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में प्रवाहित (संचरित) हुआ है। एवमेव, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से, यद्यपि दुःषन्त-शकुन्तला के प्रेमसहचार के दो दृश्यों को हटाया गया है, तथापि ''अद्यापि नूनं हरकोपवह्नि०'' श्लोक प्रक्षिप्त होते हुए भी ग्राह्य इसलिए बना होगा कि इस श्लोक की शब्दावलि से कुमारसंभव के प्रसंग का स्मरण होता है। तथा हटाये गये पूर्वोक्त दृश्यों के मध्य में जो हरकोपाग्निदग्धस्य० (3-34) मौलिक श्लोक था, उसको तो मूलपाठ के संक्षेपीकरण के दौरान हटाया गया था ! अतः देवनागरी में जो (3-3) श्लोक मिलता है वह प्रक्षिप्त श्लोक है !!

उपसंहार

उच्च स्तरीय पाठ-समीक्षा में कृतिनिष्ठ आन्तर सम्भावना का मूल्य सब से ऊँचा होता है। इस दृष्टि से यहाँ जो चर्चा प्रस्तुत की है उससे अभिज्ञानशकुन्तल की बृहत्पाठपरम्परा में बंगाली वाचना का पाठ मौलिकता के नज़दीक सिद्ध होता है। यद्यपि यह भी कहना चाहिये कि प्रोफे. रिचार्ड पिशेल या डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बंगाली वाचना का जो समीक्षित पाठ प्रकाशित किया है, वही सर्वथा / यथावत् रूप में ग्राह्य है – ऐसा भी हम नहीं मान सकते हैं। क्योंकि बंगाली वाचना के पाठ में भी, अभी भी पर्याप्त प्रक्षेप दिखाई पड़ते हैं, जिसे हटाने की आवश्यकता है। तथापि यह भी सही है कि बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में जो विस्तृत शृङ्गारिक दृश्यावली मिलती है वह मौलिकता से सभर है। इसमें भी विशेष रूप से 1. मृणाल-वलय का प्रसंग एवं 2. शकुन्तला के कर्णोत्पल से कलुषित हुए नेत्र को दुःषन्त ने अपने वदन-मारुत से उसे स्वच्छ किया था यह प्रसंग कालिदास-प्रणीत हो सकता है – ऐसा बहुविध आन्तरिक सम्भावनाओं से सिद्ध होता है[28]॥

॥ इति शम् ॥

परिशिष्ट - 1

देवनागरी वाचना में तृतीयाङ्क का शृङ्गारिक दृश्य

प्रियंवदा - (सदृष्टिक्षेपम्) अणसूए, जह एसो इदो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि । एहि, संजोएम णं । [अनसूये, यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति । एहि, संयोजयाव एनम् ।] (इत्युभे प्रस्थिते ।)

शकुन्तला - हला, असरण म्हि । अण्णदरा दो आअच्छदु । [हला, अशरणास्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु ।]

उभे - पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टह । [पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते ।] (इति निष्क्रान्ते ।)

शकुन्तला - कहं गदाओ एव्व ? [कथं गते एव ?]

राजा - अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ।
अङ्के निधाय करभोरु, यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥3-18॥

शकुन्तला - ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।] (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।)

राजा - सुन्दरि ! अनिर्वाणो दिवसः । इयं च ते शरीरावस्था ।
उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः ॥3-19॥ (इति बलादेनाम् निवर्तयति ।)

शकुन्तला - पोरव ! रख्ख अविणअं । मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि । [पौरव, रक्षाविनयमम् । मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।]

राजा - भीरु ! अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोष ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च -

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥3-20॥

शकुन्तला - मुंच दावं मं । भूओ वि सहजणं अणुमाणइस्सं । [मुञ्च तावन्माम् । भूयोपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।]

राजा - भवतु, मोक्ष्यामि ।

शकुन्तला - कदा [कदा ?]

रजा - अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।

अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि, गृह्यते रसोऽस्य ॥3-21॥

(इति मुखमस्या समुन्नमयितुमिच्छति । शकुन्तला परिहरति नाट्येन ।)

(नेपथ्ये)

चक्कवाकवहुए ! आमंतेहि सहअरं । उवट्ठिआ रअणी । [चक्रवाकवधूः ! आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।]

शकुन्तला - (ससंभ्रमम्) पोरव ! असंसँ मम सरीरवुत्तंतोवलंभस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । जाव विडवंतरिदो होहि । [पौरव ! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । यावद् विटपान्तरितो भव ।]

राजा - तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी, सख्यौ च)

सख्यौ - इदो इदो अज्जा गोदमी । [इत इत आर्या गौतमी]

गौतमी - (शकुन्तलामुपेत्य) जाते, अवि लहुसंदावाइं दे अंगाइं । [जाते, अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ।]

शकुन्तला - अत्थि मे विसेसो । [अस्ति मे विशेषः ।]

गौतमी - इमिणआ दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य ।) वच्छे, परिणदो दिअहो । एहि, उडजं एव्व गच्छम्ह । [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । वत्से, परिणतो दिवसः । एहि, उटजमेव गच्छामः ।]

– अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राघवभट्टस्य टीकया सहितम्, पृ. 106-111

डॉ. रिचार्ड पिशेल संपादित बंगाली वाचना का पाठ (पृ. 36-41)

प्रियंवदा - हला। चवलो क्खु एसो। णं णिवारिदुं एआइणी ण पारेसि। ता अहं पि सहाअत्तणं करइस्सं। (इत्युभे प्रस्थिते) [हला, चपलः खलु एषः। एनम् निवारयितुम् एकाकिनी न पारयसि। तत् अहम् अपि सहायत्वम् करिष्यामि ।]

शकुन्तला - इदो अण्णदो ण वो गन्तुं अणुमण्णे जदो असहाइणि म्हि। [इतः अन्यतः न वाम् गन्तुम् अनुमन्यसे। यतः असहायिनी अस्मि ।]

उभे - (सस्मितम्) तुमं दाव असहाइणी जाए पुढवीणाधो समीवे वट्टदि। [त्वं तावत् असहायिनी ?, यस्याः पृथिवीनाथः समीपे वर्तते ।]

॥ इति निष्क्रान्ते ॥

शकुन्तला - कथं गदाओ पिअसहीओ। [कथं गते प्रियसख्यौ ।]

राजा - (दिशोऽवलोक्य) सुन्दरि, अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्ते सखीभूमौ वर्तते। तदुच्यताम्।

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं
संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तम्।
अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ,
संवाहयमामि करभोरु यथासुखं ते ॥3-25॥

शकुन्तला - ण माणणीएसुं अत्ताणअं अवराहइस्सं। (अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता) [न माननीयेषु आत्मानम् अपराधयिष्यामि ।]

राजा - (अवष्टभ्य) सुन्दरि, अपरिनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणा।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधाकोमलैरङ्गैः ॥3-25॥

शकुन्तला - मुञ्च मुञ्च। ण क्खु अत्तणो पहवामि। अध वा सहीमेत्तसरणा किं दाणिं एत्थ करइस्सं। [मुञ्च मुञ्च। न खलु आत्मनः प्रभवामि। अथवा सखीमात्रशरणा। किमिदानीम् अत्र करिष्यामि ।]

राजा - धिक्। व्रीडितोऽस्मि।

शकुन्तला - ण क्खु अहं महाराअं भणामि, देव्वं उवालहामि। [न खलु अहम् महाराजं भणामि, दैवम् उपालभे]

राजा - अनुकूलकारि दैवं किमुपालभ्यते।

शकुन्तला - कथं दाणिं ण उवालहिस्सं जं मं अत्तणो अणीसं परगुणेहि लोहावेदि। [कथमिदानीं न उपालप्स्ये, यत् माम् आत्मनः अनीशाम् परगुणैर्लोभयति।]

राजा - (स्वगतम्)

अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः,
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वाद्
आबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः ॥3-27॥

(शकुन्तला गच्छत्येव)

राजा - कथमात्मनः प्रियं न करिष्ये।

शकुन्तला - पोरव, रक्ख विणअं। इदो तदो इसीओ संचरन्ति। [पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः संचरन्ति।]

राजा - सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः ॥328॥

(दिशोऽलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते।)

शकुन्तला - (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य साङ्गभङ्गम्) पोरव, अनिच्छापूरओ वि संभासणमेत्तएण परिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो। [पौरव, अनिच्छापूरकः अपि संभाषणमात्रकेण परिचितः अयं जनः न विस्मर्तव्यः।]

राजा - सुन्दरि,

त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे।
दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः ॥3-29॥

शकुन्तला - (स्तोकान्तरं गत्वा आत्मगतम्) हद्धी हद्धी। इमं सुणिअ ण मे चलणा पुरोमुहा पसरन्ति। भोदु, इमेहि पज्जन्तकुरुवएहि ओवारिदसरीरा पेक्खिस्सं दावे से भावाणुबन्धं। (तथा कृत्वा स्थिता) [हा धिक्, हा

धिक् । इदं श्रुत्वा न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रसरतः । भवतु, एभिः पर्यन्तकुरबकैः अपवारितशरीरा प्रेक्षिष्ये । तावत् अस्य भावानुबन्धम् ।]

राजा - कथमेवं प्रिये अनुरागैकरसं मामुत्सृज्य निरपेक्षैव गतासि ।

अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य मृदुनः कथम् ।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम् ॥3-30॥

शकुन्तला - एदं सुणिअणत्थि मे विहवो गच्छिदुं । [एतत् श्रुत्वा नास्ति मे विभवः गन्तुम् ।]

राजा - संप्रति प्रियाशून्ये किमस्मिन् करोमि । (अग्रतोऽवलोक्य) हन्त, व्याहतं गमनम् ।

मणिबन्धनगलितमिदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः ।
हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः ॥3-31॥

(सबहुमानमादत्ते)

शकुन्तला - (हस्तं विलोक्य) अम्मो, दोव्वल्लसिढिलदाए परिब्भट्टं पि मुणालवलअं मए ण परिण्णादं । [अम्मो दौर्बल्यशिथिलतया परिभ्रष्टम् अपि मृणालवलयं मया न परिज्ञातम् ।]

राजा - (मृणालमुरसि निक्षिप्य) अहो स्पर्शः ।

अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता ।
जनः समाश्वासित एष दुःखभाग् अचेतनेनापि सता न तु त्वया ॥3-32॥

शकुन्तला - अदो वं असमत्थ म्हि विलम्बिदुं । भोदु, एदेणज्जेव अवदेसेण अत्ताणअं दंसइस्सं । (इत्युपसर्पति)
[अतः परम् असमर्थाऽस्मि विलम्बितुम् । भवतु एतेन एव अपदेशेन आत्मानं दर्शयिष्यामि ।]

राजा - (दृष्ट्वा सहर्षम्) अये जीवितेश्वरी मे प्राप्ता । परिदेवितानन्तरं प्रसादेनोपकर्तव्योऽस्मि खलु देवस्य ।

पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं चाम्बु पक्षिणा ।
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे ॥3-33॥

शकुन्तला - (राज्ञः प्रमुखे स्थित्वा) अज्ज अद्धपथे सुमरिअ एदस्स हत्थब्भंसिणो मुणालवलअस्स किदे पडिणिउत्त म्हि। आचक्खिदं विअ मे हिअएण तए गहिदं ति । ता णिक्खिव एदं मा मं अत्ताणअं च मुणिअणेसु पआसइस्ससि । [आर्य अर्धपथे स्मृत्वा एतस्य हस्तभ्रंशिनः मृणालवलयस्य कृते प्रतिनिवृत्ता अस्मि । आख्यातमिव मे हृदयेन त्वया गृहीतमिति। तत् निक्षिप एतत्। मा माम् आत्मानं च मुनिजनेषु प्रकाशयिष्यसि ।]

राजा - एकेनाभिसन्धिना प्रत्यर्पयामि।

शकुन्तला - केण उण। [केन पुनः ।]

राजा - यदिदमहमेव यथास्थानं निवेशयामि।

शकुन्तला - (आत्मगतम्) का गदी। (इत्युपसर्पति) [का गतिः ।]

राजा - इतः शिलापट्टकमेव संश्रयावः। (इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ)

राजा - (शकुन्तलाया हस्तमादाय) अहो स्पर्शः।

हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृतवर्षिणा।
प्ररोहः संभृतो भूयः किं स्वित्कामतरोरयम् ॥334॥

शकुन्तला - (स्पर्शं रूपयित्वा) तुवरदु तुवरदु अज्जउत्तो । [त्वरताम् त्वरताम् आर्यपुत्रः ।]

राजा - (सहर्षमात्मगतम्) इदानीमस्मि विश्वस्तः । भर्तुराभाषणपदमेतत् । (प्रकाशम्) सुन्दरि, नातिश्लिष्टः सन्धिरस्य मृणालवलयस्य । यदि तेऽभिप्रेतमन्यथा घटयिष्यामि।

शकुन्तला - जधा दे रोअदि। [यथा ते रोचते।]

राजा - (सव्याजं विलम्ब्य प्रतिमुच्य) सुन्दरि, दृश्यताम्।

अयं स ते श्यामलतामनोहरं विशेषशोभार्थमिवोज्झिताम्बरः।
मृणालरूपेण नवो निशाकरः करं समेत्योभयकोटिमाश्रितः ॥3-35॥

शकुन्तला - ण दाव ण पेक्खामि पवणुक्कम्पिणा कण्णुप्पलरेणुणा कलुसीकिदा मे दिट्ठी। [न तावत् एनं प्रेक्षे, पवनोत्कम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः ।]

राजा - (सस्मितम्) यदि मन्यसे अहमेनां वदनमारुतेन विशदां करिष्ये।

शकुन्तला - तदो अणुकम्पिदा भवे। किं उण ण दे वीससामि। [ततः अनुकम्पिता भवेयम्। किं पुनः न ते विश्वसिमि।]

राजा - मा मैवम्। नवो हि परिजनः सेव्यानामादेशात् परं न वर्तते।

शकुन्तला - अअं जेव अच्चुवआरो अविस्सासजणओ।
[अयमेवात्युपचारोऽविश्वासजनकः ।]

राजा - (स्वगतम्) नाहमेतं रमणीयं सेवावकाशमात्मनः शिथिलयिष्ये। (इति मुखमुन्नमयितुं प्रवृत्तः। शकुन्तला प्रतिषेधं रूपयन्ती विरमति।)

राजा - अयि मदिरेक्षणे, अलमस्मदविनयाशङ्कया। (शकुन्तला किञ्चिद् दृष्ट्वावनतमुखी तिष्ठति)

राजा - (अङ्गुलीभ्यां मुखमुन्नमय्यात्मगतम्)

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः ॥3-36॥

शकुन्तला - पडिण्णादमन्थरो विअ अज्जुउत्तो। [प्रतिज्ञामन्थरः इवार्यपुत्रः।]

राजा - सुन्दरि, कर्णोत्पलसंनिकर्षादीक्षणसादृश्यमूढोऽस्मि। (इति मुखमारुतेन चक्षुः सेवते)

शकुन्तला - भोदु, पइदित्थदंसण म्हि संवृत्ता। लज्जामि उण अणुवआरिणी पिअआरिणो अज्जउत्तस्स। [भवतु, प्रकृतिस्थदर्शनाऽस्मि संवृत्ता।]

राजा - सुन्दरि, किमन्यत्।

इदमुपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्।
ननु कमलस्य मधुकरः संतुष्यति गन्धमात्रेण ॥37॥

शकुन्तला - असंतोसे उण किं करेदि। [असंतोषे पुनः किं करोति।]

राजा - इदमिदम्। (इति व्यवसितो वक्रं ढौकते।)

॥ नेपथ्ये ॥

चक्रवाअवहु। आमन्तेहि सहअरं। उवत्थिदा रअणी। [चक्रवाकवधु, आमन्त्रय सहचरम्। उपस्थिता रजनी।]

शकुन्तला - (कर्णं दत्वा ससंभ्रमम्) अज्जउत्त एसा खु मम वुत्तन्तोवलम्भणणिमित्तं अज्जा गोदमी आअदा । ता विडवन्तरिदो होहि । [आर्यपुत्र, एषा खलु मम वृत्तान्तोपलम्बननिमित्तम् आर्या गौतमी आगता । तत् विटपान्तरितः भव ।]

राजा - तथा । (इत्येकान्ते स्थितः)

गौतमी - (प्रविश्य पात्रहस्ता गौतमी) जाद, इदं सन्तिउदअं । (दृष्ट्वा समुत्थाय) असुत्था इध देवदासहाइणी चिट्ठसि । [जात, इदम् शान्त्युदकम् । अस्वस्था इह देवतासहायिनी तिष्ठसि ।]

शकुन्तला - इदाणिं जेव पिअंवदाअणुसूआओ मालिणिं ओदिण्णाओ । [इदानीमेव प्रियंवदानुसूये मालिनीम् अवतीर्णे ।]

गौतमी - (शान्त्युदकेन शकुन्तलाम् अभ्युक्ष्य) जाद, णिराबाधा मे चिरं जीव । अवि लहुसंतावाई दे अङ्गाइं । [जात, निराबाधा मे चिरम् जीव । अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ।] (इति स्पृशति)

शकुन्तला - अज्जे, अत्थि विसेसो । [आर्ये, अस्ति विशेषः ।]

गौतमी - परिणदो दिअसो । ता एहि । उडअं जेव गच्छम्ह ॥ [परिणतः दिवसः । तत् एहि उटजमेव गच्छावः ।]

Works Cited

B.K.Thakore. (1922). The Text of the S'akuntala. Bombay : D.B. Taraporewala Sons & Co.

Belvaldar, (1922). Indian Studies in Honor of C.R. Lanman. Cambridge: Harvard University Press.

पादटीप

1. आधुनिक युग में जो पद्धति निश्चित की गई है उसमें अनेक पाण्डुलिपियों के पाठों का संतुलन-पत्रिकाओं पर पुनर्लेखन करके, तौलनिक अभ्यास से उपलब्ध की गई पाण्डुलिपियों का आनुवंशिक सम्बन्ध सोच के विभिन्न वाचनाओं का निर्धारण किया जाता है । तथा इन में से जो श्रद्धेय वाचना होती ही, उसी के पाठ को अधिकृत पाठ के रूप में स्थापित किया जाता है।

2. निम्न स्तरीय पाठ–समीक्षा में त्रिविध कार्य होते हैं :- 1. अनुसन्धान (Hueristics), 2. वाचना–निर्धारण (Recensio), 3. पाठसुधार (Emendation) एवम् पादटिप्पणी में पाठभेदों का निर्देश करना। इन त्रिविध कार्यों से समीक्षितावृत्ति बनाई जाती है।
3. A complete collection of the various readings of the Madras manuscripts., Vol. 2 & 3, Madras, 1904
4. Cultured humanity cannot possibly tolerate three divergent S'akuntalas or even two. - B.K. Thakore, p.5
5. (1) निसर्ग कन्या शकुन्तला, कालिदास ग्रन्थावली, अनु. सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ, १९६२ के परिशिष्ट में प्रकाशित लेख, (2) S'rigaric Elaboration in S'akuntal - Act:3, Indian studies in Honor of C.R. Lanman, Harvard Uni. Press, 1929, pp.187-192, (3) The Original S'akuntala, Sir Ashutosh Mookerjee Silver Jubilee Vol.3 Orientalia, part-2, Calcutta, 1925, pp.344-359 (4) The Application of a few Canons of Textual & Higher Criticism to Kalidasa's S'akuntala, Published in the Asia Major, Leipzig-2-1,1923,pp.79-104
6. जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये परिशिष्ठ – 1 में इस अंश का सम्पूर्ण पाठ रखा गया है। जिससे दोनों वाचनाओं के पाठ में क्या अन्तर है वह स्पष्ट होगा।
7. आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्। (1-2) यहाँ सूत्रधार ने केवल प्रयोग शब्द का उपयोग नहीं किया है। यहाँ तो प्रयोगविज्ञानम् शब्द रखा गया है॥
11. Texus simplicior is earlier than the textus ornatior.
12. भारतीय वाङ्मय 1. दृष्ट, (वेदमन्त्र) 2. श्रुत, (बुद्ध एवं महावीर की वाणी) 3. उत्कीर्ण, 4. प्रोक्त, (अनेक–कर्तृक) एवं 5. कृत प्रकार (एककर्तृक का है। इन में से उत्कीर्ण पाठ को छोड के अन्य ग्रन्थों के पाठों की पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। जिसमें पाठभेद से समस्याभेद है, और इस समस्याभेद से पाठसम्पादन के सिद्धान्तों में भी भेद होना / करना अपेक्षित है॥
13. Abhijnana-sakuntalam, trans: Sarada Ranjan Ray, Calcutta, 1908, pp.344
14. We have really no right to conclude that S'akuntala wore only one wristlet on each hand; there must have been more than one so worn; only, as the word mrinalaika points out, they were all made

of lotus alone. But even supposing that we agree to concede his point to Raghavabhatt, there was, one may urge, the other hand in any case, from which the equally loose wristlet could drop away any time - even subsequent to tne retying of the wristlet by Dushyanta on one of the hands. S'rngaric Elaboration In S'akuntala - Act 3, S.K.Belvalkar, (1929), p191

15. The most cogent objection against its shorter version is the fact that it plays fast and loose with the time indications of the scene....The longer version, on the other hand, does observe the proportion. (1929), p.190
16. But if now it can be shown that even so early a witer as Shriharsh in the Ratnavali has imitated the longer S'rigaric Version, it will have to be in that case concluded that some part of the "elaboration" probably comes from Kalidasa himself....The hero in both the plays describes the bed and other objects in the bower from which the heroine has just departed. (S.K. Belvalkar, 1929), p. 188.
17. I could see that he had taken here the Kashmiri recension....No part of this elaboration is taken by him into the present text.- Introduvtion, p. 4 of the Abhijnanas'akuntala, Ed. S.K. Belvalkar, Sahity Akademi, New Delhi, 1965
18. If evidences testiy to the existence to the alleged enlarged version before the 10th century, it would be proper for us in the 20th century to accept the same as more authentic than any interpretative re-construction. p.132
19. It required some time for S'akuntala to muster courage & to recip-rocate the desire of the king. She had accepted the King both as her lover & as consort, but some interval of time must be allowed

to overcome the first shock of Singular presence with an unknown person, i.e. the King. (Introduction - p. 129)

20. स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलित-मृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्। शाकु. 3-6 (राघवभट्ट, पृ. 89)
21. अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ शाकु. 3-10 (राघवभट्ट, पृ. 97)
22. इस श्लोक को वर्द्धमान ने गणरत्नमहोदधि (12वीं शती) में उद्धृत किया है।
23. दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा,
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षिश्चिरम्। शाकु. 6-5 (राघवभट्ट, पृ. 195)
24. एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति॥ शाकु. 6-19. (राघवभट्ट, पृ. 214)
25. इस सन्दर्भ में ''अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रतीक-योजना में प्रतिबिम्बित नाट्यकार्य'' शीर्षक से हमने एक दूसरा आलेख लिखा है। (देखें, इसी पुस्तक में पृ. 223-254)
26. शकु. - नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत्। राजा - शृणुमस्तावत्॥ शकु. - तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्ते परिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगतः। पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिले अनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि - सर्वः सगन्धिषु विश्वसिति। द्वावप्यारण्यकौ इति॥ शाकु. 5 (राघवभट्टः, पृ. 173
27. बंगीय पाठ में प्रथम मिलन में ही शकुन्तला अठखेलियाँ करती दिखाई गई है जो कालिदास की प्रवृत्ति के विरुद्ध है (रेवाप्रसाद, 2004) 1- कालिदास अपनी बात, (भारतीय दृष्टि), डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, 2004, पृ. 54. यद्यपि परिशिष्ट में दिये गये बंगाली पाठ को देखते हुए यह अभिप्राय पुनश्चिन्त्य है। क्योंकि यहाँ शकुन्तला की प्रवृत्ति अठखेलियाँ शब्द के योग्य नहीं लगती है॥
28. राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नयी दिल्ली से प्रेरित एवं संस्कृत परिषत्, हैदराबाद के द्वारा आयोजित 'तत्त्वबोध' व्याख्यानमाला के अन्तर्गत (9 सप्टे. 2010) प्रस्तुत किया हुआ वक्तव्य॥

=o=

[4]

शकुन्तला-प्रस्थान के साथ-साथ शाकुन्तल का पाठ-प्रस्थान

अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थाङ्क में नायिका शकुन्तला पिता कण्व के आश्रम में से निकल कर पतिगृह की ओर प्रस्थान करती है। (अतः मैथिली और बंगाली पाठपरम्परा में इस अङ्क का नाम "शकुन्तला-प्रस्थान" रखा गया है।) यहाँ कन्या-विदाई के प्रसंग में कालिदास ने पितृवात्सल्य का हृदयस्पर्शी आलेखन किया है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का निरूपण करने वाले कवि अनेक हुए हैं। लेकिन पिता-पुत्री का प्रेमालेखन करनेवाले कालिदास अद्वितीय हैं। अतः शताब्दियों से इस अङ्क की महिमा सुप्रसिद्ध है। लेकिन हम जब इस नाट्यकृति के पाठ की तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षा करते हैं तो उसमें रंगकर्मियों के द्वारा किये गये पाठ परिवर्तनों का चित्र द्विविध या कुत्रचित् त्रिविध स्वरूप में हमारे सामने आता है। प्रस्तुत अङ्क के, इस तरह के पाठ-प्रस्थान को देख कर मालूम होता है कि अद्यावधि जितने भी सहृदय पाठकों या दर्शकों ने जो भी नाट्यशास्त्रीय एवं साहित्य-शास्त्रीय मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया होगा उसको पुनः पर्यालोचित करने की आवश्यकता है, क्योंकि प्रायः सभी सहृदयों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के केवल देवनागरी वाचना में प्रकाशित हुए पाठ को लेकर ही अपनी लेखनी चलाई है। अतः नाटक के मूल पाठ की (या प्राचीनतम एवं अधिक श्रद्धेय पाठ की) गवेषणा के अभाव में प्रस्तुत किया गया कोई भी मूल्यांकन भविष्य में अन्यथासिद्ध होने वाला होता है। अतः कृतिसमीक्षा से पहले पाठसमीक्षा ही प्रवर्तित करनी चाहिए। एवमेव, अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे नाटक की पाठपरम्परा जब बहुविध स्वरूप में हमारे सामने विद्यमान है तब उसमें पाठविचलन का तर्कानुसारी क्रम भी प्रथमतया विवेचनीय बनता है। (जिससे इस नाटक के अभिनयन से सम्बद्ध कुछ अनुमान निकाले जा सकते हैं। निश्चित इतिहास के अभाव में ऐसा तर्कनिष्ठ अनुमान भी

महत्त्व का होता है, क्योंकि नाटक जैसी कृति में पाठ-परिवर्तन करनेवालों में सब से ज्यादा जिम्मेदार रंगकर्मी लोग ही होते हैं।) पाठालोचना का यह प्रथम कर्तव्य निभाने के बाद ही इस नाटक का समीक्षित-पाठ निर्धारित हो सकेगा, जिसको हम ''अधिकृत-पाठ'' कहेंगे। इतना कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् ही साहित्यशास्त्रीय मूल्यांकन करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है॥ अस्तु॥

[1]

चतुर्थाङ्क के आरम्भ में प्रवेशक[1] (या विष्कम्भक) आता है, जिसमें दुर्वासा महर्षि ने अन्यमनस्का शकुन्तला को शाप दिया है। काश्मीर की शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे पाठ में शापमोचन की याचना करने के लिए अनसूया जाती है, और इस शाप को शकुन्तला से छिपा कर रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा करती है। किन्तु इस तरह के काश्मीरी-पाठ का आनुक्रमिकतया जब मैथिली एवं बंगाली पाठपरम्पराओं में संक्रमण होता है तब पहली बात का अनुसरण यथावत् दिखता है। किन्तु शाप-वृत्तान्त को संगोपित रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा नहीं करती है, अनसूया करती है - ऐसा व्युत्क्रम हो जाता है। तदनन्तर, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में शाप-मोचन की याचना के लिए अनसूया स्वयं नहीं जाती है, किन्तु वही प्रियंवदा को जाने के लिए कहती है। ऐसा परिवर्तन होने पर मूल पाठ्यांश में तरह तरह की विसंगतियाँ प्रविष्ट होती हैं। इन विसंगतियों की ओर शायद किसी का ध्यान ही नहीं गया है। किन्तु यदि इस पर विचार किया जायेगा तो, वक्ष्यमाण विसंगतियों के अभाव वाला पाठ जिसमें सुरक्षित रहा है वह काश्मीरी वाचना का पाठ अधिक श्रद्धेय है ऐसा निर्विवाद प्रतीत होने लगेगा॥

(काश्मीरी पाठ में) प्रियंवदा ने पुष्पभाजन को देख कर कहा कि बलिकर्म के लिए पर्याप्त पुष्पों का चयन हो गया है। तब अनसूया कहती है कि शकुन्तला को भी सौभाग्यदेवता की अर्चना करनी है, तो कुछ ज्यादा पुष्पों की आवश्यकता रहेगी। प्रियंवदा कहती है कि बात ठीक है। अब दोनों उसी काम में लग जाते हैं। वहाँ नेपथ्य से उक्ति आती है : ''अयम् अहं भोः ...।'' अनसूया को ऐसा लगता है

कि अतिथि पधारे हैं। प्रियंवदा बोलती है – *सखि, नन्वुटजसंनिहिता शकुन्तला। आम्, अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता।* जिसको सुन कर अनसूया पुष्पचयन कर्म से तुरन्त विरत हो जाती है और कहती है कि *तेन हि भवतु, एतावन्ति कुसुमानि।* अनसूया लौट जाती है। लेकिन किसी अज्ञात रंगकर्मियों ने मैथिली पाठपरम्परा में, उपर्युक्त प्रियंवदा के दो वाक्यों को तोड़ कर, दूसरे वाक्य को अनसूया के मूँह में रख दिया है। प्रियंवदा ही अब कहती है कि इतने पुष्पों से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। और दोनों वापस चल पड़ती है॥ किन्तु दुर्वासा ने जब अविलम्ब शाप दे ही दिया[2], तब उससे शाप–मोचन की प्रार्थना करने के लिए अनसूया को जाने को प्रियंवदा कहती है और वह स्वयं अतिथि के अर्घ्योदक की व्यवस्था के लिए उद्यत होती है॥ शाप–वृत्तान्त का यह पूर्वार्ध बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में, (अर्थात् काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली में) एक समान है॥ (इसके बाद, नेपथ्य से दुर्वासा का शापवचन सुनाई पड़ता है।) मैथिली पाठ में इस शाप–वृत्तान्त के उत्तरार्द्ध में, रंगकर्मियों ने एक छोटा सा वाक्य नया जोड़ दिया है। जैसे कि – प्रियंवदा बताती है कि दुष्यन्त[3] ने जाते समय शकुन्तला को अपना नाम लिखी हुई एक अङ्गुठी स्मरणीय चीज के रूप में दे रखी है, वह अभिज्ञानाभरण बन जायेगी। अतः शाप को निवृत्त करने का उपाय सखी शकुन्तला को स्वाधीन ही है, अतः चिन्ता का कोई कारण नहीं है। अब दोनों सहेलियों को वापस लौट कर शकुन्तला के पास ही जाना था। लेकिन मैथिली रंगकर्मियों को यहाँ पुष्पोद्यान से आश्रम के उटज तक जाने के लिए मार्गसंक्रमण दिखाना था। अतः उन लोगों ने रंग पर परिक्रमण के दौरान अनसूया के मुख में एक नया वाक्य जोड़ दिया है : *एहि देवदाकज्जं दाव णिव्वुत्तम्ह। (एहि देवकार्यं तावत् निर्वर्तयावहे।) इति परिक्रामतः॥* (चलो हम दोनों देवकार्य को निपटावें) ऐसा बोलती हुई वे दोनों रंग पर गोलाकार में घुमती हैं) यह नवीन वाक्य शारदा पाण्डुलिपियों में नहीं था[4], लेकिन मैथिली पाठपरम्परा में इसका प्रक्षेप हुआ, जिसके कारण उत्तरवर्ती वाक्यों में वक्तृ–क्रम उलटा–पूलटा हो गया। अतः दुर्वासा का शापवृत्तान्त शकुन्तला से छिपा कर रखना है ऐसा प्रस्ताव, जो मूल में प्रियंवदा का था, वह अब असनूया के मुख में आ जाता

है। यह मैथिली वाचना का पाठ जब कालक्रम से बंगाल की पाठपरम्परा में जाता है तब पूर्वोक्त नवीन वाक्य का प्रक्षेप बंगाली पाठ में भी यथावत् संक्रान्त हुआ मिलता है।

अब विचारणीय है कि मैथिली वाचना में मिल रहा उपर्युक्त वाक्य "प्रक्षिप्त" है ऐसा मानने का आधार क्या है ? तो उसके एकाधिक समाधान हैं : (1) दुर्वासा का शाप मिलने की दुर्घटना आकारित हो जाने के बाद उसी के प्रभाव से बाहर निकल कर, क्या अनुसूया देवता-कार्य के निर्वर्तन की याद करने की मानसिकता में रह सकती है ? यह सम्भव ही नहीं है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ में जैसे प्रियंवदा कहती है कि हमारी सखी को राजा ने अङ्गुठी दे रखी है, उससे वह स्वाधीनोपाय है। तब दोनों सहेलियाँ रंगमंच पर परिक्रमण करके सीधी उसी कुटिर पर ही जाय (जहाँ शकुन्तला अपने प्रिय के विचारों में खोई खोई बैठी है) वही उचित है। (2) यह वाक्य प्रक्षिप्त होने का दूसरा प्रमाण यह भी है कि शुरू में बताया गया है कि शकुन्तला को (स्वयं) सौभाग्यदेवता की अर्चना भी करनी है, इस लिए कुछ ज्यादा पुष्पों का चयन किया जाय। इस पूर्वोक्त सन्दर्भ के विरुद्ध जब बोला जाता है कि – *एहि, देवकार्यं तावद् अस्याः (शकुन्तलायाः) निर्वर्तयावः।* तब वह असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि शकुन्तला के बदले में सहेलियाँ ही उसके लिए देवकार्य सम्पन्न करने के लिए उद्यत हो जाय वह ठीक नहीं है। और (3) तीसरा बिन्दु यह है कि दोनों सखियों ने आरम्भ में बलिकर्म तथा सौभाग्यदेवता का ही निर्देश किया है। इन दोनों को छोड़ कर शब्दभेद से देवताकार्य का उल्लेख कहाँ से आया ? अर्थात् पूर्वापर सन्दर्भ में, देवताकार्य का नवीन उल्लेख प्रक्षिप्त मानने का आधार बनता है। (4) चौथा बिन्दु यह भी ध्यातव्य है कि वे दोनों देवता के पास न जा कर पहुँचती तो वहीं है कि जहाँ शकुन्तला अन्यमनस्क होकर बैठी है ! अतः, मैथिली वाचना में रंगमंच पर दोनों सहेलियों के परिक्रमण को दिखलाते हुए जो एक अधिक वाक्य मिलता है, वह किसी अज्ञात रंगकर्मी का प्रक्षिप्त किया हुआ वाक्य ही है। कालान्तर में, प्रतिलिपिकरण के दौरान यह रंगसूचना का अनुसरण

किया गया होगा, जिसके कारण बंगाली वाचना में, (और तदनन्तर देवनागरी इत्यादि में भी) प्रियंवदा की उक्ति अनुसूया की उक्ति बन जाती है।

इस चर्चा से सारभूत बात यह निकलती है कि (1) शाप-मोचन माँगने के लिये अनुसूया का जाना – वही पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत सिद्ध होता है। तथा (2) शाप की बात छुपा कर रखने का प्रस्ताव अनुसूया का नहीं हो सकता, वह प्रियंवदा का ही होगा। इन दोनों बातों का संरक्षण काश्मीरी पाठ में मिलता है। मैथिली एवं बंगाली पाठ में पहेली बात सुरक्षित रही है, लेकिन दूसरी अशुद्धि का प्रवर्तन मैथिली परम्परा में हुए रंगसूचना के प्रक्षेप के कारण हुआ है। जिसका अनुगमन बंगाली पाठ में भी किया गया। परिणामतः तीसरे स्तर पर देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठों में दोनों तरह की अशुद्धियाँ संक्रान्त हो कर सर्वत्र प्रसारित हो गई हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रचलित पाठ में जहाँ जहाँ पर पूर्वापर सन्दर्भ में विसंगतियाँ दिखाई हैं उसका समाधान ढूँढने के लिए, सब से पहले पाठालोचना करनी अनिवार्य है। इससे प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की उपस्थापना की जा सकेगी, और अन्ततोगत्वा विसङ्गतियों से मुक्त हो ऐसा एवं अधिक श्रद्धेय हो ऐसा पाठ हम निर्धारित कर पायेंगे।

[2]

चतुर्थाङ्क में श्लोक-संख्या 21 से 26 तक की मिलती है। जैसे कि, मैथिली वाचना में 26 श्लोक हैं, तो बंगाली वाचना में 24 श्लोक हैं। किन्तु राघवभट्ट की देवनागरी वाचना में केवल 21 श्लोक प्राप्त होते हैं। इस तरह की कम-ज्यादा श्लोकसंख्या ही हमें विचार करने के लिए प्रेरित/बाध्य करती हैं कि किस वाचना में मौलिक पाठ सुरक्षित रहा होगा, या किस में प्रक्षेप हुआ होगा, अथवा किस वाचना के पाठ में संक्षेप हुआ होगा ? बंगाली वाचना के पाठ में, प्रभात वेला का आकलन करने के लिए शिष्य पर्णकुटिर से बाहर निकल कर जिन चार श्लोकों का गान करता है, वे निम्नोक्त हैं –

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु[5] ॥4.2॥

अपि च -

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे,
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन,
दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुहद्वहानि[6] ॥4.3॥

अपि च -

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या,
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखिताद् उत्थितश्चैष सद्यः,
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गम् आयच्छमानः[7] ॥4.4॥

अपि च -

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः,
क्रान्तं येन क्षयिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः ।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखैः,
अत्यारूढिर्भवति महताम् अप्यपभ्रंशनिष्ठा[8] ॥4.5॥

(द्विवेदी, 2008)

बृहत्पाठ परम्परा की तीनों (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) वाचनाओं में, पूर्वनिर्दिष्ट चारों श्लोक एक साथ में प्रस्तुत हुए हैं, लेकिन उनकी मौलिकता चिन्त्य है। क्योंकि नाटक जैसी समय की पाबन्दी को स्वीकारनेवाली कला में इतना लम्बा वर्णन असह्य होता है। एवमेव, यहाँ तो सुप्तोत्थित शिष्य प्रभातकाल का आकलन करता हुआ इन श्लोकों का गान करता है। इस सन्दर्भ को देखते हुए यहाँ चार चार

श्लोकों का होना सम्भवित नहीं लगता है। अतः ये श्लोक पाठालोचना का विषय बनते हैं ॥

काश्मीरी वाचना और तदनुगामिनी मैथिली वाचना में इन चार श्लोकों का उपस्थिति क्रम पहले ध्यानार्ह है। यहाँ "कर्कन्धूनाम्०" और "पादन्यासं०" के बाद, तीसरे एवं चौथे क्रम पर "याति०" एवं "अन्तर्हिते०" श्लोकों को रखा गया है। किन्तु इससे विपरीत बंगाली वाचना में "याति०" एवं "अन्तर्हिते०" श्लोकों को प्राथम्य दिया है, और "कर्कन्धूनाम्०" और "पादन्यासं०" श्लोकों का तीसरा एवं चौथा क्रम निर्धारित किया गया है। दूसरी ओर, लघुपाठवाली देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में उपर्युक्त चार श्लोकों में से केवल दो ही ("याति०" एवं "अन्तर्हिते०") श्लोकों को मान्य किया गया है। अतः यहाँ विचारणीय दो बिन्दु हैं : 1. चार श्लोकों की आनुक्रमिकता कैसी होनी चाहिए ? 2. इन श्लोकों में से किसकी मौलिकता संदिग्ध है ? अर्थात् कौन से श्लोक प्रक्षिप्त होने की सम्भावना दिखती है ?

इस सन्दर्भ में, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में जिन दो श्लोकों को ही स्थान मिला है, तथा बंगाली वाचना के पाठ में जिन दो श्लोकों को प्रथम एवं द्वितीय स्थान दिया गया है, वही परीक्षणीय है : इन ("याति०" एवं "अन्तर्हिते०") दो श्लोकों में शकुन्तला के भावि दुर्दैव का सूचन रखा गया है। किन्तु किसी भी नाट्यकृति में विचारों की पुनरुक्ति करने से समय की हानि होती है, जो नाट्यमंचन में असह्य मानी गई है। दूसरा, इन श्लोकों को "अपि च" निपात से बांधा गया है। किन्तु "अपि च" के विनियोग के लिए जो समुच्चयार्थकत्व होना चाहिए, वह स्वारस्य यहाँ घटित नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों के द्वारा दो अलग विचारों की प्रस्तुति नहीं होती है। तीसरा, इन श्लोकों में जो वसन्ततिलका छन्द का विनियोग हुआ है, वह विरह, करुणता, दुःखादि भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए सुसंगत नहीं है। इन दो श्लोकों में तो शकुन्तला के भावि दुःख का सूचन किया जा रहा है। अतः यहाँ वसन्ततिलका जैसे छन्दः को देख कर भी यह सूचित होता है कि यह दोनों श्लोक कालिदास-प्रणीत नहीं हो सकते हैं ॥

इसी तरह से, भूतकाल में आचार्य शरदरञ्जन राय (राय, 1908) ने भी इन दोनों को प्रक्षिप्त मानना चाहिए ऐसी बात कही थी। उनका कहना था कि पूर्वार्ध में जो वर्णन है वह प्राभातिक समय का आकलन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि सूर्य आविष्कृत हो ही गया है तो फिर "होमवेला हो गई है, चलो गुरु को उसका निवेदन किया जाय" ऐसा कहना सुसंगत नहीं है। यदि इस श्लोक में "आविष्कृतारुण" ऐसे सामासिक शब्द को पाठान्तर के रूप में लिया जाय तो व्यसनोदय के यौगपद्य का कथन दूषित होता है। तथा इस श्लोक में प्रक्रमभङ्ग दोष भी हो रहा है, इस लिए इन दोनों श्लोकों का मौलिक होना सम्भव नहीं है॥

दूसरे पक्ष में, याने काश्मीरी वाचनानुसारी पाठ में जिन दो (कर्कन्धूनाम्० एवं पादन्यासम्०) श्लोकों को प्राथम्य दिया गया है, वे प्रभातकाल का आकलन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। उसकी मौलिकता के लिए कोई सन्देह नहीं होता है। इन दोनों श्लोकों में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग हुआ है, जो शकुन्तला के भावि दुःखमय दिवसों को इङ्गित करने के लिए सुसंगत है। दूसरा, इन दोनों श्लोकों को भी "अपि च" निपात से बांधा गया है, तथापि इन दोनों श्लोकों की निरूप्यमाण विषयवस्तु में पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि कर्कन्धूनाम० वाले श्लोक की प्रासंगिकता जाँची जाय तो (=प्रभात के समय का आकलन करना) स्वयं स्पष्ट है, तथा पादन्यासं क्षितिधरगुरोः० वाले दूसरे श्लोक से प्राकरणिक अर्थ (=शकुन्तला की भावि अवदशा) का सूचन हो रहा है। तथा, उसके साथ अनसूया की उक्ति का अनुसन्धान भी हो जाता है। परिणामतः यहाँ इन दोनों श्लोकों के बीच में जो "अपि च" का विनियोग हुआ है, वह भी समुच्चयार्थक के रूप में सुसंगत लगता है। कण्वाश्रम के शिष्य ने पहले श्लोक में, यज्ञवेदी के प्राङ्गण में अपने सम्मुख जो चहलपहल हो रही है उसका चित्र खींचा है। दूसरे श्लोक में शिष्य ने ऊर्ध्व दृष्टि करके देखा तो चन्द्रमा का पतन हो रहा है, उसका वर्णन किया है। कालिदास किसी भी दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता को वर्णित करने के लिये "अपि च" का प्रयोग करते हैं, उस दृष्टि से इस निपात के प्रयोग का चारितार्थ्य इन दो श्लोकों में ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से इन (कर्कन्धूनाम० एवं पादन्यासं०) दोनों श्लोकों की

ही मौलिकता सिद्ध होती है ॥ सारांशतः, पूर्वोक्त चार श्लोकों में से (देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में जिन दोनों को मान्यता मिली है वे) दो श्लोक प्रक्षिप्त होने के प्रमाण मिल रहे हैं और अन्य दो श्लोकों (जिनको काश्मीरी वाचना में प्राथम्य दिया गया है, उनका मौलिक होना प्रतीत होता है ।

बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में इन चारों श्लोकों का होना सब से पहले इस बात का द्योतक बनता है कि ये चारों श्लोक सुदूर अतीत काल से चले आ रहे होंगे, जो काश्मीरी पाठ में एक प्राचीनतम विरासत के रूप में संक्रान्त हुए हैं । लेकिन जिन दो श्लोकों की मौलिकता संदिग्ध बनी है, वे दोनों को तो तीसरे और चौथे क्रम पर स्थापित किया गया था। काश्मीरी पाठ में मिल रहा श्लोकानुक्रम जब मैथिली पाठ में सुरक्षित दिखता है तो उस परम्परा का वंशज वाचना के रूप में द्वितीय स्थान निर्धारित किया जा सकता है। लेकिन बंगाली वाचना में उन श्लोकों का क्रम उलटा-पूलटा हो गया है, उससे यह सूचित होता है कि यह वाचना तीसरे क्रम पर आकारित हुई होगी ॥

अभी दो बिन्दु स्पष्ट करना जरूरी है। काश्मीरी और मैथिली पाठपरम्परा में संक्रान्त हुए इन चारों श्लोकों का क्रम बंगाली पाठ में बदल देने का प्रेरक परिबल कहाँ होगा ? तथा इन चारों श्लोकों में से जो अमौलिक सिद्ध होते हैं उन दोनों श्लोकों को देवनागरी एवं दाक्षिणात्य में क्यूँ स्थान मिला होगा ? इसका समाधान प्राप्त करने के लिए हमें शङ्कर जैसे टीकाकार के शब्दों को देखना पड़ेगा :- शङ्कर ने याति० वाले श्लोक का ध्वन्यर्थ निकालते हुए लिखा है कि *"एतावता पतितः सौभाग्यगर्वितायाः शकुन्तलाया अग्रे दुःखं भविष्यति इति सूचितम् ।"* तथा अन्तर्हिते० श्लोक का व्यंग्यार्थ बताते हुए उन्होंने लिखा कि *"अन्यापदेशेन शकुन्तला झटिति दुष्यन्तचित्ताहरण-रूपेणात्यारोहेण विरहाम्बुधौ पतिष्यतीति सूचितम् ।"*[9] इस टीका ने प्रक्षिप्त श्लोकों में रही चमत्कृति उद्घाटित करके दिखाई है, किन्तु उसमें पुनरुक्ति हो रही है एवं प्रासंगिक सन्दर्भ (प्रभातकाल का बोध) छुट गया है - यह बात शङ्कर ने नहीं पहेचानी । परिणामतः शङ्कर ने जिसका ध्वन्यर्थ दिखाया था इन दोनों (प्रक्षिप्त श्लोकों) को बंगाली वाचना में प्राथम्य मिल गया । अर्थात्

शाकुन्तल की पाठपरम्परा में दो मौलिक श्लोकों के साथ दो नये श्लोकों का प्रक्षेप बहुत पुरातन काल से चला आ रहा है, किन्तु बंगाली वाचना में प्रथम बार इन चारों का क्रम उलटा-पूलटा किया गया है। जिसमें याति० एवं अन्तर्हिते० को पहला-दूसरा स्थान मिला और कर्कन्धूनाम्० एवं पादन्यासम्० को तीसरा-चौथा स्थान दिया गया। (यहाँ मैथिली पाठ से विपरीत क्रम जो बंगाली पाठ में दृश्यमान हो रहा है उससे ही पाठविचलन का पौर्वापर्य निर्धारित हो रहा है।) तदनन्तर, अल्प समय में इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए जब मूल पाठ में कटौती करके इस नाटक का संक्षेपीकरण का कार्य हाथ पर लिया गया होगा तब, (बंगाली वाचना में) तीसरे एवं चौथे क्रम पर जो श्लोक थे उसको देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाया गया होगा ॥

इस तरह से, प्रातःकाल का वर्णन करने के बहाने चतुर्थाङ्क के प्रारम्भ में "अपि च" निपातों से जुड़ी चार श्लोकों वाली जो शृङ्खला मिल रही है उसका तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास करने से शाकुन्तल की पाठपरम्परा में जो विचलन हुआ है उसका पौर्वापर्य निर्धारित किया जा सकता है। यह एक स्थान ऐसा पहेलीबार ध्यान में आ रहा है कि जिसके सहारे हम शाकुन्तल के मौलिक पाठ के विचलन-क्रम को निर्धारित कर सकते हैं ॥

[3]

शकुन्तला की विदाई के प्रसंग में कण्व मुनि ने सद्यो हुताग्नि की प्रदक्षिणा करने की सूचना दी है। यहाँ कालिदास ने यज्ञवेदी के अग्नि को प्रार्थना करने के लिए कण्व मुनि के मुख में निम्नोक्त श्लोक रखा है :

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्या-
स्समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्
वैतानास्त्वां वह्नयः पालयन्तु ॥4.10॥

यहाँ, काश्मीरी पाठपरम्परा का अनुसरण करते हुए मैथिली एवं बंगाली

वाचना के पाठ में इस श्लोक का अवतार कोई विशेष रंगसूचना के साथ नहीं किया गया है । किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में "ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते" ऐसी रंगसूचना रखी गई है। यहाँ उक्त रंगसूचना से हमारा ध्यान आकृष्ट किया जाता है कि कालिदास ने ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए छन्दः का अनुकरण करते हुए श्लोक लिखा है। तथा प्रोफे. श्री एस. के. बेलवालकर जी जैसे परम श्रद्धेय विद्वान् ने अभिज्ञानशाकुन्तल के अपने संस्करण में इस श्लोक के प्रत्येक पद में अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों के चिह्न भी दिये हैं। अतः यह जानने की तीव्र जिज्ञासा होती है कि ऐसे स्वर-चिह्न जिसमें दिये हों ऐसी कौन सी पाण्डुलिपि डॉ. बेलवालकर जी के सामने थी ? आज उपलब्ध हो रही चार शारदालिपि में उपनिबद्ध पाण्डुलिपियों में से एक में भी ऐसे स्वर-चिह्न तो मिलते ही नहीं हैं ॥ इसी तरह से अन्यान्य लिपियों में लिखी किसी भी पाण्डुलिपि में भी ऐसे स्वर-चिह्न नहीं हैं। अतः डॉ. बेलवालकर जी ने इस श्लोक के पदों में जो स्वरचिह्न दिये हैं उसका मूल स्रोत गवेषणीय है ॥ (आधुनिक पाठसम्पादकों के हाथ से भी शाकुन्तल का पाठ-प्रस्थान हुआ है उसका यह श्रेष्ठ उदाहरण है।)

काश्मीरी पाठानुसारी इस श्लोक के शब्दों में मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने परिवर्तन कर दिये हैं । जैसे कि, *अमीं वेदीं परितः क्षिप्तधूमाः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।* (श्लोक के उत्तरार्ध में कोई परिवर्तन नहीं किया है।) बंगाली वाचना के पाठ में काश्मीरी वाचना के पाठ का सर्वथा अनुसरण किया गया है। तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में बहुशः तो काश्मीरी पाठ का ही अनुगमन हुआ है, किन्तु अन्तिम क्रियापद में "पालयन्तु" के स्थान में "पावयन्तु" ऐसा पाठभेद किया गया है ॥ (आश्चर्यजनक रूप से साहित्य अकादेमी, दिल्ली के काश्मीरी पाठानुसारी संस्करण में, जिसका सम्पादन डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने किया है, उसमें भी "पावयन्तु" ऐसा पाठ स्वीकारा गया है, जो मूलतः देवनागरी का पाठ है ! एवमेव, ऋक्छन्दसाशास्ते । ऐसी रंगसूचना भी उन्होंने देवनागरी-पाठ से लेकर यहाँ रखी है !)

[4]

कण्व मुनि ने शकुन्तला को विदाई देते समय, ''पातुं न प्रथमं०'' इत्यादि शब्दों से, तपोवन के तरुओं से कहा है कि आपको जल-सिञ्चन किये बिना जो जल नहीं पीती थी, स्वयं प्रियमण्डना होते हुए भी जो आपकी डालियों से एक पल्लव भी नहीं तोड़ती थी इत्यादि, ऐसी शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है तो तुम सब उसको जाने की अनुज्ञा दो। यहाँ पर, काश्मीरी पाठ में तुरन्त नेपथ्य से उक्ति आती सुनाई पड़ती है कि - रम्यान्तरः कमलकीर्णजलैस्सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमिता-र्कमयूखतापः । इत्यादि (4.12) ॥ इस श्लोक के नीचे ''सर्वे सविस्मयम् आकर्णयन्ति'' ऐसी रंगसूचना है। तत्पश्चात् शार्ङ्गरव की उक्ति के रूप में निम्नोक्त श्लोक है :

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं प्रियं यदा प्रतिवचनीकृतम् एभिरात्मनः ॥ (4.13)

यहाँ कहीं पर भी ''कोकिलरवं सूचयित्वा'' ऐसी रंगसूचना नहीं दी गई है। दूसरा ध्यानास्पद बिन्दु यह है कि यहाँ कण्व की उक्ति और शार्ङ्गरव की उक्ति के बीच में, नेपथ्योक्ति रूप ''रम्यान्तरः कमलकीर्णजलैः०'' वाला श्लोक रखा गया है । इस तरह का श्लोकानुक्रम अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है ॥ कालानुक्रम से जो पाठ विचलन शुरू होता है उसमें मैथिली पाठ में कण्व के ''पातुं न प्रथमं०'' श्लोक के बाद ''कोकिलरवं सूचयित्वा'' ऐसी रंगसूचना प्रथमबार प्रस्तुत होती है। और इसी के अनुसन्धान में, ''अनुमतगमना'' शब्द में पाठभेद करके, ''अनुमितगमना'' ऐसा शब्द रखा है। तदनन्तर, मैथिली परम्परावालों ने यहाँ जो तीसरा परिवर्तन किया है वह श्लोकानुक्रम में किया है। जिससे कण्व की उक्ति के पीछे कोकिलरव होने की रंगसूचना आती है और उसीके अनुसन्धान में शार्ङ्गरव का श्लोक दिया गया है। तीसरे क्रम पर, नेपथ्योक्ति रूप में ''रम्यान्तरः कमल-कीर्णजलै०'' वाला श्लोक रखा गया है। (मैथिली वाचना में किये गये उपर्युक्त तीन तरह के पाठपरिवर्तनों में से दो परिवर्तनों का अनुसरण बंगाल की पाठपरम्परा ने किया है।) लेकिन यहाँ

काश्मीरी पाठ का औचित्य विचारणीय है। कण्व मुनि ने जो श्लोक बोला था, वह तो तपोवन के तरुओं को उद्देश्य कर के बोला था। अतः तपोवन के तरुओं के द्वारा नेपथ्योक्ति के रूप में पहले प्रत्युत्तर दिया जाना अपेक्षित है। (और शार्ङ्गरव के श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में भी वही बात स्पष्ट रूप से कही गई है।) इस दृष्टि से सोचेंगे तो काश्मीरी परम्परा का श्लोकानुक्रम ही समुचित है ऐसा प्रतीत होगा। हाँ, इतना जरूर समझ लेना पड़ेगा कि नेपथ्योक्ति के बाद, मंचन के दौरान नेपथ्य से ही नटमण्डली के सदस्यों के द्वारा कोकिलरव प्रसारित करना होगा। यह सूचना प्रकट रूप से काश्मीरी पाठ में नहीं है, फिर भी मूल में तो वह कवि कालिदास को अभीष्ट है ही। क्योंकि शार्ङ्गरव के द्वारा जो श्लोक) तीसरे क्रम में) उच्चरित होता है, उसमें ''परभृतविरुतम्'' शब्द का विनियोग किया गया है॥

पाठपरिवर्तन का तीसरा आयाम देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि, काश्यप (कण्व) तपोवन के तरुओं को सम्बोधित करते हुए ''पातुं न प्रथमं व्यवस्यति०'' श्लोक बोलते हैं, तत्पश्चात् ''कोकिलरवं सूचयित्वा०'' वाली रंगसूचना रखी गई है। और उसके नीचे, शार्ङ्गरव के द्वारा बोले जानेवाले (अनुमत-गमना० वाले) श्लोक को कण्व की उक्ति के रूप में दिया है। और तीसरे क्रम में आकाशोक्ति के रूप में ''रम्यान्तरः कमलकीर्णजलै०'' वाला श्लोक (जो काश्मीरी वाचना में नेपथ्योक्ति के रूप में दिया है) वह रखा गया है॥

[5]

प्रथमांक में आश्रमवृक्षों को जलसिञ्चन करने का दृश्य है। उस प्रसंग के काश्मीरी पाठ में (श्लोक 1-17 और 18 के बीच में) माधवीलता से सम्बद्ध छह उक्तियों का एक संवाद है, जो कालान्तर में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में बहुत विस्तृत (ग्यारह उक्तियों का) किया गया है। किन्तु उस वर्णन में इतनी पुनरुक्ति एवं आन्तर विरोध है कि जिसके आधार पर वह प्रक्षिप्त होने की आशङ्का है। जैसे कि, आश्रम के प्राङ्गण में नवमालिका एवं सहकार का निर्देश तो मौलिक

होने में कोई सन्देहजनक बिन्दु मिलता नहीं है, बल्कि उसका विनियोग तो भविष्य में शकुन्तला स्वयंवरवधू बननेवाली है ऐसा सूचन देने के लिए ही है ऐसा साफ प्रतीत होता है। किन्तु कण्व के आश्रम में माधवीलता का होना वह हमारे लिए तो शङ्कास्पद बिन्दु है[11]। काश्मीरी पाठ में माधवीलता से सम्बद्ध छोटा सा सन्दर्भ प्रथम अङ्क में है उसी का स्मरण रखते हुए, किसी अज्ञात पाठशोधक ने चतुर्थाङ्क के बिदाई प्रसंग में भी माधवीलता को विशेष स्थान दिया है। लेकिन इस स्थान का भी मौलिक होना सन्देहास्पद ही है। क्योंकि (1) शकुन्तला पिता कण्व के हाथों से जिसका संवर्धन हुआ है उस माधवीलता को गले से लगा के बिदाई ले, और उसने खूद ने जिस नवमालिका का वनतोषिणी (वनज्योत्स्ना) ऐसा विशेष नाम दिया था उसको जाते समय याद भी न करे यह आश्चर्यजनक भी है, आघातजनक भी है। (2) शकुन्तला माधवीलता को गले से लगा लेती है, उसके बाद पिता कण्व ही कहते हैं कि "वत्से, इयमिदानीं चिन्तनीया मे" फिर भी शकुन्तला दोनों सखियों से मिल कर कहती है कि "एषा द्वयोरपि हस्ते निक्षेपः" तो प्रश्न होता है कि क्या शकुन्तला को पिता के वचनों में भरोसा नहीं था इससिए इस माधवीलता की रक्षा करने का वो सहेलियों से कहती है ? तथा (3) कण्व के द्वारा जो श्लोक उच्चरित है, "संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गता त्वम्। अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः कान्तं समीपसहकारमहं करिष्ये ॥ (4.17)" वह पूर्वापर सन्दर्भ में देखा जाय तो बिलकुल असंगत है। जैसे कि सहकार वृक्ष के साथ वनमालिका का स्वयंवरवधू के समान व्यतिकर तो हो चूका है ऐसा प्रथमांक में कहा गया है, तो फिर कण्व उस माधवीलता का विवाह सहकारवृक्ष के साथ कैसे करवायेंगे ? (4) एवमेव, जो भाव इस अङ्क के अन्तिम श्लोक में "अर्थो हि कन्या परकीय०" शब्दों से व्यक्त किया गया है, उसी भाव का कथन शकुन्तला जब अभी आश्रम में ही खड़ी है तब "त्वयि वीतचिन्तः" शब्दों से करना अनुचित सा लगता है। (5) पूर्वापर सन्दर्भ में इस माधवीलता के प्रसंग की परीक्षा करणीय है। जिसमें प्रियंवदा ने कहा है कि तेरे विरह में केवल तेरी सहेलियाँ ही दुःखी नहीं है, पूरे तपोवन की अवस्था बदल गई है। जैसे कि, "मृगी ने दर्भ घास के कवलों

को उद्गीर्ण कर दिया है, मयूरी ने अपने नर्तन बन्ध कर दिया है, और लताओं ने अपने पाण्डुपत्रों को अपसृत करके मानों अपने अङ्गों में कम्पन किया है।'' अब विचारणीय एक बात है : तपोवन की इतनी हृदयस्पर्शी वियोगावस्था को सुन कर, देख कर भी क्या शकुन्तला तुरन्त ही माधवीलता को आलिङ्गन देने के लिए मुड़ जाय वह उचित है(और उसी की विशेषप्रीतिपात्र नवमालिका नामक लता को याद ही न करें ?) क्या यह सुसंगत है ? इन पाँच कारणों से बिदाई प्रसंग में माधवीलता से सम्बद्ध पूरा संवाद प्रक्षिप्त किया गया (या इसके आगे पीछे आये हुए कुछ अज्ञात अंशो की कटौती होने के कारण विकृत किया गया) प्रतीत हो रहा है॥

काश्मीरी वाचना के उपर्युक्त पाठ्यांश के लिए जो कहा गया है वह मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के लिए भी लागु होता है। केवल देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के सन्दर्भ में इस पाठ्यांश की आलोचना करने की रहती है। इन दोनों वाचनाओं के प्रथमांक में ही माधवीलता का निर्देश नहीं होने से प्रकृत (चतुर्थांक के) पाठ्यांश में भी माधवीलता नहीं है। किन्तु उसके बदले में, जो नवमालिका शकुन्तला को विशेष प्रिय थी, उसे गले से लगा कर वह आश्रम से बिदाई लेती है। यहाँ पर कण्व मुनि के मुख में जो श्लोक है उसके शब्दों में परिवर्तन करके नवमालिका से सम्बद्ध बनाया गया है। जैसे कि -

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम्
अस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः ॥(4.12)

इस तरह के परिवर्तित किये गये, (अर्थात् नवमालिका से सम्बद्ध) शब्दों के कारण उपरि भाग में निर्दिष्ट प्रथम एवं तृतीय दोष नहीं आते हैं। एवञ्च, इस पाठ में पिता काश्यप ने नवमालिका का वे स्वयं ध्यान रखेंगे ऐसा कुछ कहा नहीं है। जिससे उपरि भाग में निर्दिष्ट द्वितीय दोष नहीं आता है। किन्तु पूर्वनिर्दिष्ट चतुर्थ एवं पञ्चम दोष तो यथावत् बने रहते हैं। अतः यह पूरा पाठ्यांश अभी भी संशोधनार्ह ही रहता है॥

[6]

शकुन्तला की बिदाई के समय कण्व मुनि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठ कर सोच रहे हैं कि जामाता दुष्यन्त को कौन सा समुचित सन्देश भेजा जाय ? तब तीनों सहेलियों के बीच बातचीत शुरू होती है। अनसूया कहती है कि शकुन्तला, तेरे विरह में सब लोग उत्सुक हो गये हैं। देख, मुख में मृणालदण्ड को उठा कर खडे रहे चक्रवाक को, पद्मिनी के पत्र के पीछे खड़ी चक्रवाकी बुला रही है, लेकिन वह तेरी ओर उन्मुख होने के कारण अपनी चक्रवाकी को प्रत्युत्तर नहीं देता है।

यहाँ शारदा-पाण्डुलिपियों मे, मूल प्राकृत उक्ति इस तरह की है :

अनसूया - सहि, ण सो अस्समे चिन्तणिज्जो अत्थि। जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुइकदो अज्ज, पेक्ख दाव -

पदमिणीपत्तन्तरिअं वाहरिअं णाणुबाहरदि जाअं।
मुहल्लव्वूढमुणालो तयि दिट्ठिं देइ चक्काओ ॥4.18॥

(सखि, न स आश्रमे चिन्तनीयोऽस्ति, यस्त्वया विरहयन्त्या नोत्सुकीकृतोऽद्य। प्रेक्षस्व तावत् -

पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतां नानुव्याहरति जायाम्।
मुखोद्व्यूढ-मृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥)

शकुन्तला - (विलोक्य) सहि, सच्चं येव णलिणीपत्तन्तरिदं पिअं सहअरं अवेक्खन्ति आदुरं चक्कवाई आरसदि,
दुक्करं खु अहं करेमि। (सखि, सत्यमेव नलिनीपत्रान्तरितं प्रियं सहचरम् अप्रेक्षमाणातुरं चक्रवाकी आरसति। दुष्करं खल्वहं करोमि।)

प्रियंवदा - अज्ज वि विणा पिएण गमअदि राइं विसूरणादीहं।
हन्त, गुरुअं पि दुक्खं आसाबन्धो सहावेदि ॥
(अद्यापि विना प्रियेण गमयति रात्रिं विसूरणादीर्घाम्।
हन्त गुरुकमपि दुःखम् आशाबन्धस्सहयति ॥)

काश्मीरी परम्परा का यह पाठ मैथिली वाचना में प्रायः यथावत् संचरित

हुआ हे, (केवल एक-दो शब्दों में पाठभेद किये हैं, जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है ।) (और टीकाकार शङ्कर ने उसमें अन्यापदेश के रूप में ध्वन्यर्थ भी निकाला है[12] ।) लेकिन तीसरे क्रम में यही पाठ जब बंगाली वाचना में पहुँचता है तो उसमें आश्चर्यकारक रूप से संक्षेप किया गया है। डॉ. रिचार्ड पिशेल के द्वारा सम्पादित समीक्षित-पाठ में, उपरि भाग में निर्दिष्ट तीन उक्तियों में से केवल अनुसूया कि ही प्रथम उक्ति ग्राह्य रखी गई है। उसके पीछे आई हुई शकुन्तला और प्रियंवदा की उक्तियाँ निरस्त की गई है। बंगाली पाठ पर जो सन्दर्भदीपिका टीका लिखी गई है उसमें भी इन दो उक्तियों का कोई निर्देश नहीं है। सम्भवतः पिशेल ने इसी आधार पर इन उक्तियों को नहीं स्वीकारा होगा। (डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के द्वारा पुनः सम्पादित पाठ में इन दोनों उक्तियों का स्वीकार किया गया है। क्योंकि उन्होंने काश्मीरी पाठ का भी विनियोग किया है।) तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के संक्षिप्त किये गये पाठ में, उपर्युक्त अनसूया की प्रथम उक्ति की कटौती कर दी गई है॥

चक्रवाक पक्षिओं से सम्बद्ध उपर्युक्त तीन उक्तियों का पाठ-विचलन देखने से भी बृहत्पाठ का अनुसरण करनेवाली तीनों वाचनाओं में जो पौर्वापर्य (पहली काश्मीरी, दूसरी मैथिली और तीसरी बंगाली) है वह देखा जा सकता है। और अन्त में, याने चतुर्थ क्रम में देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचना का उद्भव-क्रम आता है वह भी सूचित होता है॥

इस तरह चक्रवाकी से सम्बद्ध तीनों उक्तियाँ काश्मीरी में सुरक्षित रही हैं। (तथा मैथिली वाचना में भी ये तीनों उक्तियाँ संक्रान्त हो कर हम तक पहुँची भी हैं[13] ।) यद्यपि चक्रवाक की उक्तियों में कटौती हुई है इसकी ओर सब से पहले ध्यान आकृष्ट करनेवाले मूर्धन्यविद्वान् प्रोफे. श्री एस. के. बेलवालकर जी ही थे। (निसर्ग कन्या शकुन्तला, 1962 (वि.स. 2019) उन्होंने शकुन्तला की एक ''निसर्ग कन्या'' के रूप में पहचान प्रस्थापित करके ऐसी अपेक्षा व्यक्त की है कि शकुन्तला जब पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब भले ही सहेलियों ने एवं

पिता कण्व ने दुर्वासा के शाप की जानकारी शकुन्तला को न दी हो, किन्तु प्रकृति समस्त में से किसी वनस्पति ने या पशु–पक्षी ने क्यूँ शकुन्तला को इस शाप के सन्दर्भ में सावधान नहीं किया ? यही एक बड़ी समस्या है । ऐसा कुछ होना न केवल अपेक्षित था, अनिवार्य भी था । काश्मीरी वाचना में, चक्रवाकवाले प्रसंग में यह आकारित किया गया है । किन्तु दुर्भाग्य से बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में कुल तीन उक्तियों में से एक एवं दो उक्तियाँ ही हम तक संचरित हो कर आई हैं। यदि काश्मीरी वाचना की (तथा मैथिली वाचना की) पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करके देखा जाय तो तीनों उक्तियों वाला पूर्ण संवाद, जो उपर्युक्त अवतरण में दिया है वह हम तक संचरित होकर आया ही है । टीकाकार शङ्कर के अभिप्राय से, चक्रवाक के इस प्रसंग में (तीनों संवादों के द्वारा) शकुन्तला को दुष्यन्त की ओर से नकारात्मक प्रतिभाव ही मिलेगा और शकुन्तला को कुछ कालावधि तक पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करनी होगी ऐसा व्यंजित किया गया है ॥

श्री वेलवालकर जी के शब्दों में देखें तो – ''यहाँ पर पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिए लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है । चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है । इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सान्त्वना देती है और वह विश्वास के साथ सान्त्वना दे भी सकती थी, क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिए ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती हैं । दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दुःख की चेतावनी दे दी[14] । इस उच्चस्तरीय पाठालोचना से यह सुदृढ़ हो जाता है कि बंगाली वाचना में और देवनागरी वाचना में संचरित होकर जितना पाठ हम तक पहुँचा है वह प्रकृत सन्दर्भ में संक्षिप्त किया गया पाठ है ॥

[7]

चतुर्थाङ्क में, शकुन्तला पहले निसर्ग से बिछड़ती है, तत्पश्चात् वह अपने पालक पिता कण्व मुनि से बिछड़ रही है। कवि के लिए इन दोनों का वियोग वर्ण्य विषय है, जिनको ''दृश्य कथावस्तु'' की कोटि में रखा गया है। किन्तु वियोग की ऐसी मार्मिक क्षणों का रंगमंच पर प्रदर्शन (सात्त्विक अभिनय) करना मुश्किल होता है। कवि कालिदास ने, शकुन्तला अपने पालक पिता कण्व को बार बार गले से लगाती है ऐसा रंगसूचनाओं के द्वारा कहा है। काश्मीरी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ के अनुसार, शकुन्तला कण्व को दो बार गले से लगाती है। वहाँ पर जो रंगसूचनायें मिलती हैं उनमें लिखा है कि - *1. उत्थाय पितरमालिङ्ग्य । एवं 2. शकुन्तला पुनः पितरमाश्लिष्य ।* काश्मीरी रंगमंच पर पिता-पुत्री का आश्लेष कैसे प्रदर्शित किया जाता होगा ? इस विषय की कोई जानकारी हमारे पास नहीं है। हमारे लिए यह भी जिज्ञास्य है कि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे पिता कण्व को कैसे गले लगाया जा सकता है ? लेकिन कालान्तर में, मैथिली रंगकर्मियों ने इस स्थान पर अभिनयन-सौकर्यार्थ परम्परागत रंगसूचना में परिवर्तन करके ''पितुरङ्कमाश्लिष्य'' ऐसी रंगसूचना बनाई है। ऐसा करने पर रंगकर्मियों के लिए एक स्पष्टता हो जाती है कि कण्व मुनि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे हैं, और वहीं पर जा कर शकुन्तला को उनके अङ्क में अपने मस्तक से स्पर्श करना है। (कण्व का पात्र लेनेवाले किसी नट को गले से नहीं लगाना है।) मैथिली पाठ में ''पितुरङ्कमाश्लिष्य'' शब्दों से आई हुई रंगसूचना को हम ऐसे समझ सकते हैं॥ किन्तु यहाँ अभिनयन का बुद्धिगम्य सहज स्वरूप सोचने के बाद, जो दूसरा बिन्दु है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैथिली पाठ के रंगकर्मियों ने यहाँ करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुका का उपमान बदल कर मलयपर्वतोन्मूलिता चन्दनलता का उपमान प्रस्तूत करनेवाला नया वाक्य ही पाठभेद के रूप में दाखिल कर दिया। जिससे, अभिनयन के दौरान शकुन्तला जैसे ही पिता के अङ्क में से अपना मस्तक उठा कर बोलना शुरू करे तब उसके मुँह से भी ''कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा०'' इत्यादि शब्द निकले। इस दृश्य में इस तरह

से नाटकीयता लाई जा सकती है। और कण्व बने नट को गले से लगाने से शकुन्तला का अभिनय कर रही नटी को मुक्त किया जा सकता है! मध्यकालीन भारत में ऐसी संकुचितता अवश्य थी कि युवतियों के लिए पति से भिन्न किसी अन्य पुरुष को आलिङ्गन देना अनुचित माना जाता था। अतः मैथिली पाठ में "पितुरङ्कमाश्लिष्य" शब्दों से तत्कालीन भारतीय जनमानस की रुचि-अरुचि का संरक्षण भी कर लेना आवश्यक माना गया होगा[15]। इस नवीन रंगयोजना का अनुसरण बंगाल की पाठ परम्परा में हुआ है॥

अब स्वाभाविक है कि देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में क्या स्थिति है ? वह जानने की इच्छा होगी। इनमें जो रंगसूचना है वह तो "पितरमाश्लिष्य" ऐसी ही है, (अर्थात् उसमें काश्मीरी पाठ जैसी ही रंगसूचना मिलती है), किन्तु शकुन्तला के मुख में जो उक्ति है वह मैथिली वाचनानुसारिणी है:- *कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्ठा मलअतरुम्मूविआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं। [कथमिदानीं ततास्याङ्कात् परिभ्रष्टामलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये।]* एवञ्च, दूसरी बार जब पिता को गले से लगाने की बात आती है तो वहाँ पर देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में रंगसूचना बदल कर लिखा गया है कि "आश्रमाभिमुखी स्थित्वा" आश्रम की ओर मुँह रख कर बोलती है। तत्पश्चात् शकुन्तला के मुख में इस तरह के शब्द है :- *ताद, कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं। [तात, कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये।]* मतलब कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना को लेकर मंचन करनेवाले नटों ने शकुन्तला को तीन बार पिता के गले से लगाने के दृश्य में एक बार कटौती कर ली है॥ यहाँ हम शकुन्तला-प्रस्थान के साथ साथ नाटक के मूल पाठ का भी मंचन के सन्दर्भ में जो त्रिस्तरीय प्रस्थान होता रहा है वह ठीक तरह से देख सकते हैं॥

[8]

शकुन्तला ने जब जाना कि उनकी सहेलियाँ उसके साथ हस्तिनापुर नहीं जा रही हैं, उसको अकेले ही जाना है, तब वह पिताजी को गले लग कर एक वाक्य

बोलती है : *(उत्थाय, पितरमालिङ्ग्य) कधं दाणिं तादेण विरहिदा करिसत्थपरिब्भट्ठा करेणुआ विअ पाणा धारइस्सं । (इति रोदिति) [कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये ।]* शारदालिपि में परम्परा से चले आ रहे इस काश्मीरी-पाठ में मैथिली रंगकर्मियों ने इतना भारी परिवर्तन कर दिया है कि यदि हम उक्त शारदा पाठ से वञ्चित रह जाते तो हमें मूल पाठ का कदापि कोई निर्णय ही नहीं हो सकता था। जैसे कि हमने ऊपर कहा है, क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे पिता कण्व को कैसे गले लगाया जा सकता है ? ऐसा सोच कर, मैथिली रंगकर्मियों ने इस स्थान पर अभिनयन-सौकर्यार्थ रंगसूचना में परिवर्तन करके ''पितुरङ्कमाश्लिष्य'' ऐसी रंगसूचना बनाई है। तथा करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुका का उपमान भी बदल दिया है। मैथिली वाचना में अब नवीन शब्दों ने स्थान लिया है :- *''कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं ।''* यहाँ शकुन्तला बैठे हुए पिता की गोदी में आलिङ्गन देकर (अर्थात् माथा टिका कर) कहती है कि मलयपर्वत से उन्मूलित हुई चन्दलता के समान मैं पिता की गोदी से परिभ्रष्ट हो कर देशान्तर में कैसे जीवन को धारण कर पाऊँगी ? यहाँ इस तरह का जो पाठपरिवर्तन मिलता है उससे शकुन्तला के कहने का गर्भितार्थ ही बदल जाता है। काश्मीरी पाठ का तात्पर्य ऐसा था कि शकुन्तला कण्व जैसे वयोवृद्ध तपोवृद्ध पिता की छत्रच्छाया, जिसमें अनेक ऋषिकुमार, तापसकन्यायें, माता गौतमी आदि भी आश्रय पा रहे हैं, उसमें से बाहर निकल कर, एकाकिनी बन कर वह कैसे प्राण धारण कर सकेगी ? इसमें शकुन्तला अपनी निःसहायता को शब्दबद्ध कर रही है। लेकिन जो मैथिली वाचना का पाठ है उसमें शकुन्तला के कहने का भावार्थ पूरा बदल जाता है। यहाँ शकुन्तला ने अपने आप की तुलना चन्दलनता के साथ की है। इसमें शकुन्तला की सुकुमारता केन्द्र में आ जाती है। इस चन्दनलता के नये उपमान से पिता की जो छत्रच्छाया पहले कथनीय बिन्दु था, वह अन्धेरे में चला जाता है। मैथिली वाचना के पाठ में प्रयुक्त हुई इस नवीन उपमा का प्रसार बंगाली पाठपरम्परा में होने के साथ साथ, क्रमशः देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में भी हुआ है। मतलब कि काश्मीरी पाठ में उपलब्ध हो

रहे ''करिसार्थ से परिभ्रष्ट करेणुका'' के उपमान के सामने, अन्य चार पाठपरम्पराओं में ''मलयपर्वतोन्मूलितचन्दनलता'' का उपमान मिल रहा है । अतः बहुसंख्यक वाचनाओं में मिलने वाला यह दूसरा उपमान मान्य रहना चाहिए या फिर केवल एक काश्मीरी वाचना में ही मिलनेवाला पहला उपमान सम्मान्य रहना चाहिए ? यह विचारणीय बिन्दु बनता है । पाठालोचना के क्षेत्र में अनेक पाठान्तरों में से किसी एक पाठान्तर का चयन करते समय, पाठविशेष की साक्षीभूत वाचनाओं की (या पाण्डुलिपियों की) संख्या कितनी अधिक या कम है, वह निर्णायक प्रमाण नहीं हो सकता । उसमें तो, किस पाठान्तर को कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना का समर्थन मिल रहा है ? वही देखना अनिवार्य होता है । प्रकृत में सोचेंगे तो मालूम होगा कि कण्व मुनि का आश्रम हिमालय की गोद में, मालिनी नदी के तट पर आया था, जहाँ हाथियों का ही निवास हो सकता है । अतः आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से काश्मीरी वाचना का पाठ ही मौलिक हो सकता है । इस जगह पर मलयपर्वत के पास अंकुरित होनेवाली चन्दलनता का उल्लेख अमान्य ही होगा ॥

[9]

शकुन्तला पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब (काश्मीरी वचानानुसारी चतुर्थांक के पाठ में) इस तरह का संवाद है :- शकुन्तला कण्व को पूछती है कि मैं पति के घर जा रही हूँ, लेकिन पिताजी आपका विरह कैसे सह पाऊँगी ? तब पिता कण्व श्लोक 4.24 से उत्तर देते हैं कि कुलीन व्यक्ति के घर में गृहिणी पद प्राप्त होने के बाद तूँ बहुविध कार्यकलाप में व्यस्त हो जायेगी और तेरे अङ्क में पुत्र का आगमन हो जाने के बाद तो सुख ही सुख होने से तूँ मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाले दुःख को भूल जायेगी । इतना सूनने के बाद, बंगाली वाचना के पाठ में, शकुन्तला पिता के चरणों में प्रणाम करती है (ऐसी रंगसूचना है) । (अर्थात् बंगाली वाचना में, यहाँ कण्वमुनि एक ही श्लोक बोलते हैं । किन्तु इस सन्दर्भ का काश्मीरी पाठ (एवं तदनुगामी मैथिली पाठ) निम्नोक्त है, जिसमें कण्व दो श्लोक बोलते हैं :-

कण्वः - किमेवं कातरासि ।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥4.22॥

अपि च, इदमवधारय -

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि ।
आहार्ययोगेन विभज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी ॥4.23॥

शकुन्तला - (पितुः पादयोः पतति) ।

यहाँ श्लोक 22 के नीचे, ''अपि च'' निपात से बांधा गया एक श्लोक - 23 दिख रहा है, जो केवल काश्मीरी एवं मैथिली वाचना के पाठ में ही उपलब्ध होता है। बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह नहीं मिलता है। (तथा डॉ. एस. के. बेलवालकर जी के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल में भी यह श्लोक नहीं मिलता है, किन्तु) शारदा पाण्डुलिपियों में यह श्लोक ''अपि च'' निपात से अवतारित किया गया है । अतः विचारणीय है कि क्या ''अपि च'' के विनियोग से दूसरा श्लोक काश्मीरी-मैथिली में प्रक्षिप्त किया गया होगा ? या फिर वह मौलिक होते हुए भी बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से उसे हटाया गया है ? यहाँ पूर्वधारणा के रूप में यदि मान लिया जाय कि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक रचा गया था। अब पहले श्लोक 22 में शकुन्तला को पिता की याद नहीं आयेगी उसके बहुत प्रतीतिकारक कारण पेश किये गये हैं। फिर भी यह चिन्त्य तो है ही कि पुत्री को ससुराल में कितना भी सुख मिल जाय तो भी क्या वह अपने पिता को भूला सकती है ? सब का अनुभवजन्य उत्तर यही है कि ढेर सारे सुख में भी पुत्री अपने पिता को कदापि नहीं भूला सकती है। अतः प्रश्न होगा ही कि क्रान्तद्रष्टा महाकवि ने यहाँ सर्वजनानुभव-विरुद्ध क्यों लिखा है।

क्या सचमुच में शकुन्तला सुखातिशय में भी पिता कण्व को भूला देगी ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर सभी सहृदयों के मन में होगा कि शकुन्तला अपने पिता को हरगिझ नहीं भूल सकती है। यह बात कण्व भी जानते होंगे, अतः यहाँ उनको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता होगी। यदि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक था ऐसी पूर्वधारणा को छोडके, काश्मीरी और मैथिली वाचना में आया हुआ दूसरा श्लोक भी मूल में होगा ऐसा स्वीकारते हैं तो उपर्युक्त क्षति का विसर्जन हो जाता है।

पहले कहा गया है कि इस नाट्यकृति में एक श्लोक के बाद "अपि च" से अवतारित किये गये दूसरे श्लोक में प्रवर्तमान दृश्य या विचार का दूसरा पहलु रखा जाता है। ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग तभी हो सकता है कि जब प्रस्तुत विचार का दूसरा पहलु भी सम्मीलित करना हो। इस दृष्टि से सोचा जायेगा तो पहले श्लोक में शकुन्तला को ससुराल में सुख मिलने पर वह पिता को भूल जायेगी ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा जाता है कि इन ऐहिक सुखों के बीच में भी पुत्री शकुन्तला के हृदयाकाश में पिता के वार्धक्य को लेकर सदैव चिन्ता विद्यमान रहनेवाली है। तो उसका निरसन करने के लिए क्रान्तद्रष्टा कालिदास ने ऋषि कण्व से उपर्युक्त दूसरा श्लोक कहलवाया है।

कण्व ने शकुन्तला को आश्वासन देते हुए "अपि च" से अवतारित 23 वें श्लोक से यह भी कह दिया है कि शरीर और शरीरी का पृथक्त्व अवश्यंभावि है। जैसे कोई नट अपने पहने हुए मुकुटादि आहार्य चीजों का त्याग करते समय दुःखी नहीं होता, (वैसे ही कण्वमुनि के देहावसान की कल कदाचित् खबर मिले तो भी शकुन्तला को दुःखी नहीं होना चाहिए।) यहाँ समुच्चसार्थक "अपि च" के प्रयोग का याथार्थ्य पूर्ण रूप से सिद्ध होता है। कण्व ने अपनी पुत्री को दो बातें कह के उसे दोनों दृष्टियों से स्वस्थ मनःस्थितिवाली बनाई है। एक तो ससुराल में निरतिशय सुख एवं नयी जिम्मेवारियाँ को लेकर पिता की याद नहीं आयेगी। और

दूसरा पिता का शरीर आहार्य चीज रूप है, जो एक दिन नष्ट होनेवाला है। तो उसकी चिन्ता करना जरूरी नहीं है। आश्रम में पली ऋषिकन्या के लिए आरण्यक पिता का यह औपनिषदिक दर्शन इस स्थान पर बिलकुल सुसंगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा जायेगा तो ''अपि च'' का विनियोग भी समुच्चयार्थक रूप में यहाँ सर्वथा चरितार्थ हो रहा है। अतः काश्मीरी और मैथिली वाचना में दृश्यमान यह दूसरा श्लोक मौलिक होने में संदेह नहीं रहता है॥

उपर्युक्त दो श्लोकों वाला काश्मीरी पाठ जो पहले मैथिली पाठ में संक्रान्त हुआ होगा वह वहाँ पर सुरक्षित रहा है। लेकिन तीसरे स्तर पर बंगाली एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से, ''अपि च'' से अवतारित दूसरा श्लोक हटाया गया होगा। इस प्रकार के संक्षिप्तीकरण से चतुर्थाङ्क का एक विशेष सौन्दर्य, जो दार्शनिक पिता के वचनों में से झलक रहा था उससे हम वंचित रह जाते हैं॥ कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में भी औपनिषदिक दर्शन व्यक्त किया है।

इस चतुर्थाङ्क में शकुन्तला जब पूछती है कि पिताजी इस तपोवन को मैं फिर से कब देख पाऊँगी ? तब कण्व मुनि ने कहा है कि उत्तरावस्था में दौष्यन्ति (भरत) के कन्धों पर राज्यधुरा स्थापित करके इस शान्त आश्रम में प्रवेश करना[16]। यहाँ मैथिली पाठ में शान्ति शब्द के स्थान में पाठभेद करके शान्त्यै ऐसा शब्द रखा गया है। और बंगाली पाठ में उसका अनुगमन किया गया है। यहाँ पर शान्त्यै (शान्ति के लिए) को समझाते हुए टीकाकार चन्द्रशेखर ने लिखा है कि – मोक्षार्थम्। दुष्यन्त-शकुन्तला जब आप्तकाम हो जाय तब मोक्षार्थे इस आश्रम में वापस आने का कहनेवाले तपस्वी तात कण्व ''अपि च'' से पूर्वोक्त श्लोक द्वारा पुत्री को मरणोपरान्त शोक न करने की अनुदेशना दे वह सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है। नाटक के अन्तिम भरत-वाक्य में भी कवि ने लिखा है कि ''सरस्वती श्रुतिमहती/श्रुतिमहतां महीयताम्।'' इसको देखते हुए भी काश्मीरी वाचना का उपर्युक्त श्लोक मौलिक प्रतीत हो रहा है। एवं मैथिली वाचना को छोड़ के अन्यत्र (बंगाली, देवनागरी तथा

दाक्षिणात्य वाचनाओं में) उसको हटा दिया गया है, जो कालिदास के कवित्व को हानि करनेवाला बन गया है ॥

[10]

गौतमी कण्व मुनि को कहती है कि शकुन्तला तो आपको नहीं छोड़ पायेगी। अतः आप ही यहाँ से निवृत्त हो जाय वही उचित रहेगा। तब क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे कण्व मुनि उठ कर शकुन्तला को कहते हैं कि *"वत्से, उपरुद्ध्यते मे तपोऽनुष्ठानम्। प्रतिनिवर्तितुमिच्छामि।"* यहाँ शकुन्तला पिता कण्व को आश्लेष देती हुई कहती है कि *"तपोव्यापारेण तातो निरुत्कण्ठो भविष्यति, अहमिदानीम् उत्कण्ठाभागिनी संवृत्ता॥"* (पिताजी आप तो तपोनुष्ठान में लग जाओगे और दुहिता की उत्कण्ठा से मुक्त हो जायेंगे, लेकिन मैं अकेली पिता को मिलने की उत्कण्ठा से घीरी रहुँगी) इसको सुन कर कण्व कहते हैं कि,

अयि किं मां जडीकरोषि।
शममेष्यति मम वत्से कथमिव शोकस्त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥ (4.25)

कण्व का कहना यही है कि तपोनुष्ठान में मग्न होने पर भी मैं तेरी उत्कण्ठा से मुक्त होनेवाला नहीं हूँ। क्योंकि तूंने (शकुन्तला ने) पहले जो नीवारबलि की रचना की है, उनमें से उटज के द्वार पर जो अङ्कुर निकल आये हैं उसको देख देख कर जब मैं शोकाविष्ट हो जाऊँगा तो मुझे शान्ति कैसे मिलेगी ? अर्थात् कन्या की बिदाई होने के बाद भी पिता निरन्तर उत्कण्ठित ही रहनेवाले हैं॥

काश्मीर का यह परम्परागत पाठ जब मैथिली वाचना में संक्रमण करता है तब केवल दो शब्दों के स्थान में पाठभेद जन्म लेता है। जैसे कि, उपर्युक्त श्लोक में "शममेष्यति०" (मुझे शान्ति कैसे मिलेगी ?) के स्थान में "अपयास्यति" (मेरा शोक कैसे दूर हो सकेगा ?) ऐसा शब्द रखा गया है। और "उटजद्वारविरूढम्" के

स्थान में ''उटजद्वारि विरूढम्'' शब्द रखा है। लेकिन बंगाली पाठ में तीसरे शब्द में भी पाठभेद किया गया है। जैसे कि, ''अपयास्यति मे शोकः कथं नु वत्से त्वयाऽवचितपूर्वम्।'' (अर्थात् शकुन्तला आश्रम में उटजद्वार पर नीवारबलि के दानें में से अङ्कुरित हुए तृणादि अवचयन कर देती थी। अब शकुन्तला की बिदाई होने के बाद वह तृणादि संवर्धन होता ही रहेगा, और उसका अवचयन करनेवाला तो कोई होगा नहीं। इसको देख कर कण्व मुनि को शकुन्तला याद आयेगी और वे शोकाविष्ट रहेंगे।) ''रचितपूर्वम्'' के स्थान में ''अवचितपूर्वम्'' ऐसा पाठभेद होने से इतना वाक्यार्थ बदल जाता है। अब प्रश्न होगा कि तीनों में से किस पाठ का मौलिक होना सम्भवित लगता है? तो यह बंगाली पाठ में जो ''अवचितपूर्वम्'' ऐसा पाठभेद मिलता है वही तीसरे क्रम पर आया होगा ऐसा लगता है। क्योंकि कालिदास ने शकुन्तला के चरित्रचित्रण के सन्दर्भ में कहा है कि आश्रम के वृक्षों और लताओं के प्रति उसके मन में सहोदर जैसा भाव है। एवं वह प्रियमण्डना थी, फिर भी वनस्पतियों से कदापि एक पल्लव भी तोड़ती नहीं थी। तथा उसी के फलस्वरूप जब शकुन्तला के बिदाई के समय उसका मण्डन करने के लिए वनस्पतिओं से पुष्पाहरण के लिए कण्व मुनि ऋषिकुमारों को भेजते हैं तब वनस्पति ने स्वयं ही क्षौम वस्त्र एवं अलंकारादि शाखामय बाहुओं से निकाल कर दिये हैं! यदि शकुन्तला और वनस्पति के बीच इतना आत्मीय सम्बन्ध है ऐसा जो अनेक स्थानों पर कहा गया है उसको याद करेंगे तो तुरन्त स्पष्ट हो जायेगा कि बंगाली पाठ में ''रचितपूर्वम्'' के स्थान में पैदा हुआ ''अवचितपूर्वम्'' जैसा पाठभेद तृतीय स्तर पर ही आया है। बृहत्पाठ परम्परा में पहला पाठ शारदा पाण्डुलिपियों में जो मिलता है वह है, और उसमें कुछ परिवर्तन हो कर दूसरे क्रम में मैथिली पाठ जन्म लेता है। सब से अन्त में, याने तीसरे क्रम में बंगाल का पाठ आकारित हुआ है ऐसा कहने का यह भी एक आधार है। (कृतिसमीक्षा से पाठसमीक्षा का यह उदाहरण बनता है। कृति में ही अन्यत्र शकुन्तला का चरित्रचित्रण कैसा है? उसको ध्यान में

लेकर जब दो तरह के पाठभेदों में से किसी एक पाठ का प्राचीनतरत्व या अधिक श्रद्धेयत्व सिद्ध किया जाता है तो उसे ही "आन्तरिक सम्भावना" के नाम से पहचाना जाता है।)

अब पाठ-संक्रमण के चतुर्थ सोपान पर, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में जब संक्षेपीकरण का काम किसी अज्ञात पाठशोधक ने किया है उसने प्रकृत स्थान में पाठसुधार का भी काम किया है। जैसे कि -

काश्यपः - वत्से, उपरुद्ध्ये तपोनुष्ठानम्।

शकुन्तला - (भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदुं। [तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्मातिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम्।]

काश्यपः - (सनिःश्वासम्) शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥4.20॥

यहाँ शकुन्तला ने पिता कण्व को ऐसा नहीं कहा है कि आप तो तपोव्यापर में मग्न हो जाने से निरुत्कण्ठ हो सकेंगे, और मैं अकेली आपके बिना उत्कण्ठित रहूँगी। यहाँ तो शकुन्तला पिता कण्व को कहती है कि पिताजी आपने तपश्चर्या से वैसे ही शरीर को पीड़ित कर रखा है, अब मेरे लिए अपने आप को बहुत उत्कण्ठित नहीं करना। इत्यादि ॥ इसमें शकुन्तला अपने पिता के लिए अधिक चिन्तामग्न है ऐसा चित्र प्रस्तुत होता है। और श्लोक की आनुपूर्वी काश्मीरी पाठ का ही अनुगमन कर रही है, उस पर मैथिली एवं बंगाली पाठ का कोई प्रभाव नहीं है। यहाँ एक विशेष बात यह कहनी जरूरी है कि किसी सहृदय की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना का पाठ काश्मीरी आदि तीन वाचनाओं के पाठ की अपेक्षा से अधिक स्पृहणीय हो सकता है, लेकिन यह एक अभिप्राय मात्र होगा। क्योंकि हमने अन्यत्र देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ को बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं के पाठ की अपेक्षा से बहुत उत्तरवर्ती काल का है ऐसा सिद्ध किया है[17] ॥

=o=

उपसंहार

उपर्युक्त चर्चा में तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये उदाहरणों से जो बिन्दुयें हमारे सामने आ रहे हैं वे इस तरह के हैं – 1. काश्मीरी पाठ की मौलिकता के समर्थक उदाहरण मिल रहे हैं, जिसके लिए निदर्श रूप से पेरा 1 एवं 9 द्रष्टव्य है। 2. शाकुन्तल के पाठ–प्रस्थान का अनुक्रम काश्मीरी, मैथिली, बंगाली, और तत्पश्चात् देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है ऐसा अनेकशः सिद्ध होता है। 3. उपलब्ध पञ्चविध वाचनाओं में शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित काश्मीरी पाठ प्राचीनतम होते हुए भी, उसमें भी सुदूर अतीत काल में प्रविष्ट हुए प्रक्षेप मिलते हैं, जिसका शोधन कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावनाओं से किया जा सकता है। 4. काश्मीरी पाठ में सुरक्षित रहे कुछ श्लोकों की मौलिकता सिद्ध होने से चतुर्थाङ्क की अज्ञात अद्वितीयता हमारे सामने आती है, तथा उसमें छिपा कालिदास का औपनिषदिक दर्शन प्रथम बार अवगत होता है॥

पादटीप

1. बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं में प्रवेशक नाम दिया गया है, किन्तु लघुपाठ की दोनों (देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) वाचनाओं में विष्कम्भक ऐसा नामकरण हुआ है।
2. काश्मीरी पाठ में लिखा है कि "विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा यतोऽतिथिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।" इत्यादि किन्तु उसमें कुछ परिवर्तन करके मैथिली पाठ में "विचिन्तयन्ती यम् अनन्यमानसा तपोनिधिं वेत्सि न माम् उपस्थितम्।" इत्यादि ऐसे शब्द रखे गये हैं। पहले में अतिथि के अनादर का दण्ड घोषित किया गया है, दूसरे मैथिल पाठ में तपोनिधि का अनादर करने का दण्ड है। लेकिन इसमें दुर्वासा का तपोनिधि होने का घमण्ड भी प्रकट होता है।
3. मैथिली पाठ में दुष्यन्त और अनुसूया ऐसे नाम दिये गये हैं। बंगाली पाठ में

दुःषन्त और अनुसूया ऐसा पाठभेद है। काश्मीरी पाठ में दुष्य्यन्त और अनसूया नाम मिलते हैं।

4. वहाँ तो केवल ''परिक्रामतः'' ऐसी रंगसूचना ही है।
5. (अनुवाद) एक ओर चन्द्रमण्डल अस्तशिखर को पहुँच रहा है और एक ओर अरुण को आगे किये उदित हो रहा है सूर्य। दो तेज और दोनों का एक साथ व्यसन (अस्त) तथा अभ्युदय। इनसे लोक को शिक्षा मिलती है अपनी दशा बदलने की ॥ – कालिदास ग्रन्थावली, भाग – 2 अनु. तथा संपादक, पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399
6. (अनुवाद) चन्द्र डूब गया तो वही कुमुद्वती अब आँखो को आनन्दित नहीं कर रही है। इष्ट (प्रिय) के प्रवास से उत्पन्न दुःख अबलाओं को अत्यन्त दुःसह होते हैं ॥ – कालिदास ग्रन्थावली, भाग – 2 अनु. तथा संपादक, पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399
7. (अनुवाद) और देखो बैरों के ऊपर पडी ओस को उषा काल रंग रहा है, जागा मोर लकडी के उटज पटल को छोड रहा है, ये हरिण शिशु चारों ओर उपवन में निर्भय चर रहे हैं, क्योंकि इसमें दर्भाङ्कुर हटा दिए गए हैं ॥ - कालिदास ग्रन्थावली, भाग – 2 अनु. तथा संपादक, पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398
8. (अनुवाद) जिस (चन्द्र) ने पर्वतराज सुमेरु के सिर पर पादन्यास पर अँधियारी दूर करते हुए भगवान् विष्णु के दूसरे धाम पर विचरण किया था वही चन्द्र अब बहुत कम बची किरणों के साथ आकाश से गिर रहा है। अत्यारूढि बडों को भी पतन का मुख दिखलाती है ॥ – कालिदास ग्रन्थावली, भाग – 2 अनु. तथा संपादक, पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398
9. मैथिलपाठानुगम् अभिज्ञानशकुन्तलम्। (शङ्कर–नरहरिकृतव्याख्या समलंकृतम्), सं. श्री रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957 (रसचन्द्रिका, पृ. 235)

10. अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्यास्समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर् वैतानास्त्वा वह्नयः पावयन्तु ॥
11. द्रष्टव्य : अभिज्ञानशकुन्तलम्, (चन्द्रशेखरचक्रवर्तिप्रणीत-सन्दर्भदीपिकया टीकया समलङ्कृतम्) सम्पादक : वसन्तकुमार म. भट्ट, प्रकाशक : राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 37-40
12. यथायमुद्व्यूढमृणालोपि प्रियामपहाय मय्यासक्तलोचनस्तथा मृणालवलयहरण-रूपदर्शितप्रणयोपि राजा मामपहायाऽन्यकलत्रासक्तदृष्टिर्भविष्यतीति निजपरि-त्यागमाशङ्कमाना शकुन्तलाह, सखि सत्यमेव नलिनीपत्रान्तरितं प्रियं सहचरम् अप्रेक्षमाणा आकुलं चक्रवाकी आरसति रौति । सत्रासं, ममाप्येवं मा भूदिति त्रासः । रसचन्द्रिका, पृ. 245
13. द्रष्टव्य : मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित श्री रमानाथ झा द्वारा संपादित अभिज्ञानशकुन्तलम्, पृ. 75
14. निसर्ग कन्या शकुन्तला – शीर्षकवाला आलेख, जो कालिदास-ग्रन्थावली, (तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59-70), अनुवादक – सीताराम चतुर्वेदी ने अलीगढ़ से 1962 में प्रकाशित किया है वह बार बार द्रष्टव्य है ।
15. द्रष्टव्य है : तथात्र अङ्कमाश्लिष्येत्यादिना युवत्याः पत्यतिरिक्तपुरुषस्य वक्षस्यालिङ्गनमसङ्गतमिति द्योत्यते । स्नेहवशात् सन्तानस्य जनक-जनन्यङ्काश्रयणस्य सार्वत्रिकत्वात्, तस्मादङ्गान्तरानुपादानम् इति बोध्यम् ॥ किशोरकेलि-व्याख्यासमेतम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् । सं. श्रीकान्तानाथशास्त्री तेलङ्गः, चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, वाराणसी, 1960 पृ. 300
16. भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय । तत्सन्निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा, शान्त्यै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ अ.श. 4.22
17. अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के पदचिह्न ॥ नाट्यम्, (अंक 71-74) सं. श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2013, पृ. 27-57

* * *

Bibliography

कालिदास (अज्ञात) शारदालिपिनिबद्धाः पाण्डुग्रन्थाः, 192, 1247, 159, 1435 पुणे, ऑक्सफर्ड, श्रीनगरस्थाः अप्रकाशिताः शारदा–मातृकाः ॥

चतुर्वेदी, सीताराम. (1963) कालिदासग्रन्थावली (हिन्दी अनुवाद सहिता) अलीगढः, (उ. प्र.) अखिल भारतीय पुस्तक मन्दिर.

द्विवेदी रेवाप्रसाद (2008) कालिदासग्रन्थावली (हिन्दी अनुवाद सहित) काव्यखण्ड–भाग – 1 तथा नाट्यखण्ड भाग – 2 कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन, म.प्र.

पिशेल रिचार्ड (1922) अभिज्ञानशकुन्तलम्। केम्ब्रीज, अमरिका, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

बेलवालकर एस. के. (1962) निसर्ग कन्या शकुन्तला in अ. श. चतुर्वेदी, कालिदास ग्रन्थावली (हिन्दी अनुवाद के साथ (pp तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध पृ. 59-70) अलीगढ, (उ. प्र.) भारत प्रकाशन मन्दिर.

भट्ट, वसन्तकुमार (2013) अभिज्ञानशकुन्तलम्, (सन्दर्भ–दीपिकया टीकया समेतम्) नई दिल्ली, राष्ट्रिय पाण्डुलिपिमिशन.

रमानाथ झा, (1957) अभिज्ञानशकुन्तलम्, (शंकर–नरहरिकृतयोष्टीकयोः समेतम्). दरभंगा मिथिला विद्यापीठ.

राम, नारायण (2006) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (राघवभट्टस्य अर्थद्योतनिकया टीकया सहितम्). नई दिल्ली, राष्ट्रिय संस्कृतसंस्थान.

राय शरद रञ्जनः (1908) अभिज्ञानशकुन्तलम्, कोलकाता.

★ ★ ★

[5]

हंसपदिका-गीत एवं भ्रमर का प्रतीक : पुनः परामर्श

भूमिका : अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के पञ्चमाङ्क में हंसपदिका-गीत का प्रसंग आता है। इस गीत को सुनने के बाद विदूषक ने राजा दुष्यन्त को प्रश्न पूछा है : "क्या आपने इस गीत का अक्षरार्थ समझा ?" यह प्रश्न सहृदय प्रेक्षकों और पाठकों को भी शताब्दियों से पुछा गया है। लेकिन उसका कोई एक निश्चित अर्थ होना सम्भव नहीं लगता है। सभी ने अपनी अपनी भावयित्री प्रतिभा के अनुसार उसका उत्तर सोचा है। टीकाकारों की लम्बी परम्परा ने भी इस विषय में खूब सोचा है और हमारी मदद की है। दुष्यन्त के जीवन का एक पहलु जो अखण्ड पुण्यों के फल स्वरूप आकारित होता है, वह है कण्वाश्रम के प्राङ्गण में तापस-कन्या शकुन्तला से हुआ प्रेम-प्रसंग। नाटक के पहले तीन अङ्कों में कवि कालिदास ने इस अकृत्रिम प्रेम-प्रसंग का निरूपण प्रत्यक्ष रूप से किया है। लेकिन पञ्चमाङ्क के आरम्भ में, हस्तिनापुर के राजमहलों में चल रहे उसके वैवाहिक जीवन का दूसरा पहलु परोक्ष रूप से प्रस्तुत होता है। इस दूसरे पहलु का केन्द्रीभूत स्थान है हंसपदिका-गीत का प्रसंग। अतः हंसपदिका-गीत से जुड़े मत-मतान्तरों की समीक्षा करना बहुत आवश्यक है। तथा इस हंसपदिका-गीत से सम्बद्ध मधुकर का प्रतीक भी प्रस्तुत नाट्य-कृति में निरूपित हुए प्रेमप्रसंग को समझने की चावी स्वरूप है या नहीं ? इसकी भी आलोचना करनी अनिवार्य है। क्योंकि नायक के लिए प्रयुक्त भ्रमर के प्रतीक के उपरान्त नायिका शकुन्तला के लिए भी प्रयुक्त हुए (हरिणी जैसे) दूसरे प्रतीक को इस चर्चा में शामिल करना चाहिए। अन्यथा हम दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेमप्रसंग की गरिमा एवं उसका विकास किस स्वरूप में हुआ है ? उसको ठीक तरह से नहीं समझ पायेंगे ॥

[1]

मैथिली वाचना के सुप्रसिद्ध टीकाकार शङ्कर ने हंसपदिका-गीत का स्वरूप बताते हुए कहा है कि इसमें प्रच्छादक नाम का लास्याङ्ग निरूपित हुआ है। कविकण्ठहार ग्रन्थ में लिखा है कि "अनयासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छादको मतः ॥" कोई परिणीता स्त्री अपने पति को अन्य स्त्री में आसक्त है ऐसा जान कर, प्रेमविच्छेद होने से मन्युग्रस्त होकर जब वीणा के साथ किसी गीत को प्रस्तुत करती है तो उसे प्रच्छादक नाम का लास्याङ्ग कहते हैं[1] ॥ अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में हंसपदिका का गीत भी इसी स्वरूप का है॥

इस नाटक की सुप्रचलित देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस प्रसंग का पाठ्यांश निम्नोक्त स्वरूप का है :

विदूषकः - (कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स, संगीदसालंतरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजीओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति।

राजा - तूष्णीं भव। यावदाकर्णयामि।

(आकाशे गीयते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओ सि णं कहं ॥1॥

राजा - अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषकः - किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो।

राजा - (स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्याः देवीं वसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य, मद्वचनाद् उच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मि इति ॥

प्रॉफ. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने इसमें से हंसपदिका-गीत का हिन्दी अनुवाद इन शब्दों से किया है :- "अभिनव मधु के लोलुप तुम, हे मधुकर ! भूल कैसे गए उस प्रकार चुम्बन कर उस आम्रमञ्जरी को ? केवल कमल में निवास पाकर हो गए तुम तुष्ट। ऐसा कैसे ?॥"

[2]

परम्परागत टीकाकारों के दिमाग में उसके तरह तरह के अर्थ उद्-भासित हुए हैं। उसका प्रमुख कारण यही है कि कवि कालिदास ने इस हंसपदिका-गीत में अन्योक्ति (अन्यापदेश) का गुम्फन किया है। सब से पहले देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना पर टीका लिखनेवाले प्राचीन टीकाकारों का इस विषय में क्या कहना है वह देखते हैं :- काटयवेम ने लिखा है कि इस ध्रुवा गीति से हंसपदिका अपने को भूल गये राजा को मधुकर के व्याज से उपालम्भ दे रही है ऐसा समझ में आता है। तथा इसी गम्यमान अर्थ से जो (हस्तिनापुर में) आ रही है उस शकुन्तला का भी राजा को विस्मरण हो गया है ऐसा भी सूचित होता है[2]। अभिराम ने लिखा है कि राजा दुष्यन्त ने जिसके साथ रतिकेलियाँ खेली थी और बाद में देवी के भय से उसकी उपेक्षा की थी ऐसी हंसपदिका नामक कोई एक वल्लभा ''अभिनवमधुलोलुप०'' शब्दों से तुल्यावस्थ मधुकर के व्याज से राजा को उपालम्भ दे रही है[3]। आम्रमञ्जरी समान हंसपदिका का परिचुम्बन करने के पश्चात् चिरपरिचित कमल में (याने महादेवी वसुमती में) केवल निवासमात्र से, रसास्वाद विहीन होने के बावजुद भी अपने को सुखी मानता हुआ दुष्यन्त उस हंसपदिका को क्यूँ भूल गया है ? । यह गीत का अक्षरार्थ है। अभिराम आगे कहते हैं कि रानी हंसपदिका ने यहाँ नैपुण्य के साथ अन्यापदेश का विनियोग किया है, जिससे यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में ''दुष्यन्त को अब शकुन्तला का विस्मरण हो गया है'' ऐसी संसूच्य वस्तु भी (प्रेक्षको के दिमाग में) अभिव्यक्त हो जाती है[4] ॥ काटयवेम और अभिराम ने इस पद्य का दो तरह से, अर्थात् वक्तृपक्ष से और प्रेक्षकों के पक्ष से जो अर्थ करके दिखलाया है वह समीचीन है। यहाँ प्रसंगवशात् अन्य रसिकों ने क्या सोचा है वह भी द्रष्टव्य है।

शाकुन्तल के विभिन्न टीकाकारों के योगदान की चर्चा करते हुए श्री राधावल्लभ त्रिपाठी ने कहा है कि शंकर और नरहरि दोनों अलंकारवादी होने के कारण भाषा तथा व्युत्पत्ति पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करते हैं। शकुन्तला

यह संज्ञा तो पौराणिक कथानक में सुप्रसिद्ध है, पर हंसपदिका का नाम तो कविकल्पित है। हंसपदिका-इस नाम की कल्पना में कवि ने जाने या अनजाने शकुन्तला के नाम की ही छाया ले ली है। "हंसः शकुन्तः, तं लातीति शकुन्तलाऽप्यत्र सूच्यते" इस व्याख्या के द्वारा मिथिला के टीकाकार अहिणवमहु० करुणगीति को एक नया आयाम देते हैं, वह गीति मात्र दुष्यन्त की किसी सकृत्कृतप्रणया अन्तःपुरिका का आह्वान नहीं, आश्रमकन्या शकुन्तला की भी सीधे-सीधे व्यथित पुकार है ॥[5]

घनश्याम ने कहा है कि हंसपदिका "भोगिनी स्त्री" का नाम है। यहाँ मधुकर से दुष्यन्त, चूतमञ्जरी से हंसपदिका, मधु से नव सम्भोग-विलास एवं कमल से शकुन्तला व्यंजित होती है। (मतलब कि दुष्यन्त ने जब से शकुन्तला का प्रेम प्राप्त किया है तब से लेकर उसने हंसपदिका के साथ भोग करना छोड़ दिया है।) इस पद्य का वक्तृ-पक्ष से (याने हंसपदिका के पक्ष से) अर्थ सोचा जाय तो रानीवास में बैठी हंसपदिका राजा दुष्यन्त अपने को अब भूल गया है उसकी शिकायत कर रही है। (परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीं विस्मृतोऽसि कथमेनाम्)।

टीकाकार घनश्याम ने एक तीसरे अर्थ की सम्भावना भी प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि, कमल स्थान में हंसपदिका को रखी जाय तो इस पद्य का अर्थ बदल जायेगा। जैसे कि, मुझ हंसपदिका रूप कमल में तूं अब निवास मात्र करता है, (वसतिमात्र तो शुष्कस्थिति को कहनेवाली है), लेकिन चूतमञ्जरी स्वरूपा शकुन्तला को तूं (दुष्यन्त) क्यूं भूल गया है ? ऐसा नाट्यगत अर्थ भी हो सकता है। अर्थात् आज शकुन्तला जो पतिगृह की ओर आ रही है, उसको दुष्यन्त दुर्वासा के शाप से भूल गया है। इस परिस्थिति का यहाँ (प्रेक्षकों को) सूचन दिया जाता है। (घनश्याम का यह तीसरा अर्थ काटयवेम एवं अभिराम के द्वारा दिये गये दूसरे अर्थ के समान ही है।) ॥

[3]

विभिन्न टीकाकारों ने इस गीत से सम्बद्ध विभिन्न अर्थविच्छित्तियाँ प्रकट की है, इन सब का निष्कर्ष निकाल कर कहना हो तो हंसपदिका-गीत से यदि

''वसुमती-वृत्तान्त'' ध्वनित होता है ऐसा माना जाय तो चूतमञ्जरी शब्द से हंसपदिका और कमलिनी शब्द से वसुमती लक्षित होती है। मतलब कि इस गीत से राजा दुष्यन्त को कहा जाता है कि तूँ हंसपदिका को क्यूँ भूल गया है ?। इसका समर्थन करते हुए राजा ने कहा है कि इस हंसपदिका से मैंने एकबार संगम किया था, लेकिन बाद में मैंने उसकी उपेक्षा कर दी है। जिसके कारण देवी वसुमती को उद्दिष्ट करके इस हंसपदिका के द्वारा मुझे उपालम्भ दिया गया है, वह मैं समझ गया हूँ[7] ॥ यदि इसी अर्थ को विस्तारित किया जायेगा तो, जैसे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर[8] ने कहा है, उसमें दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति भी व्यंजित हो रही है। और दुष्यन्त की इस भ्रमरवृत्ति को हटाने के लिए कालिदास ने दुर्वासा का शाप प्रयुक्त किया है॥ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जी का अनुसरण करते हुए कविश्री उमाशङ्कर जोशी[9] ने ऐसा भी कहा है कि दुष्यन्त में व्यष्टि-निष्ठा का अभाव था, (और शकुन्तला में समष्टि-निष्ठा का अभाव था), इस लिए कालिदास ने दुर्वासा के शाप का विधान किया है। इस तरह से हंसपदिका-गीत के माध्यम से, दुष्यन्त के स्वभाव में रही भ्रमरवृत्ति का जो परोक्ष रूप से कथन किया गया है उससे रवीन्द्रनाथ जी ने नायक-नायिका के प्रेम का मूल्यांकन करने का एवं दुर्वासा के शाप का प्रयोजन ढूँढने का उपक्रम स्वीकारा है॥

किन्तु, हंसपदिका के गीत से ''शकुन्तला-वृत्तान्त'' प्रतिध्वनित होता है ऐसा मानेंगे तो अभिनव अधरामृत का लालची दुष्यन्त चूतमञ्जरी सदृश शकुन्तला को परिचुम्बन करके, अर्थात् गान्धर्व-विवाह करके, अब कमलवसति मात्र से सुखी रहनेवाला बना है, अर्थात् अन्तःपुर में विहार करने मात्र से संतुष्ट रहने लगा है, और इस शकुन्तला को भूल ही गया है[10] ॥ यही बात दूसरे शब्दों में अन्य विद्वानों ने भी कही है। वे हंसपदिका के उपालम्भ को महत्त्व न दे कर, दुष्यन्त अब ''कमलवसतिमात्र निर्वृत्त'' हुआ है इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं[11] ॥ जिसका मतलब होता है कि अनेक रानियों से भरे अन्तःपुर में दुष्यन्त को कभी भी सच्चे प्रेम का अनुभव ही नहीं हुआ था, लेकिन शकुन्तला का प्रेम मिलने के बाद अब उसके दिल में आप्तकाम होने का भाव स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो गया है॥

सारांशतः हंसपदिका-गीत का अभिधार्थ देखा जाय तो उसमें ''वसुमती-वृत्तान्त'' कहा गया है, और उसमें से ध्वनित होता हुआ व्यङ्ग्यार्थ देखेंगे तो यहाँ ''शकुन्तला-वृत्तान्त'' सूचित किया गया है। यह दृष्टि परम्परागत टीकाकारों की रही है। आधुनिक समय में, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जी ने हंसपदिका-गीत का (केवल) अभिधार्थ ही लिया है, तथा (परम्परागत टीकाकारों के मार्ग से हट कर) इस गीत में आये हुए ''मधुकर'' शब्द के प्रयोग से दुष्यन्त में रही भ्रमरवृत्ति को व्यङ्ग्यार्थ के रूप में लिया है! तथा ऐसे अर्थ को लेकर दुर्वासा के शाप का प्रयोजन समझाया है।

लेकिन इस गीत में से प्रस्फुटित हो रही एकाधिक अर्थच्छटाओं में से किसको प्राधान्य देकर नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग का कैसे अर्थघटन किया जा सकता है? वह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है[12]। तथा ऐसी साहित्य-समीक्षा को अग्रेसर करके पुरोगामी साहित्य-समालोचकों ने चाहे जो भी मनोहारी विवेचन किया हो, उसकी कड़ी परीक्षा तो तब होती है जब विविध पाण्डुलिपियों में मिल रहे एकाधिक पाठभेदों के सन्दर्भ में पाठसमीक्षा करने का अवसर आता है॥

दुष्यन्त ने हंसपदिका-गीत को सुन कर जो प्रत्युत्तर हंसपदिका को भेजा है, केवल उस प्रत्युत्तर को देख कर इस प्रसंग की आलोचना नहीं की जा सकती है। क्योंकि, उपालम्भ का प्रत्युत्तर भेजने के बाद भी दुष्यन्त का मन उस गीत के प्रभाव में से बाहर नहीं निकल सकता है - यह भी हकीकत है, जो ध्यातव्य है। विदूषक रंगमंच से विदाई लेता है। अब रंगमंच पर अकेला खड़ा राजा पर्याकुलित (या उन्मनस्क) हो जाता है। उसके मुख से आत्मगत उक्ति के रूप में निम्नोक्त शब्द निकलते हैं, वह पुनरपि श्रवणीय है :-

किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहाद् ऋतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।

अथवा

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥5-3॥

इससे हमें, प्रेक्षकों को पता चलता है कि राजा दुष्यन्त यह सोच रहा है कि, "मुझे कोई इष्टजन का विरह तो है नहीं, फिर भी मेरा मन (किसी अज्ञात या विस्मृत प्रियजन के विरह में) उत्कण्ठित क्यों हो रहा है ? पहले कभी जिसका बोध ही न हुआ हो ऐसे किसी जननान्तर के सौहृदय को मेरा चित्त आज याद कर रहा है॥" इन शब्दों को सुन कर प्रेक्षकों के मन में यह बात निश्चित हो जाती है कि हंसपदिका-गीत को सुन कर दुष्यन्त का मन (जो केवल भावरूप से स्थित है और जो जननान्तर के सौहृदय स्वरूप बन गया है, उस) शकुन्तला-वृत्तान्त को ही याद करने की कोशिश कर रहा है। दुर्वासा के शापवशात् विस्मृति की गर्ता में चला गया वह वृत्तान्त असंप्रज्ञात मन में से निकल कर संप्रज्ञात मन में आने की विफल कोशिश बार बार कर रहा है। अब ऐसी पर्याकुलित मनःस्थिति में यदि शकुन्तला सामने आ जाय, और उनसे किये परिणय-सम्बन्ध की बात छेडी जाय तो दुष्यन्त के लिए उसका प्रत्याख्यान दृढता के साथ करना सम्भव ही नहीं था। अतः एव, कालिदास ने यहाँ राजा की नैतिकता एवं धर्मबुद्धि को जागृत करने के लिए, वैतालिकों का गान प्रयुक्त किया है॥

यदि, यहाँ मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में जैसा पाठक्रम निर्धारित हुआ है वैसा पाठक्रम माना जाय तो कञ्चुकी की उक्ति के तुरंत बाद वैतालिकों के द्वारा (पहले) श्लोकगान होता है, जिसको सुन कर राजा ने कहा है कि राजकार्यों से परिश्रान्त हुए हम फिर से नवीन किये गये हैं[13]। तदनन्तर राजा और विदूषक को संगीतशाला से आ रही वीणागान की आवाज सुनाई देती है। मतलब कि इन दोनों वाचनाओं में वैतालिकों के गान के बाद दूसरे क्रम में हंसवती का गीत रखा गया है। इस तरह के विपरीत पाठक्रम का फल यह होगा कि हंसवती के गीत से उन्मनस्क (पर्याकुलित) हुए नायक के सामने शकुन्तला का प्रत्याख्यान दृढता के साथ नहीं कर सकता था॥ अतः जो पाठक्रम काश्मीरी, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्वीकारा गया है वही प्रसंगोचित है। इस क्रम में हंसपदिका के गीत से पर्युकुलित हुए मनवाले राजा की नैतिक एवं धर्मबुद्धि को पहले जागृत की जाती है, सक्रिय की जाती है। जिसके कारण वह शकुन्तला की बातों का दृढता से साथ

परिहार कर देता है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में वैतालिकों के गान की प्रस्तुति निष्फल प्रतीत होती है[14] ॥ कहने का तात्पर्य यही है कि हंसपदिका-गीत में आये मधुकर जैसे शब्द से दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति का व्यङ्ग्यार्थ निकालने की जो सोच कवीन्द्र रवीन्द्रनाथने समुद्घाटित की है वह चिन्त्य है। यदि महाकवि कालिदास ने अपने मूल पाठ में हंसपदिका-गीत के बाद वैतालिकों का श्लोकगान रखा होगा तो (और उसी तरह का पाठक्रम रहा होगा ऐसा काश्मीरी वाचना के प्राचीनतम पाठ को देख कर दिखता है तो) टीकाकारों ने जैसा बताया है वैसा ही, यानें हंसपदिका-गीत से दुष्यन्त के असंप्रज्ञात मन में, व्यङ्ग्यार्थ के रूप में केवल शकुन्तला-वृत्तान्त ही अप्रकट रूप से झंकृत हुआ है। अन्यथा इस कृति के पाठ में आगे चल कर जो ''रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्०'' वाला श्लोक है, उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है ऐसा मानने की अवाञ्छनीय स्थिति पैदा होगी ॥

[5]

हंसपदिका-गीत के सन्दर्भ में कवीन्द्र रवीन्द्रनाठ ठाकुर का जो मत है, उसको उन्हीं के शब्दों में देख लेना चाहिए :-

''पंचम अंक के प्रारम्भ में राजा के चंचल प्रणय का यह परिचय निरर्थक नहीं है। इसके द्वारा कवि ने बतला दिया है कि दुर्वासा के शाप के द्वारा जो घटना हुई है उसका बीज राजा के स्वभाव में था। काव्य का सौन्दर्य नष्ट न होने के लिए जो बात दैवी घटना के रूप में दिखाई गई है वह स्वाभाविक ही थी[15]।'' (पृ.5).

''इस समय दुष्यन्त पश्चात्ताप से जल रहे हैं। यह पश्चात्ताप ही उनकी तपस्या है। इस पश्चात्ताप के द्वारा शकुन्तला की प्राप्ति न होती तो शकुन्तला के पाने का कुछ गौरव ही न होता। अनायास हाथ लग जाना पाना नहीं कहलाता। किसी वस्तु का लाभ ऐसी सहज बात नहीं है। जवानी की मस्ती की अचानक आनेवाली आँधी में शकुन्तला को दम भर में उड़ा ले जाने से सम्पूर्ण भाव से उसकी प्राप्ति न होती। किसी चीज को प्राप्त करने का उत्तम ढंग है साधना और तपस्या। जो बिना

परिश्रम के हाथ लगी थी वह अनायास ही हाथ से निकल भी गई। जो चीज जोश की मुट्ठी से लाई जाती है वह शिथिल भाव से ही गिर पड़ती है।

इसी कारण कवि ने परस्पर को यथार्थ भाव से - चिरंतन भाव से प्राप्त करने के लिए दुष्यन्त और शकुन्तला को दीर्घ तपस्या करने में प्रवृत्त किया। राजसभा में उपस्थित होते ही यदि दुष्यन्त शकुन्तला को ग्रहण कर लेते तो वह भी हंसपदिका के दल में शामिल होकर दुष्यन्त के अन्तःपुर के एक कोने में स्थान पाती। बहुत स्त्रियों के स्वामी राजा की ऐसी कितनी ही अनायास-प्राप्त औरतें थी जो क्षण भर के सौभाग्य की स्मृतिमात्र अपने हृदय में लिये अनादर के अन्धकार में अनावश्यक जीवन बिता रही थी। और समय पर राजा उनके बारेमें कहते कि सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः ॥'' (पृ.30).

इस तरह श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मत से दुष्यन्त के स्वभाव में भ्रमरवृत्ति थी, इसलिए उसका उन्मूलन करने के लिए कवि ने शाप का विधान किया है। किन्तु यह भी परीक्षणीय है कि इस कृति में प्रयुक्त भ्रमर का प्रतीक सर्वाङ्गीण रूप से क्या एक ही विचार से प्रयुक्त हुआ है ? तथा इस कृति में नायिका के लिए जो हरिणी का प्रतीक साद्यन्त रूप से रखा गया है वह हमें इस कृति को समझने में कोई साहाय्य नहीं करता है ? अतः सब से पहले इस नाट्यकृति में नटी-गीत से आरम्भ करके अनेक स्थान पर जो भ्रमर का उल्लेख हुआ है उसकी पर्यालोचना करनी चाहिये। क्योंकि महाकवि कालिदास ने भ्रमर का दुष्यन्त के साथ सर्वत्र एवं सर्वथा अभेद करके निरूपण नहीं किया है। इस नाट्यकृति में कुल मिलाके पाँच बार भ्रमर का उल्लेख हुआ है। अतः इन सभी उल्लेखों के उपलक्ष्य में भ्रमर के प्रतीक से व्यक्त होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ का पुनर्विचार करना जरूरी है।

नटी-गीत का भ्रमर राजर्षि विश्वामित्र है। अथवा वह पुरुषमात्र का वाचक है। कवि ने इस उल्लेख से आमसमाज की एक समस्या की ओर प्रेक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है। नायक रूप भ्रमर यदि नायिका के साथ एक क्षण का ही संयोग करके उसको छोड़ देता है, तो उस क्षणिक संयोग से पैदा होनेवाली संतति के अभिज्ञान का प्रश्न खड़ा होता है। स्त्री-जीवन की यह सब से बड़ी समस्या है।

अतिगूढ आशयवाले इस भ्रमरोल्लेख की समाधि षष्ठाङ्क में सिद्ध होती है। विरहसंतप्त दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बना रहा है। वहाँ, षष्ठाङ्क के श्लोक 18 में दुष्यन्त कहता है[16] कि मुझे चित्राङ्कित शकुन्तला के कानों में अभी शिरीष पुष्पों को पहनाना बाकी है। दुष्यन्त के मन में जगी इस इच्छा का ध्वन्यर्थ ऐसा है कि शकुन्तला के चित्त में स्त्रियों के प्रति जो करुणापूर्ण भावना सदैव विलसित रहती थी (और जो सब से पहले नटी-गीत में व्यक्त की गई थी, और इसी लिए शकुन्तला अपने कर्णाभूषण के रूप में शिरीषपुष्पों को धारण करती थी) उस भावना को दुष्यन्त ने समझ लिया है। विकसित हुए नाट्यकार्य का यह एक उन्मेष है।

दूसरी ओर हंसपदिका के गीत में जो अभिनवमधुलोलुप मधुकर (भ्रमर) है वह निश्चित रूप से दुष्यन्त है। किन्तु यह उल्लेख दुष्यन्त का स्वभाव स्थायि रूप से ही चञ्चल है ऐसा कहनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ हंसपदिका के द्वारा उपालम्भ देने के आशय से दुष्यन्त को "मधुकर" कहा गया है। और उपालम्भ के रूप में कही गई बात सर्वदा सच्ची नहीं भी होती है। एवमेव, एक राजा होने के नाते दुष्यन्त को राजनीति के सन्दर्भों में जो भी स्त्रियाँ पत्नी के रूप में भेंट मिलती होगी उनके साथ रहने से दुष्यन्त को सहज स्वाभाविक प्रेम क्या होता है, उसका अनुभव ही नहीं हुआ होगा। ऐसा अकृत्रिम प्रेमानुभव तो कण्वाश्रम में शकुन्तला से ही मिला था। अतः दुष्यन्त का भ्रमरत्व केवल राजनैतिक सम्बन्धों के लिए प्राप्त हुई पत्नियों के सन्दर्भ में कदाचित् सही होगा, लेकिन शकुन्तला तो सहज प्रेमाविष्कार के कारण जननान्तर के सौहृद के स्वरूप में मिली थी। अतः कवि ने हंसपदिका गीत में इस शाश्वत सम्बन्ध के लिए "कमलवसतिमात्रनिर्वृत्त" शब्द का प्रयोग किया है। अतः हंसपदिका गीत के माध्यम से परोक्ष में कहे गये (और अनजान में कहे गये) शब्दों से दोनों के सच्चे प्रेम की संप्राप्ति एवं संतृप्ति कही गई है - ऐसा मानना ही उचित होगा[17] ॥

तीसरा स्थान है प्रथमाङ्क का भ्रमरबाधा-प्रसंग। कवि ने यहाँ पर भ्रमर को दुष्यन्त के प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रस्तुत किया है[18]। मतलब कि कवि यहाँ ईर्ष्या रूप संचारी भाव प्रदर्शित करके शृङ्गार का परिपोषण करना चाहते हैं। नायिका को प्राप्त करने में जहाँ स्पर्धा का भाव होता है वहाँ नायक और प्रतिनायक में सदैव भेद

ही रहता है। जिस निरूपण में दुष्यन्त और भ्रमर के बीच में अभेद नहीं दिखाया है, वहाँ भ्रमर दुष्यन्त का प्रतीक बनता है ऐसा नहीं कहा जायेगा। अतः भ्रमरबाधा-प्रसंग में आया भ्रमर दुष्यन्त के चञ्चल स्वभाव का द्योतक नहीं बन सकता है। यह बात दूसरी तरह से भी, अर्थात् चौथे स्थान पर आये भ्रमरोल्लेख से भी समर्थित होती है। प्रथमाङ्क के भ्रमरबाधा दृश्य के सामने षष्ठाङ्क में इसीका एक प्रतिदृश्य कवि ने खड़ा किया है, वह द्रष्टव्य है। षष्ठाङ्क में, अङ्गुलीयक मिलने से राजा को शकुन्तला का स्मरण हो जाता है। तब वह उसका एक चित्र बनाता है, उस चित्र में भी भ्रमर उपस्थित है। यहाँ पर भ्रमर को सम्बोधित करते हुए दुष्यन्त दो श्लोक बोलता है। उनमें से एक (6-20) श्लोक में वह भ्रमर को कहता है कि शकुन्तला के जिस अधरोष्ठ का मैंने रसपान किया है, उसको तुँ यदि स्पर्श करेगा तो मैं तुम्हें कमलोदर के बन्धन में डालुँगा। यहाँ पर देखेंगे तो विरह की स्थिति में ईर्ष्या रूप संचारी भाव का ही आलेखन करने के लिए भ्रमर को प्रतिनायक के रूप में फिर से निरूपित किया है। अर्थात् यहाँ पर भी दुष्यन्त के चञ्चल स्वभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये भ्रमर का उल्लेख नहीं हुआ है।

पाँचवे स्थान पर, (याने षष्ठाङ्क के ही श्लोक 6-19 में भी) जो भ्रमरोल्लेख है उसको देखने से भी मालूम होगा कि प्रथमाङ्क में जो नाय क(दुष्यन्त) शकुन्तला के वदन पर फिरते हुए भ्रमर का प्रतिस्पर्धी बना था, वही नायक अब षष्ठाङ्क में भ्रमर का उपदेष्टा बनके खड़ा है। दुष्यन्त चित्र में आलिखित भ्रमर का इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है कि,

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥ अ.शा. 6-19

कुसुम पर बैठी हुई तेरी मधुकरी तृषित होने के बावजूद भी मधु का रसपान नहीं कर रही है। विपरित लक्षणा से यहाँ सोचेंगे तो स्पष्ट होगा कि दुष्यन्त को अब अपनी शकुन्तला का ही स्मरण हो रहा है। अतः भ्रमर के उपदेष्टा बने दुष्यन्त ने एकाकी घुम रहे उस भ्रमर को, बल्कि मधुकर को, उसकी मधुकरी की ओर ध्यान देने की सलाह दी है। कवि के उपर्युक्त शब्दों को देखते हुए, रसज्ञ भ्रमर को अपनी तृषिता मधुकरी का सम्यक् दर्शन एवं पुनःस्मरण हो गया है ऐसा कहना

ही अधिक उचित है। ऐसा व्यङ्ग्यार्थ टीकाकार नरहरि के अन्तःकरण में स्फुरित हुआ भी था[19]। उन्होंने लिखा है कि शकुन्तला भी भ्रमरी की तरह दुष्यन्त की अपेक्षा रखती है। इस तरह प्रस्तुत मधुकर को रसपान में यदि मधुकरी का साहचर्य अपेक्षित है ऐसा ध्यान में आ गया हो तो उसमें दुष्यन्त के ही दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ देखना चाहिये। विकसित हुए नाट्यकार्य की यह धन्य क्षण है कि जिसमें दुष्यन्त स्वरूप एक मधुकर मधुकरी के स्वरूप में शकुन्तला को ही याद कर रहा है। सामान्यतः भ्रमर को चञ्चल स्वाभाव का ही प्रतीक माना गया है, किन्तु महाकवि को इस तरह से भ्रमर का उपयोग करना जहाँ अभीष्ट है (नटी-गीत एवं हंसपदिका-गीत में) वहाँ (अनुक्रम से) शिरीषपुष्प एवं आम्रमञ्जरी के साथ भ्रमर का उल्लेख किया है। किन्तु 6-19 श्लोक में तो कोई पुष्प-विशेष का निर्देश नहीं है, केवल "कुसुम" शब्द का ही प्रयोग है। यहाँ, अङ्गुलीयक मिल जाने के बाद, दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो गया है, तथा उसकी याद में उसने चित्राङ्कन के दौरान जो हृद्-गत भावनायें व्यक्त की है उसको सून कर सानुमती को भी लगता है कि शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने का दुःख प्रमार्जित कर दिया है[20]।

इस तरह भ्रमरोल्लेख के पाँचों सन्दर्भों को ध्यान में लेकर सोचेंगे तो प्रतीत होगा कि महाकवि को भ्रमर का उल्लेख सर्वत्र चाञ्चल्य के प्रतीक के रूप में ही करना अभिप्रेत नहीं है। उसका सही सम्बन्ध तो मात्र नटी-गीत में बूनी गई शकुन्तला की गूढ संवेदना के साथ ही जोड़ना उचित है। तथा षष्ठाङ्क में विकसित हुए नाट्यकार्य के अनुसार, चतुर्थ एवं पञ्चम बार का भ्रमरोल्लेख - मधुकरोल्लेख - ही दुष्यन्त के चरित को समझने के लिये निर्णायक बनता है॥

उपसंहार

हंसपदिका-गीत के अनेक अर्थ हो सकते हैं। लेकिन उसके अभिधार्थ को किस सन्दर्भ में समझना उचित है, और उसके व्यङ्ग्यार्थ को किस सन्दर्भ में लेना है? यह परम्परागत टीकाकारों ने बहुत स्पष्ट रूप से विविक्त करके दिखाया है। यदि इसका ठीक परिचय नहीं होगा तो सम्भव है कि आधुनिक युग का पाठक या दर्शक प्रस्तुत नाटक के नायक-नायिका के प्रेमसम्बन्ध को समझने में गूमराह हो

सकता है। कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि प्रबुद्ध भावक भी उपर्युक्त अभिधार्थ और व्यङ्ग्यार्थों में से किस को प्रधानार्थ और किसको गौणार्थ के रूप में लेना है ? इस बात का सम्यक् निर्णय नहीं करेगा तो भी अन्यथा सोच शुरू होने से कुछ नवीन अर्थ खोजने की दिशा में दौड़ सकता है।

एवमेव, इस समग्र कृति में दुष्यन्त-शकुन्तला के लिए भ्रमर एवं पुष्प के प्रतीक के उपरान्त और भी बहुत सारे प्रतीक रखे गये हैं। लेकिन शिकारी और हरिण का प्रतीक ही मुख्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, वह भी स्मर्तव्य है[21]। शिकारी और हरिण में विसंवाद स्वतः सिद्ध है। महाकवि कालिदास उस विसंवाद में से जब तक संवाद सिद्ध नहीं करते हैं तब तक कृति को समाप्त नहीं करते हैं। अतः प्रथमाङ्क में शिकारी रूप में प्रविष्ट हुआ दुष्यन्त जब षष्ठाङ्क में प्रवेश करता है तब वह सम्पूर्ण बदला हुआ है। अब तो वह विश्वसनीय हरिण बन कर हरिणी-स्वरूपा शकुन्तला के सामने खड़ा रहने की चाहत व्यक्त करता है[22], उसीमें भी विकसित हुए नाट्यकार्य का फल देखना चाहिए॥ लगता है कि कटाक्ष में, और अनजान में कहा गया ''सर्वः सगन्धिषु विश्वसिति'' (सभी समान गन्धवाले प्राणी दूसरे समान गन्धवाले प्राणी में ही भरोसा करते हैं।) वाक्य का मर्म नायक की समझ में आ गया है, अतः वह हरिण बन कर खड़ा है[23]। यहीं पर दोनों के बीच संवाद की पीठिका का निर्माण हो जाता है, और यहीं पर दाम्पत्यजीवन का सूक्ष्म आरम्भ है। शिकारी और हरिणी के बीच भोक्ता-भोग्य भाव सम्बन्ध एक पक्षीय है, किन्तु हरिण और हरिणी में ही परस्पर भोक्ता-भोग्य भाव उभयपक्षीय सिद्ध होता है। उसीको सही संवाद, पूर्ण संवाद कहा जा सकता है[24]॥

षष्ठाङ्क के बाद पुत्र सर्वदमन के अभिज्ञान का कार्य अवशिष्ट रहा है, वह सप्तमाङ्क में सम्पन्न किया जाता है। अर्थात् संवाद की सिद्धि के बिना पुत्रसहित की शकुन्तला को पुनःप्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त ही नहीं हो सकता था[25]। इस सन्दर्भ में, हंसपदिका-गीत का अर्थ और भ्रमर के प्रतीक का सभी सन्दर्भों में परीक्षण किये बिना अभिज्ञानशाकुन्तल का काव्यार्थ समझना कठिन एवं विपथगामी हो सकता है॥

=o=

पादटीप

1. मैथिल-पाठानुगम् अभिज्ञानशकुन्तलम् (शङ्कर-नरहरिकृत-व्याख्याद्वयसमलङ्कृतम्), सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957 पृ. 254
2. अनया ध्रुवागीत्या हंसपदिका मधुकरव्याजेन आत्मानं विस्मृतवन्तं राजानमुपालभत इति गम्यते। अनेन गम्यमानार्थेन राज्ञः आगामिन्याः शकुन्तलाया विस्मरणं गम्यते॥ - अभि.शाकु. कुमारगिरिराजीयाटीका, आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकादेमी, हैदराबाद, 1942 पृ. 97.
3. राज्ञा कंचित्कालं कृतरतिकेलिपरिचया देवीभयेन पुनरुपेक्षिता हंसपदिका नाम वल्लभास्वन्यतमा तुलन्यावस्थमधुकरोपालम्भव्याजेन राजानमुपालभते - अभिनवेति॥ - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अभिरामकृत-व्याख्यासहितम्। श्रीवाणी-विलास-प्रेस, श्रीरङ्गम्, 1917 पृ. 188.
4. अयं जनः इयम्। निपुणम्, अनयापदेशेन कृतत्वात्। अप्रस्तुतप्रशंसात्रालङ्कारः, तेन संसूच्यं राजकर्तृकशकुन्तलाविस्मरणलक्षणं वस्तु व्यज्यते॥ - अभिरामटीका, पृ. 188.
5. ''शाकुन्तल की प्राचीन टीकाओं में कालिदास-समीक्षा के आयाम'' - शीर्षकवाला आलेख, कालिदास की समीक्षा-परंपरा, ले. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988 पृ. 1-62.
6. घनश्याम यह भी जानते हैं कि इस पद्य का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं हो सकता। अभी और नये अर्थ भी निकाले जा सकते हैं। अतः वे कहते हैं कि महाभारत के युद्ध में भीम ने रणसंग्राम में हाथियों को उठा उठा कर अन्तरिक्ष में फेंके थे, वे जैसे आज भी वहीं पर घूमते रहे हैं, वैसे इस पद्य का अर्थ निकालते समय टीकाकार लोग भी अद्यावधि परिभ्रमण कर रहे हैं! अत्र संविधाने भीमेन प्रेषिता गजादिवद् अद्यापि परिभ्रमन्ति केचिदन्ये व्याख्याकाराः॥ -अभिज्ञानशाकुन्तलम्, घनश्याम-कृत-सञ्जीवनाख्य-टिप्पण-समेतम्। सं. श्रीमती पूनम पङ्कज रावळ, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1997 पृ. 112.
7. वसुमतीवृत्तान्तस्तु चूतमञ्जरीशब्देन हंसपदिकोच्यते। कमलिनीशब्देन वसुमती। एनां हंसपदिकां विस्मृतवानसीति व्यज्यते।... सकृत्कृतसंगमं पश्चादहमुपेक्षितवानस्मि। तत् तस्मात् कारणात् अस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण उद्दिश्य मदुपालम्भ इत्यवगतोऽस्मि, मत्परिहास इति विदितोऽस्मि॥ - अभि. शाकु. नीलकण्ठी-टीकया सहितम्, सं. गोपाल रेड्डी, तिरुपति, भारतीय बुक कोर्पोरेशन, दिल्ली, 1996 पृ. 118.
8. द्रष्टव्य : कालिदास का अनुशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988 पृ. 17-34. जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ''शकुन्तला'' शीर्षकवाला आलेख दिया गया है॥

9. साहित्य अकादेमी, दिल्ली के ज्ञानपीठ पुरस्कार-विजेता गुजराती भाषा के गणमान्य कविश्री ।
10. (शकुन्तलावृत्तान्तः) अभिनवमधुलोलुपः अभिनवाधरामृतलालसो भवान् चूतमञ्जरी-सदृशीं शकुन्तलां तथा परिचुम्ब्य गान्धर्वविवाहविधिना अनुभूय कमलवसतिमात्रनिर्वृत्तः अन्तःपुरविरहणमात्रसंतुष्टः एनां शकुन्तलां कथं विस्मृतवानसीति दुष्यन्तः प्रतिध्वन्यते ॥ - अभि. शाकु. नीलकण्ठी-टीकया सहितम्, पृ. 118.
11. द्रष्टव्य : Hansapadika's song, by G.K. Bhat, Journal of the Oriental Institute, Baroda, 1957
12. जिसमें वैयक्तिक रूप से अलग अलग अभिप्राय प्रविष्ट होता ही है ।
13. जिसको सुन कर विदूषक ने राजा दुष्यन्त की मजाक भी उडाई है कि वृषभ को गोविन्दारक कहने से उसका परिश्रम दूर होता है ।
14. या कहो कि इन दोनों वाचनाओं में, वैतालिकों का गान राजा का राजकार्य-जनित परिश्रम को दूर करने जैसे मामूली आशय से प्रयुक्त किया गया है ।
15. कालिदास परिशीलन, संपादक : राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988 में संगृहीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लेख, पृ. 17 से 34
16. कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ - अ.शा. 6-18
17. वह उसे नाटक के आरम्भ में कहा गया है कि अस्याः कन्याया दुरितशमनार्थं सोमतीर्थम् गतः । इन शब्दों का स्वारस्य यही है कि दुष्यन्त-शकुन्तला को दुर्वासा का जो शाप मिला है, वह दैवविलसित था । जो दुर्दैव पिता कण्व की सोमयात्राजनित पुण्य से, या पिता की शुभभावनाओं के बल से, अन्त में परास्त होता है । शाप की घटना वस्तुगुम्फन का हिस्सा है, उसमें कोई आधिभौतिक या नैतिक विचारों का आरोप करना अनावश्यक है, अप्रस्तुत है ॥
18. करौ व्याधून्वत्याः पिबति रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ - अ.शा. 1-20, पृ. 34
19. शकुन्तलापि भ्रमरीवद् इममपेक्षत इति मनसि कृत्वाह मिश्रकेशी ॥ मैथिलपाठानुगमम् अभिज्ञानशकुन्तलम्, (शङ्करनरहरिटीकासमेतम्), पृ. 355
20. सानुमती-सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः ॥ - अ.शा. 6-22 इत्यस्याधस्तात्, पृ. 217
21. भ्रमर का प्रतीक कृति में सर्वत्र एकरूपता नहीं रखता है, वह हमने देख लिया है ।

22. कार्या सैकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ 6-17 ॥
23. दुष्यन्त को अब समझ में आ गया है कि शिकारी बन कर हरिणी प्राप्त की जायेगी तो वह तो मृतहरिणी मिलेगी, अतः हरिणी को प्राप्त करने के लिए तो मुझे भी हरिण होना पड़ेगा।
24. और संस्कृत नाटकों का लक्ष्य पूर्ण संवाद की सिद्धि ही होती है। सभी नाटक तभी तो सुखान्त बनेंगे ॥
25. क्योंकि नाटक के आरम्भ में दुष्यन्त को आश्रममृग को नहीं मारने के लिए चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होने का आशीर्वाद दिया गया था। हरिणी किसी शिकारी को जीवित अवस्था में तो नहीं मिलती है, उसको सही स्वरूप में प्राप्त करने के लिए दूसरा सगन्ध अनागस हरिण ही सामने होना चाहिए ॥

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूचि

1. अभिज्ञानशकुन्तलम्, (काश्मीरी-पाठानुसारि), ऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी में संगृहीत शारदालिपि में लिखित पाण्डुलिपियाँ, क्रमांक - 1247 एवं 159 तथा श्रीनगर की शारदा पाण्डुलिपि क्रमांक - 1345
2. अभिज्ञानशकुन्तलम् (मैथिलपाठानुगम्), शङ्कर-नरहरिकृत-व्याख्याद्वय-समलङ्कृतम्। सं. रमानाथ शर्मा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957
3. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (सन्दर्भदीपिकया सहितम्), सं. वसन्त कुमार म. भट्ट, प्रका. राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली, 2013
4. अभिज्ञानशकुन्तलम्। (बंगाली-पाठानुसारि) सं. रिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1922
5. अभिज्ञानशकुन्तलम्। (बंगाली वाचना का पुनर्गठन,), सं. दिलीपकुमार काञ्जीलाल, संस्कृत कॉलेज, कोलकाता, 1930
6. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (देवनागरी-पाठानुसारि), (राघवभट्टकृतटीकया समेतम्), सं. नारायण राम, प्रकाशन - राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2006
7. कालिदास ग्रन्थावली। सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1986
8. कालिदास परिशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर 198
9. शाकुन्तलम्, गुजराती अनुवादक एवं सम्पादक - श्री उमाशङ्कर जोशी, गुर्जर ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद, 1953

=०=

[6]

अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठविचलन की आनुक्रमिकता ।[1]

भूमिका - अभिज्ञानशाकुन्तल शीर्षक से सुप्रसिद्ध नाटक न केवल संस्कृत वाङ्मय की अद्वितीय शोभा है, अपितु वह विश्वनाट्यसाहित्य का भी बहुमूल्य रत्न है। यह नाटक नाट्यतत्त्व और काव्यतत्त्व जैसी उभयविध दृष्टि से आकर्षक है। इन दोनों में भी काव्यतत्त्व इतना अधिक हृद्य और सुन्दर है कि इस नाटक की साहित्यशास्त्रीय समीक्षा करने में ही विद्वज्जगत् रममाण रहता है। परन्तु इस नाटक का जो देवनागरी पाठ प्रचलित हुआ है उसकी नाटकीयता के सन्दर्भ में परीक्षा करने के लिए कोई उद्यत होगा तो उसे मालूम होगा कि यह प्रचलित पाठ तो निश्चित रूप से रंगावृत्ति ही है। क्योंकि इस पाठ में जो रंसूचनायें हैं वह विसंगतता से भरी पड़ी है। अतः, इस नाटक के काव्यतत्त्वीय पक्ष को लेकर जो पाठान्तर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उसकी अपेक्षा से नाट्य तत्त्वीय पक्ष से जुड़े पाठभेदों की पाठालोचना अनुपेक्ष्य हैं। यदि इस दिशा में कोई नाट्य-रसिक प्रवृत्त होगा तो आज प्रचलित हुआ देवनागरी वाचना का जो पाठ है वह बहुशः परिवर्तित एवं संक्षिप्त किया गया है यह बात तुरंत समझ में आयेगी॥

अभिज्ञानशाकुन्तल इस शीर्षक से जो नाटक सुप्रसिद्ध है उसकी देवनागरी एवं दाक्षिणात्य नामक दो वाचनायें उपलब्ध होती हैं। अभिज्ञानशकुन्तला शीर्षक से काश्मीर की वाचना का पाठ शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। तथा अभिज्ञानशकुन्तलम् जैसे तीसरे शीर्षक से प्रचलित हुआ पाठ मैथिली एवं वंगाली वाचनाओं में संचरित हुआ है। इस तरह, एक ही नाटक की पञ्चविध वाचनाओं को देख कर भी किसी को भी स्वाभाविकतया "इन में से मूलपाठ कहाँ छिपा हुआ होगा ?" उसकी जिज्ञासा होती है। अद्यावधि जिन विद्वानों ने इस विषय

में प्रारम्भिक रूप से जो कुछ सोचा है उसमें (1) ''अमुक वाचना का पाठ काव्यत्वपूर्ण या व्यञ्जनापूर्ण है इस लिए वही वाचना मौलिक हो सकती है।'', अथवा (2) ''अमुक वाचना का पाठ बृहत्काय है, क्योंकि उसमें अश्लिलांशों का प्रक्षेप हुआ है। ऐसा पाठ कदापि मौलिक नहीं हो सकता।'', अथवा (3) ''उपलब्ध हो रही अनेक पाण्डुलिपियों में से जो पाण्डुलिपि सब से प्राचीनतम काल में लिखी गई हो, उसमें सुरक्षित रहे पाठ को सर्वाधिक श्रद्धेय मान कर उसका स्वीकार करना चाहिए'' ।, अथवा (4) ''बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों में, जो पाठ उपलब्ध होता हो, एवमेव जो पाठ बहुसंख्यक टीकाकारों के द्वारा समादृत हो उस पाठ को मान्यता दी जानी चाहिए'' ।, अथवा (5) ''सामान्यतया किसी भी कृति का लघुपाठ ही पहले आकारित होता है, और उसमें से कालान्तर में बृहत्पाठ बनाया जाता है। अतः इस नाटक का लघुपाठ जिसमें संचरित हुआ है वही, याने देवनागरी वाचना ही मौलिक है।'', अथवा (6) ''इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में से जहाँ जहाँ सब से अधिक नाट्यक्षम पाठ मिलता हो उसका चयन करके, उसका पुनर्गठन करना चाहिए।'' ऐसे बहुविध विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं ॥ कालिदास के इस नाटक की पाठसंशुद्धि करने के लिए सोचे गये इन मार्गों का अनुगमन किया जाय तो उनसे हमारे सामने अभिज्ञानशाकुन्तल के बहुविध संस्करण आयेंगे। परन्तु उनमें से एक भी संस्करण सर्वसम्मत नहीं होगा। क्योंकि इन मार्गों में एक या दूसरे प्रकार का तर्कदोष अन्तर्निहित है। अतः इन सभी विचारधाराओं से हट कर, प्रस्तुत शोध-आलेख में तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक जैसी उभयविध दृष्टि का प्रयोग किया गया है। जिसमें वस्तुलक्षी बन कर सब से पहले यह निश्चित किया जायेगा कि उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं में से प्राचीनतम वाचना कौन सी है ? तथा अन्यान्य वाचनाओं में उपलब्ध हो रहे पाठान्तरों का तुलनात्मक अभ्यास करके, उसमें संनिहित पाठविचलन की जो आनुक्रमिकता है, उसे उजागर किया जायेगा। इससे इस नाटक के मौलिक पाठ की गवेषणा का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा ॥

[1]

बृहत्पाठवाली तीन वाचनाओं का पुरोवर्तित्व

उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं में से जो काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनायें हैं उन सब में इस नाटक का बृहत्पाठ मिलता है। तथा जो देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनायें हैं उन दोनों में लघुपाठ संचरित हुआ है। अतः प्रथम दृष्टि में तो लघुपाठवाली वाचनायें ही अधिक श्रद्धेय या मौलिक होने की सम्भावना सोची जा सकती है। पाठालोचना का एक अधिनियम यह भी है कि बृहत् एवं अलंकृत पाठ की अपेक्षा से जो लघुपाठ होता है वही मूलपाठ होने की सम्भावना होती है। किन्तु यह अधिनियम अभिज्ञानशाकुन्तल जैसी एककर्तृक रचना को लागु नहीं किया जा सकता। यह अधिनियम तो महाभारत जैसे प्रोक्त प्रकार के (अनेक-कर्तृक) ग्रन्थों के लिए ही सही है। नाट्यकृतियों के लिए सोचा जाय तो, उनमें तो कविप्रणीत बृहत्पाठ में से सूत्रधारों के द्वारा अमुक अंशों की कटौती करके, मंचन के योग्य लघुपाठ को (जिसको हम ''रंगावृत्ति'' कहते हैं) तैयार करने की प्रवृत्ति ही प्रायः देखी जाती है। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में उपर्युक्त अधिनियम मार्गदर्शक नहीं बन सकता है॥ वर्तमान समय में ''अभिज्ञानशाकुन्तल'' शीर्षक से जो देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना का पाठ प्रचलित है, उसका स्वरूप भी इसी तरह का, याने रंगावृत्ति स्वरूप का ही है। इस बात के प्रमाण प्रमुखतया तीसरे अङ्क में उपलब्ध हैं। तद्यथा (क) शकुन्तला की दोनों सहेलियाँ मृगबाल के पास जाती हैं और रंगमंच पर दुष्यन्त शकुन्तला अकेले हैं तब शकुन्तला उस लतामण्डप से बाहर जाने का उपक्रम करती है। उसको दुष्यन्त कहता है कि ''उत्सृज्य कुसुमशयनं....कथमातपे गमिष्यसि।'' याने इस दृश्य का समय मध्याह्न का है। लेकिन देवनागरी वाचना में इस उक्ति के बाद, नायक-नायिका के छोटे छोटे केवल छह वाक्य आते हैं, और तुरंत नेपथ्य-उक्ति से कहा जाता है कि ''चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्, उपस्थिता रजनी।'' यहाँ मध्याह्न और रात्रि के बीच का समय व्यतीत हुआ है ऐसा प्रतीत होने के लिए पर्याप्त संवाद शृङ्खला का नितान्त अभाव है। प्रॉफे. एस.के.

बेलवालकर जी को यहाँ लगता है कि जो एकान्त-मिलन मध्याह्न में अभी शूरु ही हुआ था, वहाँ केवल छह वाक्यों में ही रात्रि कैसे उपस्थि हो गई ? यहाँ समयनिर्देशन की दृष्टि से जो सुसंगति का अभाव है उससे अनुमित होता है कि यहाँ पर कुछ पाठ्यांश में अवश्य कटौती हुई है।

(ख) इसी दिशा में आगे चल कर, हमने इसी तीसरे अङ्क के उपान्त्य श्लोक[2] की ओर विद्वज्जगत् का ध्यान आकृष्ट किया है कि नाटक के मूलपाठ में हुई कटौती के पदचिह्न इस श्लोक में प्रकट रूप से अङ्कित हो गये हैं। जैसा कि, यहाँ दुष्यन्त ने शकुन्तला की तीन चीजों का परिगणन करवाया है। 1. पुष्पमयी शय्या, 2. मदनलेख और 3. उसके हाथ से निकल गया बिस तंतु का वलय (जिसको बिसाभरण या मृणालवलय कहा गया है।) ॥ इनमें से पहले दो पदार्थों से जुडे प्रसंग तो इस तीसरे अङ्क में दृश्यमान हुए हैं, [अङ्क के आरम्भ में ही कहा गया है कि शकुन्तला कामज्वर से पीड़ित होने के कारण कुसुमास्तरणवाले शिलापट्ट पर लेटी हुई है, तथा प्रियंवदा के कहने पर उसने कमलदल पर अपने नाखून से मदनलेख लिखा है]। किन्तु इस श्लोक में जो बिसाभरण का निर्देश मिलता है उसके साथ जुडा हुआ कोई दृश्य देवनागरी वाचना में मिलता ही नहीं है[3]। मंचन की दृष्टि से नाटक में किसी भी चीज का निर्देश फिजुल का नहीं हो सकता है। इससे भी अनुमित होता है कि इस तीसरे अङ्क में कोई दृश्य पहले रहा होगा, जो किसी अज्ञात रंगकर्मी के द्वारा हटाया गया है। दुष्यन्त ने शकुन्तला के हाथ में एक मृणालवलय (बिसाभरण) पहनाया है और उसको देखते समय ही शकुन्तला के नेत्र में पुष्पों की रज गिरने से उसकी दृष्टि कलुषित होती है। तब दुष्यन्त उसके नेत्र को अपने वदनमारुत से परिमार्जित कर देता है। ऐसे दो दृश्यों का निरूपण करनेवाला पाठ्यांश काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में विद्यमान है॥

(ग) प्रथमांक के भ्रमरबाधा प्रसंग में देखा जाय तो (राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत देवनागरी वाचना के पाठ में) राजा के मुख में "चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्०।" श्लोक को "सस्पृहम्" जैसी रंगसूचना के साथ रखा गया है। तथा इस पाठ में "यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते०" वाला दूसरा श्लोक मिलता ही

नहीं है। यहाँ नायक के मन में भ्रमर के प्रति ईर्ष्याभाव उदित हुआ है ऐसा दिखाना अभिप्रेत है। अतः राजा ने जो "चलापाङ्गां दृष्टिम्०" वाला श्लोक प्रस्तुत किया है, उसको तो "सासूयम्" जैसी रंगसूचना के साथ होना अनिवार्य था। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण करते समय यह बात किसी अज्ञात पाठशोधक के ध्यान में नहीं आई। इस लिए "सस्पृहम्" जैसी रंगसूचना के साथ जो "यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते०" वाला श्लोक मूल में था, उस श्लोक की कटौती किये जाने के बाद भी वह "सस्पृहम्' रंगसूचना यथावत् बनी रही ! तथा वह अनुगामी "चलापाङ्गां दृष्टिं०" वाले श्लोक के साथ जुड गई !! (रंगसूचना सम्बन्धी ऐसी विसंगति की ओर किसी भी पाठसम्पादक का अद्यावधि ध्यान गया ही नहीं है !!!) इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान देवनागरी वाचना के पाठ में अनेक स्थानों पर संक्षेप किया गया है ॥

(घ) वर्तमान देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्त्रीवर्ग एवं विदूषकादि की प्राकृत उक्तिओं में महाराष्ट्री प्राकृत का ही ध्वनिरूप बहुशः दिखाई दे रहा है, उस तरह की प्राकृत कालिदास के समय में विद्यमान ही नहीं थी। इसके प्रतिपक्ष में, याने काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का ध्वनि रूप सुरक्षित रह पाया है। भरत मुनि ने स्त्रीपात्रों के लिए शौरसेनी (और मागधी) का विधान किया है, अतः कवि कालिदास के द्वारा भी वही शौरसेनी का विनियोग किया गया होगा ऐसा मानना विसंगत नहीं होगा ॥

यदि देवनागरी तथा तदनुसारिणी दाक्षिणात्य वाचना में संक्षेप हुआ है, तथा शौरसेनी प्राकृत का स्वरूप भी परिवर्तित किया गया है ऐसा सप्रमाण सिद्ध होता है तो स्वाभाविक क्रम में यह स्वीकारना होगा कि जिसमें इस नाटक का बृहत्पाठ सुरक्षित रहा है वैसी काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनायें ही पुरोगामिनी वाचनाओं के रूप में प्रचलित रही होगी ॥ निष्कर्षतः कहा जाय तो इस नाटक का लघुपाठ जिसमें संचरित हुआ है वे दोनों वाचनाओं का जन्म उत्तरवर्ती काल में हुआ है। तथा बृहत्पाठ जिसमें संचरित हुआ है वैसी तीनों वाचनाएँ पुरोगामिनी है ॥

[2]

काश्मीरी वाचना की प्राचीनतमता

अब कालिदास के इस नाटक की बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्राचीनतम है ? यह विचारणीय बिन्दु है। क्योंकि पाठालोचना का प्रथम लक्ष्य यही होता है कि प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की पहले गवेषणा की जाय। अतः लघुपाठ की अपेक्षा से यदि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनायें पुरोवर्तिनी हैं, तो उन तीनों में से कौन सी वाचना सब से पुरानी है ? यह सोचना चाहिए। क्योंकि किसी एक वाचना की प्राचीनतमता निश्चित हो जाने के बाद ही अन्यान्य वाचनाओं में पाठविचलनक्रम की आनुक्रमिकता निर्धारित हो सकती है। वर्तमान में उपलब्ध हो रही इस नाटक की पाण्डुलिपियाँ नेवारी, मैथिली, बंगाली, शारदा, नन्दिनागरी, देवनागरी, ग्रन्थ, तेलुगु आदि लिपियों में लिखी हुई मिलती हैं। लिपियों के इतिहास की दृष्टि से सोचा जाय तो शारदा लिपि ही प्राचीनतम है। अतः उस शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम हो सकता है। मतलब की काश्मीरी वाचना का पाठ, जो कि शारदा लिपि में लिखी हुई चार पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है, उसीको प्राचीनतम वाचना माननी चाहिए। क्योंकि ई.स. 850 में लिखा हुआ राजा मेरु वर्मा का एक शिलालेख शारदा लिपि में उत्कीर्ण किया गया है। अतः शारदा लिपि का प्रचलन 6 या 7 वीं शती में हुआ होगा, तो भी आज उपलब्ध हो रही शारदा पाण्डुलिपियों में जो पाठ परम्परागत रीति से संचरित होकर हम तक पहुँचा है, उसको हमें 7 वीं शती का तो मानना ही चाहिए। यद्यपि केवल लिपियों के पुरातत्त्वीय प्रमाण से ही किसी एक वाचना की प्राचीनतमता घोषित करना पर्याप्त नहीं है। इस लिए इस नाटक की जो चार शारदा पाण्डुलिपियाँ मिल रही हैं, उनमें से कुछ पाठान्तरों की ओर हम विद्वज्जगत् का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। जिनसे इस वाचना की प्राचीनतमता का दृढीकरण हो सकता है। तद्यथा –

(क) काश्मीरी वाचना में, तृतीयांक के आरम्भ में रंगसूचना है कि "ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा विदूषकश्च।" किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इसी सन्दर्भ में "ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।" इन पाठान्तरों में से कौन सा पाठान्तर सब से प्राचीनतम होगा ? यह विचारणीय है। आचार्य वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में "कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्। (5-2-82)" इस सूत्र से लिखा है कि कामयान शब्द (व्याकरण से सिद्ध करना मुश्कील है, तथापि) यदि वह अनादि काल से चला आ रहा है तो उसे सिद्ध शब्द ही मानना होगा । काशी के मूर्धन्य आलंकारिक पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि स्वयं कालिदास ने रघुवंश (19-50) में भी इस शब्द का प्रयोग किया है । अतः मैथिली, बंगाली या देवनागरी वाचनाओं में जो पाठान्तर मिलते हैं वे सभी परवर्ती काल के सिद्ध होते हैं। केवल काश्मीरी वाचना में "०कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु। (3-32)" श्लोक आता है। इसका मैथिली एवं बंगाली वाचना में जो पाठ है वह "०कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तत्। (3-37 एवं 3-38)" ऐसा है। इस तरह के दो पाठभेदों में से कौन पाठ प्राचीनतम होगा ? यह प्रश्न है। तो आनन्दवर्धन ने निपातों की व्यंजकता के बारे में चर्चा करते हुए इस श्लोक का उद्धरण दिया है, जिसमें काश्मीरी वाचना के अनुसार ही "०कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु ।" पाठ रखा गया है। आनन्दवर्धन का सर्वमान्य समय 840-890 ई.स. अनुमाना गया है। इस दूसरे बहिरंग प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम है ॥

(ख) तृतीयांक में, दुष्यन्त मध्याह्न की वेला में प्रिया शकुन्तला को ढूँढता हुआ मालिनी नदी के तट पर पहुँचता है । लतावलय में सखियों के साथ शकुन्तला को देख कर उसके मुख में से वाक्य निकलता है : "अये लब्धं मया नेत्रनिर्वाणम् ।" यह पाठ सभी वाचनाओं में एक समान है। केवल

काश्मीरी वाचना में "अये लब्धं मया नेत्रनिर्वापणम् ।" ऐसा पाठभेद मिल रहा है । पाण्डुलिपियों के प्रतिलेखन की सुदीर्घ परम्परा में, किसी भी लिपिकार के द्वारा "निर्वापण" या "निर्वाण" लिखने में अनवधान से या दृष्टिभ्रम से एक के स्थान में दूसरा शब्द स्थानापन्न हो सकता है। (इसी को अनुलेखनीय सम्भावनायुक्त पाठभेद कहा जाता है ।) अतः इन दोनों में से कौन सा पाठभेद मूल में होगा यह निश्चित करना कठिन है। किन्तु इसी अङ्क के आरम्भ में, कण्वाश्रम का शिष्य प्रियंवदा को आकाशोक्ति से पूछता है कि अरे, तुम किसके लिए यह उशीरानुलेप और नलिनीपत्र ले जा रही हो ? तब प्रियंवदा उसका प्रत्युत्तर देती है कि "आतपलङ्घनाद् बलवदवस्था शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणायेति ।" यहाँ पर सभी वाचनाओं में एक समान "शरीरनिर्वापणायेति" ऐसा ही पाठ है, इसमें अन्य कोई पाठान्तर नहीं है । एवमेव, आगे चल कर दुष्यन्त की उक्ति है कि "स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव जातः ।" उसमें भी "निर्वापयिता" शब्द ही है। इस तरह से इसी कृति के आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना में मौलिक पाठ बहुशः सुरक्षित रहा है । अतः इस वाचना को ही प्राचीनतम होने का गौरव प्राप्त हो रहा है ॥

(ग) शकुन्तला प्रियंवदा को कहती है कि "हला, अलं वः अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन ।" यह वाक्य काश्मीरी वाचना को छोड कर अन्य सभी वाचनाओं में एक समान है। काश्मीरी वाचना में इस वाक्य का स्वरूप ऐसा है : "हला, अलं वः अन्तःपुरविहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन ।" यहाँ पर भी किसी भी लिपिकार के द्वारा पाण्डुलिपियों के प्रतिलेखन के दौरान विरह के स्थान पर विहार हो सकता है, अथवा विहार के स्थान में विरह हो सकता है। अतः मूल में कौन सा पाठ कवि ने अपने हाथों से लिखा होगा ? उसका निर्णय करना मुश्कील है, एवं विवादास्पद भी है । तथापि प्रकृत में पूर्वापर सन्दर्भ में कहे गये वाक्यों को बारिकी से देखा जाय तो अनसूया की

उक्ति महत्त्वपूर्ण है। उसने कहा है कि वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नः सखी बन्धुजनशोचनीया न भवति, तथा निर्वाहय। इसमें राजाओं को बहुसंख्यक वल्लभाओं वाले कहे गये हैं, इसको यदि ध्यान में लिया जाय तो ''बहु'' शब्द का ''विहार'' शब्द के साथ ही सामञ्जस्य ठीक बैठता है। मतलब कि काश्मीरी वाचना के पाठ में ही आन्तरिक सम्भावनापूर्ण पाठ संचरित होकर हम तक सुरक्षित स्वरूप में पहुँचा है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ को प्राचीनतम मानना प्रमाणसिद्ध है॥

(घ) चतुर्थांक में, शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है : कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये। (इति रोदिति)। यह काश्मीरी वाचना का पाठ है। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में एक नया ही उपमान रखा गया है। जैसे कि, कथमिदानीं तातस्य अङ्काद् परिभ्रष्टा मलयपर्वतादुन्मूलिता इव चन्दनलता देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि॥ इन दोनों पाठान्तरों की उच्चतर समीक्षा की जाय तो मालूम होगा कि कण्वाश्रम हिमालय की गोद में अवस्थित था। अतः वहाँ शकुन्तला के सामने करिसार्थ का होना ही भौगोलिक सत्य है। उस स्थान में चन्दनलता का होना सम्भव ही नहीं है। इस तरह सोचा जायेगा तो काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम एवं मौलिकता के नजदीक सिद्ध होता है।

(ङ) षष्ठांक में, राजा दुष्यन्त अपनी परिचारिका मेधाविनी के द्वारा शकुन्तला का चित्र मंगवाता है। उस चित्र को देख कर विरही राजा अपने मन के भावों को व्यक्त कर रहे थे। तब सूचना मिलती है कि मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिन कर, रानी वसुमती स्वयं आ रही है। अतः राजा उस चित्र को सुरक्षित करने के लिए विदूषक को विनति करते हैं। विदूषक चित्रफलक को उठा कर भागता है, लेकिन (1) मैथिली पाठ के अनुसार, ऐसा कह कर जाता है कि राजा जब ''अन्तःपुर के कूटपाश'' से मुक्त हो सके तब मुझे मेघछन्दप्रासाद से बुला लेना। (2) बंगाली पाठ के अनुसार,

राजा जब "अन्तःपुर की वागुरा से" मोक्ष प्राप्त करे तब मुझे मेघच्छन्नप्रासाद से बुला लेना। (3) और देवनागरी पाठ के अनुसार, राजा जब "अन्तःपुर के कालकूट से" मोक्ष प्राप्त करे, तब मेघप्रतिच्छन्न प्रासाद से मुझे बुला लेना। (4) दाक्षिणात्य वाचना के अनुसार, राजा जब "अन्तःपुर के कलह से" मुक्त हो जाय, तब मुझे मेघप्रतिच्छन्द प्रासाद से बुला लेना। रानी के आगमन से सम्बद्ध विदूषक की ऐसी टीका सभी वाचनाओं में है, केवल काश्मीरी वाचना में नहीं है। काश्मीरी वाचना के पाठ में रानी का नाम कुलप्रभा है, और वह राजा का शकुन्तला-विषयक प्रेमप्रसंग जान कर किसी भी तरह से ईर्ष्या-कषायिता नहीं होती है। राजा को अधिक प्रिय बनने की स्पर्धा में भी वह मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिन कर स्वयं अपने हाथ से राजा को पहुँचाने का मनोरथ भी नहीं करती है। काश्मीरी वाचना में जो स्पर्धा का चित्र मिलता है वह तो राजा की परिचारिका मेधाविनी और रानी की दासी पिङ्गलिका के बीच चलता है॥ यहाँ विचार करने पर एक गम्भीर बात प्रकट होती है। कालिदास ने जब इस अपूर्व और नवीन कहे गये नाटक में पूर्वपरिणीताओं की ओर से उपस्थित होनेवाले अन्तराय (या संघर्ष) को प्रदर्शित करने का मार्ग छोड कर, दुर्वासा के शाप को अन्तराय के रूप में उद्भावित किया है, तब परोक्ष रूप में भी पूर्वपरिणीता रानी कुलप्रभा या वसुमती की ओर से किसी तरह के ईर्ष्याभाव को, स्पर्धा को प्रदर्शित करना अनुचित ही है। अतः काश्मीरी वाचना का पाठ मौलिकता के नज़दीक है ऐसा सिद्ध होता है, और जो पाठ मौलिकता के नजदीक है ऐसा सिद्ध होता है वही पाठ प्राचीनतम कहना होगा।

निष्कर्षतः कहा जाय तो बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम सिद्ध होता है। अर्थात् इस नाटक के पाठविचलन का क्रम निर्धारित करते समय यह बात ध्यान में रखनी है कि मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं की अपेक्षा से काश्मीरी वाचना का पाठ पुरोवर्ती है। तथा अन्य दो वाचनाओं का पाठ पश्चाद्वर्ती है॥

[3]

द्वितीय क्रम पर मैथिली, एवं तीसरे क्रम पर बंगाली वाचना का समुद्भव

काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम होने के कारण "अभिज्ञानशकुन्तला" नाटक प्रथम क्रम में आता है। अब प्रश्न होगा कि बृहत्पाठ की अन्य दो, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में कौन सा पौर्वापर्य होगा ? यद्यपि यह प्रश्न सुलझाना बहुत कठिन है। क्योंकि इन दोनों वाचनाओं में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तलम्" है। तथा विद्वानों के द्वारा ऐसा कहा गया है कि मैथिली वाचना का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना उचित नहीं है। प्रॉफि. वी. राघवन् ने कहा है कि मैथिली वाचना का पाठ कदाचित् बंगाली की ओर झुकता है, एवं कदाचित् काश्मीरी पाठ की ओर झुकता है[4]। यही बात डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी कही है। इस तरह के निरीक्षण में सच्चाई अवश्य है। किन्तु मैथिली वाचना का इस तरह का उभयत्र साम्य कुछ राज़ की बात कह रहा है। जैसे कि, (1) मैथिली वाचना के पाठ का जहाँ जहाँ बंगाली वाचना के साथ वैषम्य है और काश्मीरी पाठ के साथ साम्य है, वहाँ उस मैथिली पाठ को पाठविचलन के द्वितीय क्रमांक पर रखना होगा। एवमेव, (2) जहाँ मैथिली पाठभेदों का काश्मीरी पाठ के साथ वैषम्य है, एवं बंगाली पाठभेदों के साथ साम्य है वहाँ ऐसा अनुमान करना होगा कि जो पाठभेद एवं प्रक्षेप (पहले काश्मीरी वाचना में नहीं थे,) वे सब पहले मैथिली में दाखिल हुए होंगे। तथा उन सब पाठभेदादि उत्तरवर्ती काल में (याने तृतीय स्तर पर) बंगाली वाचना में प्रविष्ट हुए होंगे॥ ऐसे मैथिली वाचना के पाठ को काश्मीरी से पश्चाद्वर्ती काल का, और बंगाली वाचना से पुरोगामी काल का मानने से, मैथिली के उस उभयत्र दिख रहे साम्य-वैषम्य को हम सटीक समझा सकते हैं॥ इस सन्दर्भ में निदर्श रूप कुछ उदाहरण देखना जरूरी है :-

(क) तीसरे अङ्क में दुष्यन्त-शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह होता है। इसमें शृङ्गारिक दृश्यावली होने के कारण रंगकर्मिओं के द्वारा अनेक श्लोकों का प्रक्षेप हुआ है। काश्मीरी वाचना में इस अङ्क के 35 श्लोक हैं। मैथिली वाचना के पाठ

में 40 श्लोक हैं, तथा बंगाली वाचना में 41 श्लोक हैं। यहाँ श्लोकों की संख्या में जो क्रमिक वृद्धि दिखाई दे रही है, उसमें भी ये तीन वाचनाओं की क्रमिक पाठयात्रा स्पष्ट हो रही है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना में "तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वम्०" (3-4) श्लोक के पीछे पाँचवें श्लोक के रूप में "शक्योऽविन्दसुरभिः०" आता है। किन्तु इसी सन्दर्भ में, मैथिली वाचना की श्लोकशृङ्खला देखते हैं तो वहाँ पर तीन श्लोकों का प्रक्षेप मिलता है :- 1. "अनिशमपि मकरकेतु०" 2. "वृथैव संकल्पशतैर०", तथा 3. "संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोषाः०" ॥ बंगाली वाचना ने इन्हीं तीन श्लोकों को स्वीकार लिया है। एवमेव आगे चल कर एक चौथे श्लोक का नया प्रक्षेप भी किया है। यह चौथा श्लोक मैथिली वाचना में नहीं था। "स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयम्०", एवं "क्षाम-क्षाम-कपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं०" इन दोनों के बीच में बंगाली पाठशोधकों ने एक नया श्लोक दाखिल किया, तथा उस श्लोक के पूर्व में प्रियंवदा और अनुसूया की दो नवीन उक्तियों को भी प्रक्षिप्त किया है। इस नये प्रक्षिप्तांश का पाठ इस तरह का है :-

"**प्रियंवदा** - *(जनान्तिकम्) अणुसूये, तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरम्भिअ पज्जुस्सुअमणा सउन्तला। ण क्खु से अण्णणिमित्तो आदङ्को भवे ॥*

अनुसूया - *ममावि एरिसी आसङ्का। भोदु। पुच्छिस्सं। सहि, पुच्छिदव्वा सि किं पि। बलीओ क्खु अङ्गसंतावो ॥*

राजा - *वक्तव्यमेव,*

शशिकरविशदान्यस्यास्तथा हि दुःसहनिदाघशंसीनि।

भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि ॥ (3-12)

इस पूरे सन्दर्भ में हम देख सकते हैं कि मैथिली वाचना के द्वारा प्रक्षिप्त किये गये तीन श्लोकों का बंगाली पाठशोधकों ने पहले अनुगमन किया है।

तदनन्तर उसी दिशा में आगे बढ़ते हुए, एक नवीन चौथे श्लोक का प्रक्षेप भी अपनी ओर से कर दिया है । अतः इस नाटक के पाठविचलन की आनुक्रमिकता में काश्मीरी वाचना के तुरंत पीछे, याने दूसरे क्रम में, मैथिली वाचना खडी है । तथा मैथिली के पीछे, यानें तीसरे क्रम में, बंगाली वाचना का पाठ आता है । कवि के द्वारा प्रणीत जो पाठ था वह इस तरह से बृहत् से बृहत्तर, और बृहत्तर से बृहत्तम बनता चला है । (रिचार्ड पिशेल द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशकुन्तल की समीक्षितावृत्ति में 221 श्लोक मान्य किये गये हैं । किन्तु बंगाली पाठ के टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने 225 श्लोकों पर टीका लिखी है[5] । सारांशतः बंगाली वाचना में ही इस नाटक का कलेवर सबसे बड़ा है !) ॥

(ख) काश्मीरी पाठ के द्वितीयांक का एक स्थान परीक्षणीय है । विदूषक के कहने से राजा ने मृगया-कर्म से विरत होने का सोच लिया और अपने सेनापति को बुलाया । दुष्यन्त सूचना देना चाहता है कि मृगया के लिए एकत्र किये जंगल के प्राणियों को मुक्त किया जाय । दौवारिक जा कर सेनापति को ले आता है । रंगमंच पर आकर सेनापति ने राजा के शरीर को देखा । मृगया के कारण राजा जी को जो शारीरिक लाभ हुआ था, उसका गुण-वर्णन वह शूरु करता है । जैसे कि, ''अनवरतधनुर्ज्यास्फालन-क्रूरपूर्वम्०''। काश्मीरी वाचना में यहाँ पर दौवारिक की एक उक्ति है :- *अय्य, एसो क्खु अणुवअणदिण्णकण्णो इदो दिण्णदिठ्ठि येव भट्टा तुमं पडिवालेदि । ता उवसप्पदु अय्यो । (आर्य, एष खल्वनुवचनदत्तकर्ण इतो दत्तदृष्टिरेव भर्ता त्वां प्रतिपालयति । तस्माद् उपसर्पत्वार्यः ।)* पूर्वापर सन्दर्भ में इस उक्ति को देखेंगे तो मालूम होगा कि राजाजी ने सामने से आ रहे सेनापति के शब्दों को ध्यान से सुना था, और वे उसीकी प्रतीक्षा भी कर रहे थे । मतलब कि यहाँ राजा के लिए प्रयुक्त ''अनुवचनदत्तकर्ण'' एवं ''इतो दत्तदृष्टिः'' ये दोनों विशेषण राजा के आङ्गिक अभिनय के साथ ही

जुड़े हुए हैं। नाट्यप्रयोग के दौरान ही राजा के आङ्गिक अभिनय से समझ में आयेगा कि ये दोनों शब्द सर्वथा उपयोगी है ॥

मैथिली वाचना में इसी उक्ति का जो स्वरूप है वह निम्नोक्त है :- एदु एदु अज्जो । एसो अणुवअणदिण्णकण्णो भट्टा तुमं जेव्व पडिवालेदि, ता उअसप्पदु अज्जो । यहाँ मैथिली पाठ में ''इतो दत्तदृष्टिः'' इतने शब्द नहीं है । अर्थात् नाट्यप्रयोग के दौरान राजा के आङ्गिक अभिनय से स्पष्ट होगा कि राजा जी केवल सेनापति के शब्दों को सुन रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि सेनापति के आने की दिशा में नहीं घुमाई गई थी ॥

बंगाली वाचना में इस सन्दर्भ की उक्तियाँ परीक्षणीय हैं। जिसमें सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि राजा की आज्ञा से दौवारिक जब सेनापति को लेकर रंगमंच पर आता है, तो वहाँ किसी रंगकर्मी ने समय की बचत करने के लिए ''निष्क्रम्य-प्रविश्य'' की युक्ति का विनियोग किया है, और सेनापति की उक्ति को स्थानान्तरित करके पीछे ले ली है। अब बंगाली वाचना का पाठ्यांश प्रथम द्रष्टव्य है :-

राजा - *रैवतक, सेनापतिस्तावद् आहूयताम् ।*

दौवारिकः - *तधा । (इति निष्क्रम्य पुनः सेनापतिना सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जो । एस आलावदिण्णकण्णो भट्टा इदो जेव चिठ्टदि । उवसप्पदु णं अज्जो । (तथा । एतु एतु आर्यः । एष आलापदत्तकर्णो भर्ता इत एव तिष्ठति । उपसर्पतु एनमार्यः ।)*

सेनापतिः - *(राजानमवलोक्य स्वगतम्) कथं दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता । तथा हे देवः -*

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा, रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ 2-4

इसमें सेनापति के मुख में रखा गया जो श्लोक है, वह अन्य सभी वाचनाओं में, दौवारिक उसको बुला कर साथ में ला रहा है तब सेनापति के मुख में है। वह आते समय रास्ते में ही इस श्लोक के द्वारा राजा का शरीर, जो मृगया के व्यायाम से कसा गया है, उसका निरूपण करता है। इस

श्लोक का उच्चारण (या गान) पूरा हो जाने पर ही दौवारिक उसको कहता है कि राजा आपके कथन को सुन रहे हैं, अतः आप उसके निकट में जा सकते हो। लेकिन बंगाली पाठ में इस श्लोक को पीछे कर देने से दौवारिक जब कहता है कि राजा, जो आलापदत्तकर्ण हैं, वह यहीं खडे हैं और अब आप उसके निकट जा सकते हैं, तो वह वाक्य विसंगत लगता है। क्योंकि इस बंगाली पाठ में तो अभी तक सेनापति ने रास्ते में आते समय यह श्लोक बोला (या गाया) ही नहीं है! तो फिर दौवारिक कैसे कह सकेगा कि राजा आपके आलाप (=बातचीत) की ओर ध्यान देकर सुन रहे हैं? बंगाली पाठ की इस तरह की नवीन पाठयोजना असम्बद्ध है उसमें कोई शक नहीं है[6] ॥

काश्मीरी और मैथिली पाठों में इस तरह की विसंगति नहीं है। तथा देवनागरी वाचना ने यद्यपि बंगाली वाचना की नवीन पाठयोजना का अनुसरण किया है, किन्तु उपर्युक्त विसंगति से बचने के लिए दौवारिक की पूर्वोक्त उक्ति में "आलापदत्तकर्ण" शब्द के स्थान में, [*एसो आण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिठ्ठी एव्व चिठ्ठिद। उवसप्पदु अज्जो। (एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पतु आर्यः।)*] "आज्ञावचनोत्कण्ठ" शब्द से नया ही (चौथा) पाठान्तर अवतारित किया है॥

उपर्युक्त चर्चा में पाठविचलन की यात्रा भी स्पष्टतया उद्भासित हो रही है। जैसे कि - उपलब्ध प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के शारदा पाठ में पहले "अनुवचनदत्तकर्णः, इतो दत्तदृष्टिः" ऐसे दो शब्द थे। द्वितीय क्रम में, मैथिली वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण जरूर किया, लेकिन एक शब्द "इतो दत्तदृष्टिः" को कम कर दिया। तथा सेनापति के श्लोक को, राजा के सामने लाने से पहले, प्रस्तुत करनेवाली मूलयोजना को नहीं बदला है। तीसरे क्रम में, बंगाली पाठ में सेनापति के मुख में रखे श्लोक को स्थानान्तरित किया गया है। तथा "आलापदत्तकर्णः" जैसे तीसरे पाठान्तर को जन्म दिया है। लेकिन उसमें पूर्वोक्त प्रकार की विसंगति आने के कारण देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में एक

चौथे पाठान्तर ने जन्म लिया, जिसमें "आज्ञावचनोत्कण्ठः" शब्द आ गया ॥ यद्यपि इस चौथे पाठान्तर के कारण भी एक नयी विसंगति पैदा हो रही है। जैसे कि, दौवारिक ने जब राजा की मानसिकता को "आज्ञावचनोत्कण्ठः" से शब्दबद्ध की है तब सेनापति के मुख में मृगया की प्रशंसा करनेवाला श्लोक असामयिक बन जाता है ! यदि उसने सुना है कि राजा कुछ आज्ञा देने के लिए उत्कण्ठित है तो सेनापति को तुरंत ही "जयतु जयतु स्वामी, गृहीतश्वपदमरण्यम्०" इत्यादि बोलते हुए सीधे राजा के सामने प्रस्तुत होना ही उचित लगता है ॥

(ग) काश्मीरी पाठ में राजा के परिजन-वर्ग में लिपिकरी मेधाविनी नामक दासी है। और देवी कुलप्रभा के परिजन-वर्ग में एक दासी पिङ्गलिका है। काश्मीरी पाठ में, इन दोनों दासियों के बीच में टकराव होता है। इसमें कुलप्रभा ईर्ष्या-कषायित हो कर कुछ सक्रियता नहीं दिखाती है। मैथिली पाठ में, मेधाविनी एवं पिङ्गलिका की उपस्थिति तो यथावत् रूप में मिलती है। किन्तु जो पहला परिवर्तन आया है वह ऐसा है कि पिङ्गलिका को साथ में लेकर आ रही रानी वसुमती स्वयं ईर्ष्याग्रस्त होकर, मेधाविनी के हाथों में से वर्तिका-करण्डक छिन लेती है। राजा को अधिक प्रिय होने की स्पर्धा में वह अपने आप राजा के पास जा कर वर्तिका देना चाहती है ॥ तीसरी ओर, बंगाली पाठ में देखा जाय तो, राजा के परिजन-वर्ग में अब मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" आ जाती है ! जो राजा के लिए चित्रफलक ले आती है, और बाद में वर्तिका-करण्डक को लेने भी जाती है। तथा रानी वसुमती की दासी के रूप में पिङ्गलिका यथावत् रूप में विद्यमान है। किन्तु बंगाली पाठ में जो एक असाधारण विसंगति प्रकट रूप में अद्यावधि विद्यमान दिख रही है वह यह हे कि मेधाविनी को बदल कर चतुरिका का बंगाली पाठ में नया प्रवेश करवाने के बावजुद भी, पाठशोधक लोग एक स्थान पर पुरानी मेधाविनी को बदल देना भूल गये हैं ! जैसे कि, विदूषक :- (कर्णं दत्वा) भी अहिधावन्ती एसा अन्तेउरवग्घी मेधाविणिं मइं विअ कवलिदुं उवत्थिदा। (रिचार्ड पिशेल, द्वितीय संस्करण, 1922 पृ. 86, तथा डॉ.

दिलीपकुमार कांजीलाल, 1980 पृ. 324) यदि बंगाली पाठ में मेधाविनी के स्थान पर ''चतुरिका'' नया नाम प्रस्तुत करना ही था, तो उसको षष्ठांक में सर्वत्र क्यूं नहीं बदला ? लेकिन यह असावधानी हमारे लिए बड़ी काम की सामग्री बन गई है। यह विसंगति इस बात की गवाही दे रही है कि मैथिली पाठ का अनुगमन करनेवाला (आज का) बंगाली पाठ तृतीय क्रमांक पर ही तैयार किया गया है॥ देवनागरी पाठ में, बंगाली पाठ की उपर्युक्त विसंगति सम्पूर्णतया हटाई गई है। उसमें सर्वत्र ''चतुरिका'' ही मिलती है। तथा देवनागरी पाठ में, पिङ्गलिका को भी बदल करके ''तरलिका'' नाम की दासी दाखिल की गई है। अतः वह चतुर्थ क्रमांक पर तैयार किया गया पाठ सिद्ध होता है॥

(घ) चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में दुर्वासा का शाप-प्रसंग निरूपित है। देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में शापमोचन का उपाय मांगने के लिए प्रियंवदा जाती है, और उस शापवृत्तान्त को गुप्त रखने का प्रस्ताव अनसूया करती है। किन्तु तीन अङ्कों के कार्यकलाप के दौरान इन दोनों सहेलियों के व्यक्तित्व का जो परिचय दर्शकों (या पाठकों) को मिला है उसको देखते हुए तो यह प्रतीतिकर नहीं है। अतः अन्य वाचनाओं में क्या स्थिति है उसका तुलनात्मक अभ्यास करना जरूरी है। काश्मीरी वाचना में शापमोचन की याचना के लिए अनसूया जाती है, और शापगुप्ति का प्रस्ताव प्रियंवदा ने किया है। इस तरह का वक्री-क्रम समुचित लगता है। जब मैथिली वाचना को देखते है तो उसमें शापमोचन की याचना करने के लिए जाती तो है अनसूया ही। लेकिन शाप वृत्तान्त को शकुन्तला से छिपा कर रखने का प्रस्ताव भी अनसूया ही करती है! यह कैसे हो गया ? तो प्रियंवदा ने जब कहा कि राजा के द्वारा दी गई अंगूठी शकुन्तला के पास है, इस लिए वह स्वाधीनोपाय है। तब अनसूया ने कहा कि चलो, हम देवकार्य का निर्वर्तन कर ले। (उसके बाद मैथिली वाचना के पाठ में रंगसूचना है : इति

परिक्रामतः ।) यह उक्ति पहले काश्मीरी वाचना में नहीं थी । किन्तु किसी अज्ञात रंगकर्मी ने उसे नयी दाखिल की । क्योंकि पुष्पचयन करने के स्थान से चल कर शकुन्तला की कुटिर पर पहुँचने के लिए रंगमंच पर परिक्रमण दिखाना आवश्यक था । और उस समय अनसूया के मुख में कुछ वाक्य होना चाहिए ऐसा सोच कर एक नये वाक्य का प्रक्षेप किया गया । अब, याने अनसूया की उक्ति के बाद जो दूसरी उक्ति होगी वह प्रियंवदा को बोलनी होगी । बस ऐसा होने के कारण, उपर्युक्त नये वाक्य के प्रक्षेप के कारण, अनुगामी संवादों की वक्त्रियाँ उलटापुलटा हो गई । वक्तृविशेष का क्रम बदल जाने के कारण जो कार्य जिस व्यक्तित्व के साथ सुसंगत लगता था वह पश्चाद्वर्ती समय में विकृत हो जाता है । मैथिली वाचना का अनुसरण करते हुए बंगाली वाचना में भी उपर्युक्त दोनों बातें अनसूया के ही मुख में रखी गई है ॥ जब इसी सन्दर्भ में देवनागरी पाठ का अवलोकन किया जाता है तो एक और नया परिवर्तन मिल रहा है ! वहाँ पर शाप–मोचन की याचना के लिए प्रियंवदा जाती है, और शाप–वृत्तान्त को संगोपित रखने का प्रस्ताव अनसूया ने किया है ॥ इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में मिल रहे विविध पाठान्तरों का इस तरह से तुलनात्मक अभ्यास करने से, काश्मीरी से शूरु हुई पाठयात्रा प्रथम मैथिली वाचना में संक्रान्त होकर, द्वितीय क्रम पर बंगाली वाचना में प्रवेश करती है । वहाँ आगे बढती हुई पाठयात्रा चतुर्थ क्रम में देवनागरी वाचना में जाती है, और अन्त में दाक्षिणआत्य वाचना में पहुँचती है । किन्तु प्रत्येक स्तर पर उसमें (काव्यतत्त्वीय पक्ष को कम से कम हानि पहुँचाई गई है, परंतु) रंगमंचीय परिवर्तन ही प्रायः ज्यादा होते रहे हैं ॥

[4]

काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले कुछ प्रक्षेपादि

जैसा कि पहले कहा गया है इस नाटक का काश्मीरी वाचना में सुरक्षित

रहा पाठ ही प्राचीनतम पाठ है, और यह वाचना ई.स. 700 के आसपास में ग्रथित हुई होगी। कवि कालिदास के समय से लेकर, अर्थात् प्रथम शताब्दि से सातवी शताब्दि तक के अन्तराल में इस पाठ में कौन से परिवर्तन, प्रक्षेपादि हुए होंगे वह भी विचारणीय है। क्योंकि काश्मीरी वाचना प्राचीनतम सिद्ध होती है इस लिए उसमें ही सर्वथा मौलिक पाठ संगृहीत हुआ है, या सुरक्षित रहा है ऐसा मान लेने की जल्दबाजी हम नहीं कर सकते हैं। कालिदास और शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ के बीच में जो 700 वर्षों का सुदीर्घ कालखण्ड पडा है, वह हमारे लिए अन्धकारग्रस्त है। शारदालिपि में लिखी गई भूर्जपत्रवाली (क्रमांक : 192) पाण्डुलिपि की भाग्यवशात् प्राप्ति हो जाने से उस अन्धकार भरे समय में क्या क्या हुआ होगा, तथा उसके बाद क्या होता रहा है उसका कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। क्यूंकि, अब ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की दो शारदा पाण्डुलिपियाँ (क्रमांक : 159 एवं 1247), तथा श्रीनगर की शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक : 1345) की भी प्राप्ति हो गई है। इसके लिए निदर्श के रूप में तृतीचांक का कुसुमशयना शकुन्तला वाला दृश्य बारिकी से देखने की जरूरत है॥

तृतीयांक के आरम्भ में कहा गया है कि कामज्वर से पीडित शकुन्तला बलवद्-अस्वस्थ अवस्था में है। प्रियंवदा उसके शरीरदाह के निर्वापण के लिए उशीर का लेप और नलिनीपत्रादि को ले जा रही है। तब कण्वाश्रम का एक शिष्य भी प्रियंवदा को कहता है कि शकुन्तला तो कण्व मुनि का श्वासोच्छ्वास है, अतः उसको बहुत सम्भाल के रखना। दृश्य का आरम्भ होते ही, मालिनी नदी के तट उपर लतावलय में एक शिलातल पर बिछाये कुसुमास्तरण में वह लेटी हुई है। दोनों सहेलियाँ उसको नलिनीदल से पवन दे रही हैं। यहाँ कालिदास की मूलयोजना तो यही रही है कि दृश्य के आरम्भ में शकुन्तला पुष्पमयी शय्या पर लेटी हो और मदनलेख लिखते समय भी वह लेटी रहे। तथा मदनलेख के शब्दों को सुन कर

राजा प्रकट हो जाय और उसको उसी शिलातल पर बिठाया जाय, जिस पर शकुन्तला लेटी हो, तब भी वह वहीं पर लेटी रहे। जब दोनों सहेलियाँ रंगमंच से बिदा ले और दुष्यन्त शकुन्तला को कहे कि तुम आवेग में मत आओ। तेरी सखियों की भूमिका में रहा मैं तेरा आराधयिता व्यक्ति अब तेरे पास में हूँ। "०अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ, संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते। (3-20)" तब, वह अपनी मदनावस्था के अनुरूप धीरे से, कष्ट के साथ कुसुमास्तरण से उठ कर चलने का आरम्भ करें। (यहाँ शारदा पाण्डुलिपियों में रंगसूचना है : अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता।) नायिका शकुन्तला कहाँ से लेकर, कहाँ तक कुसुमास्तरण पर लेटी रहे इसकी कवि–निर्धारित योजना यही है। लेकिन वर्तमान में उपलब्ध हो रहे शारदा–पाठ का गठन होने से पूर्व में, अतीत के रंगकर्मिओं ने, नायिका की उस लेटी हुई अवस्था का तथा लतावलय में एकान्त की स्थिति का अनुचित फायदा उठा कर अश्लील श्लोकयुक्त कुछ पाठ्यांशो का प्रक्षेप किया है। ऐसे स्थान का प्रतीकात्मक निर्देश करें तो, "अपराधमिमं ततः सहिष्ये रम्भोरु तवाङ्गरेचितार्धे। कुसुमास्तरणे क्लमापहं में सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम् ॥ (3-19)" ऐसा अश्लील पाठ्यांश बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। इसी लिए अनुमान किया जाता है कि ऐसे पाठ्यांश का प्रक्षेप काश्मीरी वाचना की शारदा पाण्डुलिपियों का गठन होने से पहले, सुदूर अतीत में, हुआ होगा।

स्वयं कवि कालिदास ने नायिका को रंगमंच पर लेटी हुई अवस्था में प्रस्तुत की वही पाठविचलन का प्रथम उद्गम बिन्दु बन गया है। यद्यपि हमारे लिए यह आशाजनक बात है कि इन्हीं चार शारदा पाण्डुलिपियों में कुछ अंश ऐसे भी मिलते हैं कि हम उन प्रक्षिप्तांशो को पहचान भी सके। उदाहरण के रूप में, (क) उपर्युक्त 3-19 श्लोक के पहले, (श्लोक 3-17 से भी पहले) अनसूया ने कहा है

कि देखो देखो, मेघ–नाद से आहत मयूरी की तरह हमारी प्रियसखी के जीव में जीव आ गया ! उसके बाद रंगसूचना है : "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति ।" इस तरह नायिका को लेटी हुई अवस्था से पहले ही सलज्जा खड़ी की गई है, उसके पास उपर्युक्त शब्दों से सहशयन की याचना कैसे की जाय ? तथा श्लोक 3-20 के नीचे जो रंगसूचना "अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता" है, उसके साथ "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति ।" वाली रंगसूचना भी विसंगति पैदा करती है ! अतः शारदालिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में ही रंगसूचना–सम्बन्धी जो विसंगतियाँ हैं, वही इस बात की गवाही देती हैं कि शकुन्तला की लेटी हुई अवस्था की मूलदृश्य–योजना बदलने की चेष्टा 700 ई.स. से पहले हो चूकी थी । (ख) इस सन्दर्भ में दूसरा उदाहरण भी देखना रसप्रद होगा : प्रियंवदा के सुझाव पर शकुन्तला जब मदनलेख लिखने के लिए मानसिक रूप से तैयार होती है तब, कवि की मूल दृश्य–योजना के अनुसार वह लेटी हुई रह कर ही गीत के अक्षर सोचती है और लेटी हुई रह कर ही लिखती है । भूर्जपत्रवाली शारदा–प्रति में "आसीना चिन्तयति" या "उपविष्टा चिन्तयति" जैसी एक भी रंगसूचना नहीं है । किन्तु परवर्ती काल में, ऑक्सफर्ड की 159 क्रमांक वाली पाण्डुलिपि में केवल "चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना प्रविष्ट होती है । तदनन्तर, ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमांक वाली तथा श्रीनगर की 1435 क्रमांक वाली पाण्डुलिपिओं में "आसीना चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना दाखिल की गई है । जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ पर हमें याद रखना है कि दुष्यन्त जब तक शकुन्तला के पादसंवाहन का प्रस्ताव न करे तब तक नायिका को लेटे ही रहना है । क्योंकि पादसंवाहन का प्रस्ताव होने के (श्लोक 3-20) बाद जो "अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता" ऐसी रंगसूचना है, उसका इङ्गित यही है कि मदनलेख–प्रसंग में भी नायिका लेटी रहे ॥

रंगमंच पर शकुन्तला को लेटी हुई स्थिति में प्रस्तुत करने का कालिदास

का विचार पश्चाद्वर्ती काल में रंगकर्मिओं के लिए चुनौती रूप बना है, और कहना होगा कि प्रायः सभी काल के रंगकर्मी लोग उसमें निष्फल रहे हैं। इस बात का अन्दाजा शकुन्तला को कब बिठाई जाय, कब खड़ी की जाय, एवं कब उसे चलाया जाय ? इस विषय को लेकर रंगसूचना-सम्बन्धी जो विसंगति प्रायः सभी वाचनाओं में फैली हुई आज भी मिलती है, उससे देखा जा सकता है :- (क) भूर्जपत्रवाली प्राचीनतम शारदा पाण्डुलिपि में, राजा को जब शिलातल पर बिठाया जाता है तब, शकुन्तला को मेघनादाहत मयूरी का उपमान देकर लज्जा के साथ खड़ी की जाती है वही एक विसंगति है। किन्तु यह उपमान रमणीय होते हुए भी प्रक्षिप्त हैं ऐसा निश्चित हो सकता है। (ख) ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमवाली एवं श्रीनगर की 1435 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में (और तदनुसारिणी मैथिली वाचना में) एक दूसरी विसंगति ने प्रवेश किया है। जैसे कि, इन दो शारदा पाण्डुलिपिओं में लेटी हुई शकुन्तला को खड़ी करने से पहले, मदनलेख लिखवाते समय "आसीना चिन्तयति" जैसी रंगसूचना से बिठाई जाती है। तथा मदनलेख को सुन कर सहसा प्रकट हुए राजा को शिलातल पर बिठाया जाता है, तब "पादौ अपसारयति" नवीन रंगसूचना से, बैठी हुई शकुन्तला के दो पाँव को थोडे से सीकुडने को कहा जाता है। उक्त दो शारदा प्रतिओं में बैठी हुई शकुन्तला के पाँव को सीकुडने की सूचना है, किन्तु मैथिली पाठ में मदनलेख लिखवाते समय शकुन्तला को "आसीना चिन्तयति" नहीं बताई है, उसमें तो शकुन्तला को केवल "चिन्तयति" रंगसूचना से, लेटी रह कर ही चिन्तन करने का कहा है। परिणामतः मैथिली वाचना में "पादौ अपसारयति" रंगसूचना का फलितार्थ यही होगा कि जिस शिलातल पर शकुन्तला लेटी है उसी पर राजा को बिठाने के लिए, लेटी हुई स्थिति में ही वह अपने दोनों पाद को अपसारित करती है। (ग) बंगाली वाचना में मैथिली वाचना जैसा ही पाठ संचरित हुआ है, किन्तु उसमें एक परिष्कार भी किया गया है। जैसे कि, इसमें

''सलज्जा तिष्ठति'' वाली रंगसूचना नहीं है। अर्थात् इस वाचना के अनुसार, जब से लेटी हुई शकुन्तला का दृश्य शूरु हुआ है वहाँ से लेकर राजा ने पाद-संवाहन का प्रस्ताव रखा तब तक वह सातत्यपूर्वक रंगमंच पर लेटी ही रहती है, जो कवि की मूलयोजना थी। किन्तु ऐसा पाठ बाद में परिष्कृत किया गया है उसका क्या प्रमाण ? ऐसा प्रश्न हमें कोई भी कर सकता है। इसके प्रत्युत्तर में कहेंगे कि, (भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में आये हुए) मेघनादाहत मयूरी के उपमान का प्रयोग करते हुए शकुन्तला को सलज्जा खड़ी करनेवाली जो उक्ति है, वह बंगाली वाचना में भी है। लेकिन उसके साथ में जुड़ी ''सलज्जा तिष्ठति'' वाली रंगसूचना को ही केवल हटाई गई है। तथा उस उक्ति को स्थानान्तरित करके, जब राजा के द्वारा ''परिग्रहबहुत्वेपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः०'' वाले श्लोक से शकुन्तला को कुलप्रतिष्ठा कही जाती है तब, रखा गया है। प्रियंवदा जनान्तिक उक्ति से कहती है - ''अणुसूये, पेक्ख पेक्ख मेहवादाहदं विअ जिम्हे कोटिं रवणे रवणे पच्चाअदजीविदं पिअसहिं। लेकिन इसके बाद शकुन्तला के किसी भी तरह के अनुभावों का प्रदर्शन नहीं है। बल्कि वह सहेलियों को राजा की क्षमायाचना करने को कहने लगती है, जिसके अनुसन्धान में, काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले एक अश्लील अंश का प्रक्षेप स्वीकार कर लिया गया है॥

(घ) इस सन्दर्भ में, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में कैसी विसंगति अनुसंचरित हुई है वह भी द्रष्टव्य है - दृश्य के आरम्भ में शकुन्तला कुसुमास्तरण पर लेटी हुई थी। मदनलेख लिखते समय, देवनागरी पाठ में, उसे 'आसीना चिन्तयति' की रंगसूचना से बिठाया जाता है। तत्पश्चात् राजा को उसी शिलातल पर बिठाया जाता है तब वह सलज्जा खड़ी हो जाती है। किन्तु आगे चल कर दुष्यन्त जब एकान्त में, उसका पादसंवाहन करने की तत्परता दिखाता है तब (देवनागरी) पाठ में) एक नवीन रंगसूचना के माध्यम से हमें कहा जाता है कि 'इत्युत्थाय

गन्तुमिच्छति' । जिसको देख कर तुरंत प्रश्न होता है कि जो शकुन्तला पहले से सलज्जा खड़ी है, तो अब 'खड़ी होकर जाने की इच्छा कर रही है' ऐसी रंगसूचना कैसे दी जा रही है ? एवमेव, खड़ी हुई शकुन्तला को राजा ऐसा कहे कि मैं क्या तुम्हें शीतल नलिनीदल से पंखा झलुं ?, या पद्म जैसे ताम्र वर्णवाले पाँव को अपने अंक में लेकर क्या मैं संवाहन करुं? तो इन शब्दों का संदर्भगत औचित्य बिलकुल नहीं रहता । अतः सिद्ध होता है कि कुसुमशयना शकुन्तला का दृश्य अपने मूल स्वरूप में से, बहुत पुराने समय से विचलित हो गया है । तथा यह विसंगति काश्मीरी वाचना को विरासत में मिली है । कालिदास के समय से, याने प्रथम शताब्दी से लेकर सप्तम शताब्दी के बीच में इस नाटक का जो रंगमंचीय इतिहास अन्धकारग्रस्त है, उसमें दृष्टिपात कराने वाली यह विसंगतियाँ हैं । एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के सभी सम्पादनों और संस्करणों में आज भी वह मौजुद है !!

काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों में चतुर्थाङ्क के आरम्भ में आये चार श्लोकों का भी परिगणन करना चाहिए । इन श्लोकों में कण्वाश्रम का एक शिष्य कितनी प्रभात-वेला हुई है उसका अन्दाजा लगाने के लिए रंगमंच पर आया है और प्रभात का वर्णन करता है । इन श्लोकों में 1. कर्कन्धूनाम् उपरि तुहिनम्० ।, 2. पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्० ।, 3. यात्येकतोऽस्तशिखरं० । एवं 4. अन्तर्हिते शशिनि सैव० । का समावेश होता है। मैथिली वाचना में भी इन सब का (और इसी क्रम में) संग्रह किया गया है। किन्तु बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने तीसरे-चौथे क्रमांक के श्लोकों को पहला-दूसरा श्लोक बना दिया है, और पहले-दूसरे श्लोकों को तीसरे-चौथे क्रम में रखा है। तथा देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में जब संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति होती है तब 1. कर्कन्धूनाम् उपरि तुहिनम्० । 2. पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्० । श्लोकों को निरस्त

किये गये हैं। हमने इन श्लोकों की मौलिकता सम्बन्धी चर्चा की है[7], जिसमें यह बताया है कि काश्मीरी वाचना के पहले दो श्लोकों को जो देवनागरी में से हटाया गया है। वही मौलिक श्लोक हो सकते हैं॥ किन्तु ''अपि च'' जैसे समुच्चयार्थक निपात का विनियोग करके, इस नाटक के पाठ में अनेक स्थानों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति बहुत पुराने समय से कार्यरत हुई थी। इस विमर्श से सिद्ध किया गया है कि उपर्युक्त चार श्लोकों में से तीसरा–चौथा श्लोक काश्मीरी वाचना में प्राचीन काल के प्रक्षेपों की विरासत के रूप में मिले होंगे॥

[5]

नाटक के पाठ्यांश में कटौती करने का मार्ग जतानेवाला प्रक्षेप

कवि के द्वारा ही मूल में नायिका की लेटी हुई अवस्था और लतावलय के एकान्त की जो परिस्थितियों का निर्माण किया गया है वह शृङ्गार रस का परिपोषक उद्दीपन विभाव है। लेकिन कमजोर रंगकर्मिओं के हाथों में जब ऐसा पाठ्यांश अभिनीत करने के लिए जाता है तो शृङ्गार जैसे अतिमसृण रस को अश्लीलता में फिलस जाने की भारी सम्भावना रहती है। परिणामतः तीसरे अङ्क में 1. अप्यौत्सुक्ये महति न वरप्रार्थनासु प्रतार्याः, काङ्क्ष्यन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने०। (3-22) एवं 2. यदा सुरतज्ञो भविष्यामि। जैसे अश्लील पाठ्यांश भी बहुत पहले से प्रविष्ट हो गये हैं। शारदा पाठपरम्परा को ऐसे प्रक्षिप्त पाठ्यांश विरासत में मिले थे, उसका संचरण (कुछ परिवर्तनों के साथ) मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठों में भी होता रहा है। जिसके कारण बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाएँ निन्दनीय एवं अग्राह्य बनी रही॥ किन्तु बात यहाँ तक सीमित भी नहीं रही। सुरुचि का भङ्ग करनेवाले उपर्युक्त अश्लील पाठ्यांशों को हटाने के लिए, या फिर इस नाटक को अल्प कालावधि में प्रस्तुत करने के लिए, अथवा उभयविध कारणों से

प्रेरित होकर जब भी इस नाटक के बृहत्पाठ में संक्षेप करने का सोचा गया होगा तब कौन सा वह स्थान था कि जो संक्षेपीकरण के लिए काम आया ? क्योंकि विरासत में मिले अश्लील पाठ्यांश शारदा पाण्डुलिपियों में से अन्य दो वाचनाओं में भी प्रविष्ट हुए थे। उसको तो संक्षेपीकरण के दौरान सीधे उठा लेने से प्रणय-प्रसंग में कोई बाधा नहीं आती है[8]। किन्तु बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में जो नैसर्गिक प्रेमसहचार की दृश्यावली थी उसमें कहीं पर भी विच्छेद करने की सम्भावना ही नहीं थी। इस लिए यह खोजना अतीव आवश्यक है कि इस नाटक के संक्षेपीकरण का मार्ग प्रशस्त करनेवाला स्थान कहाँ से मिला ? शारदा पाण्डुलिपियों की उपलब्धि होने से, एवं उपर्युक्त चर्चा से प्रस्थापित की गई पाठविचलन की आनुक्रमिकता को ध्यान में लेने से यह बात प्रकाश में आ सकती है। जैसा कि पहले यह सयुक्तिक सिद्ध किया गया है कि प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के बाद ही, द्वितीय क्रम में मैथिली वाचना का उद्भव हुआ है। तो अब जो श्लोक काश्मीरी वाचना में कहीं पर न हो, और प्रथम बार मैथिली वाचना में दाखिल किया गया हो उसको ढूँढना चाहिए। वैसा एक श्लोक है, जो अन्य सभी वाचनाओं में स्वीकृत हुआ है : गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यका: । श्रूयन्ते परिणीतास्ता: पितृभिश्चानुमोदिता: ॥ (मै.वा. 3-27) यह श्लोक सब से पहली बार मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने प्रक्षिप्त किया है ऐसा सिद्ध होता है। पाठविचलन की पूर्वोक्त आनुक्रमिकता से जब हम देखते हैं कि यह श्लोक पहले काश्मीरी वाचना की एक भी शारदा-पाण्डुलिपि में मिलता नहीं है, और बाद में वह मैथिली वाचना में दृष्टिगोचर होता है तो हम कह सकते हैं कि यह मैथिली परम्परा का अवदान है। यहाँ (ऐसा नहीं है कि काश्मीरी वाचना के पाठ में लिपिकारों के प्रमाद से यह श्लोक निकल गया होगा,) उच्चतर समीक्षा से भी सिद्ध होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है। शकुन्तला दुष्यन्त को जब सावधान करती है :-

शकुन्तला - (कृतकृतककोपा) पोरव रक्ख अविणअं। इदो तदो इसिओ संचरन्ति।

राजा - *सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।*

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यकाः।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ (3-27)

(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (ससम्भ्रमम् शकुन्तलां हित्वा तेनैव पथा पुनर्निवर्तते)

शकुन्तला - (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य) पोरव, अणिच्छापूरओ वि खणमेत्तपरिचिदो अँ जणो ण विसुमरिदव्वो॥ (मैथिली वाचना, पृ. 52)

उपरि भाग में दिये गये पाठ्यांश को देखने से मालूम होगा कि, शकुन्तला जब दुष्यन्त को सावधान करती है कि ''यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे'', तब दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर खेद का अनुभव नहीं करेंगे। अर्थात् तेरे पर नाराज़ नहीं होंगे। दुष्यन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें (या राजर्षिओं की कन्याएं) हैं, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अनुमोदित (अभिनन्दित) भी की गई है। लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषिमुनि घूम रहे होंगे, तब तो विनीत वर्ताव की ही अपेक्षा है। उससे विपरीत दुष्यन्त गुरुजनों से डर ने की कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरु करे वह दुष्यन्त के धीरोदात्त चरित के अनुरूप नहीं है। अतः दुष्यन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं ''गान्धर्वेण विवाहेन०'' वाला श्लोक बीच में से हटाया जाय तो, जो रंगसूचना-पुरस्सर का अनुगामी वाक्य है : (दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तेनैव यथा

पुनर्निवर्तते), वह बिलकुल सही सिद्ध होता है। इसमें विचार-सातत्य भी है और दुष्यन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है॥

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुःष्यन्त बहुत उतावला हो गया है। उस मूल कथा में सुधार के लिए उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है, तो उसको अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव कराके किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की जरूरत नहीं थी। इसे, अर्थात् गान्धर्वेण विवाहेन० वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर, बीच में से हटा देने से दुष्यन्त के उदात्त चरित की भी रक्षा होती है और शकुन्तला की उक्ति के साथ ''कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि'' जैसा दुष्यन्त का प्रतिभाव भी सुसंगत ठहरता है। इस तरह की उच्चतर समीक्षा का निष्कर्ष यही है कि शकुन्तला का लतावलय से बाहर चले जाने के बाद, दुष्यन्त भी जब वहाँ से बाहर आ जाता है तब ''यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे'' ऐसी प्रिया शकुन्तला की चेतावनी के साथ तो, ''(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि'' का सन्धान ही मौलिक प्रतीत होता है॥ (द्रष्टव्य : मुखपृष्ठ पर दिया फोटोग्राफ) तथा मैथिली वाचना ने किया ''गान्धर्वेण विवाहेन०'' श्लोक का प्रक्षेप सिद्ध होता है॥

अब यह बताना है कि अतीत के कोई अज्ञात रंगकर्मी ने इस नाटक के पाठ्यांश में कटौती करने का जब सोचा होगा तब उसके लिए दो तरह के लक्ष्य रहे होंगे : (क) परापूर्व से चले आ रहे अश्लील पाठ्यांशो की कटौती की जाय, और (ख) इस नाटक की रंगमंच पर अल्प समयावधि में प्रस्तुति करने के लिए कौन से दृश्यों की कटौती की जाय, एवं प्रवर्तित कथा का कहाँ से पुनःसन्धान कर लिया जाय ? उस स्थान को पसंद करना। इन दोनों में से पहला लक्ष्य सिद्ध करना तो सरल था, जो भी सुरुचि का भङ्ग करनेवाले अश्लील पाठ्यांश काश्मीरी आदि तीन वाचनाओं में चले आ रहे थे उनको चुन चुन कर हटा लिया होगा। तदनन्तर,

इस नाटक के तीसरे अङ्क में जहाँ से नायक-नायिका का सहज सुन्दर नैसर्गिक प्रेमसहचार शूरु होता है, (जिसमें दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, तथा दुष्यन्त शकुन्तला को पास में बिठा कर पुष्परज से कलुषित हुए उसके नेत्र को अपने वदनमारुत से प्रमार्जित कर देता है) ऐसे दो दृश्यों को हटा दिया है। ऐसे सुन्दर प्रेमभरे दो दृश्यों को हटाने का साहस वह इस लिए कर सका है कि उसके हाथ में मैथिली वाचना ने प्रक्षिप्त किया "गान्धर्वेण विवाहेन०" वाला श्लोक था। स्वाभाविक प्रेमोपचार के विकल्प में शास्त्रसम्मत गान्धर्व-विवाह का नामशः निर्देश करके नायक एक आश्रम-कन्या को उकसाने में सफल रहा ऐसा निरूपण कार्यरत किया गया, और दुर्भाग्यवशात् वह अद्यावधि कामयाब भी रहा है॥ देवनागरी वाचना में उक्त श्लोक के बाद केवल चार-पाँच संवाद आते हैं और तुरंत नेपथ्योक्ति से अङ्क समाप्त करने की दिशा में अवशिष्ट पाठ उपयुक्त किया गया है॥

हाँ, एक बात और बताना जरूरी है कि नाटक के पाठ्यांश में यह जो कटौती की गई है, उसका अन्दाजित समय 14 या 15 वीं शती से पूर्व नहीं होगा। इस तरह का अन्दाजा लगाने के पीछे दो हेतु हमारे पास है : (1) इस नाटक के उपलब्ध टीकाकारों में से सब से पहले काटयवेम को रखे जाते हैं, और उनका अनुमानित समय 15 वीं शती है। अतः उससे पचास या सौ साल पूर्व में ही देवनागरी वाचना का पाठ संक्षिप्त किया गया होगा। और उस नवीन संक्षिप्त रंगावृत्ति का दाक्षिणात्य पाठपरम्परा ने सद्यः अनुसरण भी किया होगा। (2) जोधपुर की राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से 21422 क्रमांक की एक पुरानी शैली के देवनागरी अक्षरों में लिखी पाण्डुलिपि मिल रही है[9], (जिसका लेखनकाल 1684 विक्रम संवत्, याने 1627 ई.स. है) उसमें काश्मीरी एवं बंगाली वाचनाओं जैसा ही बृहत्पाठ सुरक्षित है। मतलब कि 16वीं शती तक तो देवनागरी पाण्डुलिपियों की परम्परा में भी इस नाटक का बृहत्पाठ भी चल रहा था। अतः देवनागरी के संक्षेपीकरण का काल 14वीं या 15वीं शती से अधिक पूर्व में नहीं माना जा सकता है॥

[6]

देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के साथ अन्य वाचनाओं के पाठान्तरों का संमिश्रण

"देवनागरी वाचना में व्यञ्जनापूर्ण पाठ समुपलब्ध होता है और इसलिए वही मौलिक हो सकता है" ऐसा माननेवाले विद्वान् आज सर्वाधिक है। किन्तु जब इस नाटक की पाठालोचना उच्चतर समीक्षा के मानदण्ड से की गई है, (और उससे ऐसा सिद्ध हो रहा है कि वह संक्षिप्त किया गया पाठ है) तब मालूम होता है कि यह रंगावृत्ति स्वरूप का पाठ है। प्रस्तुत नाटक के देवनागरी पाठ का इस तरह का नया अभिज्ञान प्राप्त करने के साथ एक दूसरी बात भी ज्ञातव्य है। देवनागरी वाचना का पाठ न केवल संक्षिप्त किया गया पाठ है, उसमें तो अन्यान्य वाचनाओं के पाठान्तरों को भी संमिश्रित किया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देवनागरी वाचना का वर्तमान स्वरूप पाठविचलन के चतुर्थ क्रमांक पर खड़ा है। अब पाठान्तरों के संमिश्रण के कतिपय उदाहरण देखेंगे।

(क) प्रथमांक में, काश्मीरी वाचना के पाठ का अनुसरण करते हुए देवनागरी पाठ में "तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः।" वाक्य में प्रकरण शब्द माना है। इसी सन्दर्भ में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में "तत् कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।" ऐसा पाठान्तर है॥

(ख) देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं ने "न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्०" श्लोक का स्वीकार किया है। यह श्लोक मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिया गया है। क्योंकि यह श्लोक काश्मीरी वाचना में नहीं है। (यद्यपि राघवभट्ट ने इस श्लोक पर टीका नहीं लिखी है)।

(ग) द्वितीयांक में, देवनागरी वाचना के पाठ में विदूषक की उक्ति है कि "०तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना"। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं

में तो "स्त्रीरत्नपरिभोगिनः" ऐसा पाठभेद मिलता है। तो यहाँ पर देवनागरी वाचना ने जो पाठ स्वीकारा है वह काश्मीरी वाचनानुसारी है।

(घ) देवनागरी वाचना में राजा की उक्ति है कि किस उपाय से फिर से कण्वाश्रम में जाया जा सकता है ? तो विदूषक कहता है : "को अवरोऽपदेशस्तव राज्ञः।" मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इस सन्दर्भ में "कः अवर अपदेशः। ननु भवान् राजा।" ऐसा सद्यः प्रत्युत्तर दिया जाता है। किन्तु काश्मीरी वाचना में तो विदूषक रंगमंच पर समाधि लगा कर सोचने लगता है। "एष चिन्तयामि, मा खल्वस्यालीकपरिदेवितैः समाधीं भाङ्क्षीः।" अर्थात् इस स्थान में देवनागरी वाचना ने कश्मीरी वाचना के पाठ का अनुसरण नहीं किया है। किन्तु बंगाली पाठ का अनुसरण किया है।

(ङ) तीसरे अङ्क में, शकुन्तला दुष्यन्त में अनुरक्त हुई है ऐसा जान कर प्रियंवदा बोलती है "सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेण अतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।" देवनागरी वाचना में, इसको सुन कर राजा कहते हैं कि "किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।" राजा की इस तरह की उक्ति मैथिली या बंगाली वाचना में नहीं मिलती है। ऐसी उक्ति तो काश्मीरी वाचना में से ली गई है। "किमत्र चित्रम्। यदि चित्राविशाखे शशाङ्कलेखाम् अनुवर्तेते।"

(च) शकुन्तला ने प्रियंवदा को कहा है, "हला, किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।" यह देवनागरी वाचना का पाठ है। यह पाठ मैथिली और बंगाली वाचनाओं में मिलता है, अतः देवनागरी वाचनावालों ने उसे वहाँ से स्वीकारा है। इन सब के प्रतिपक्ष में काश्मीरी वाचना में "हला, अलं वोऽन्तःपुरविहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन।" ऐसा सर्वथा भिन्न पाठ सुरक्षित है।

(छ) चतुर्थांक में, शकुन्तला-विदाय प्रसंग में (देवनागरी पाठ में) कश्यप मुनि ने शकुन्तला को ससुराल में कैसे रहना है उसका उपदेश करते हुए कहा है कि "भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी ।" यह पाठ काश्मीरी वाचना में से लिया गया है। उसके सामने मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में जो पाठ है वह, "भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी" है।

(ज) शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है : "कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये ।"इस तरह का देवनागरी पाठ मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिया गया है। क्योंकि यहाँ जो काश्मीरी वाचना का पाठ है उसमें सर्वथा पृथक् उपमान मिल रहा है। जैसे कि, "कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये ।"

(झ) पञ्चमांक में, राजा ने गौतमी को कहा कि, "तापसवृद्धे, स्त्रीणाम् अशिक्षितपटुत्वममानुषीषु....अन्यै-र्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥" तब उसको सुन कर शकुन्तला रोषपूर्वक कहती है : "अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि" इत्यादि । यहाँ देवनागरी वाचना में दुष्यन्त को जो "अनार्य" शब्द से सम्बोधित किया है, वह मैथिली एवं बंगाली वाचना में से लिया गया है। क्योंकि काश्मीरी वाचना में ऐसा कोई सम्बोधन शकुन्तला ने नहीं किया है।

(ञ) राजा ने निष्ठुरतापूर्वक शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया। शकुन्तला रोने लगती है, तब गोतमी पूछती है : "वत्स शाङ्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु।" देवनागरी का यह पाठ काश्मीरी वाचना में से लिया गया है । क्योंकि मैथिली एवं बंगाली पाठ में शकुन्तला को पुत्रिका शब्द से उल्लिखित नहीं किया है। वहाँ तो "प्रत्यादेशपिशुने भर्तरि किं कुर्याद् तपस्विनी ।" ऐसा तपस्विनी शब्द रखा गया है।

(ट) षष्ठांक में, धीवर कहता है कि, ''०पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।'' देवनागरी वाचना का यह पाठ काश्मीरी में से लिया गया है। काश्मीरी में भी श्रोत्रिय शब्द मिलता है। किन्तु इस स्थान में बंगाली वाचना में ''पशुमारणं करोति दारुणमनुकम्पामृदुलः अपि सौनिकः ।'' ऐसा परिवर्तन करके सौनिक शब्द रखा गया है।

(ठ) देवी वसुमती स्वयं वर्तिका-करण्डक लेकर आ रही है, ऐसा सुन कर विदूषक कहता है कि ''यदि भवान् अन्तःपुरकालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय ।'' देवनागरी वाचना का यह पाठ मैथिली एवं बंगाली पाठों से प्रभावित है । मैथिली में देवी वसुमती के लिए ''अन्तःपुरकूटपाश'' शब्द दिया है। एवं बंगाली में ''अन्तःपुरवागुरातः'' शब्द मिलता है । किन्तु काश्मीरी वाचना में अन्तःपुर की देवी कुलप्रभा ईर्ष्याकषायिता होती ही नहीं है, और उसके लिए विदूषक ने कुछ कहा भी नहीं है।

इन उदाहरणों से इतना स्पष्ट होता है कि देवनागरी वाचना के पाठ को संक्षिप्त कर देने के साथ साथ पूरी नाट्यकृति का जो पाठसम्पादन किया गया है उसमें जगह जगह पर जो पाठान्तर चुने गये हैं, वे कुत्रचित् काश्मीरी वाचना में से संगृहीत किये गये हैं, अथवा कुत्रचित् मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिये गये हैं ॥ कहने का तात्पर्य यह है कि देवनागरी वाचना न केवल संक्षिप्त की गई वाचना है, वह संमिश्रित की गई वाचना भी कहने योग्य है। हाँ, इसके साथ साथ यहाँ अनतिविलम्बेन यह भी कहना आवश्यक है कि देवनागरी वाचना के अज्ञात पाठशोधक ने अपनी स्वतन्त्र सम्पादनदृष्टि भी कार्यान्वित की है। जिसके फलस्वरूप पञ्चम अङ्क का आरम्भ अन्य वाचनाओं से सर्वथा पृथक् ही है। एवमेव, षष्ठांक में अप्सरा का नाम सानुमती दिया है, जो काश्मीरी एवं मैथिली-बंगाली से भिन्न ही है। विस्तारभय से इस चर्चा को रोक लेते हैं। किन्तु देवनागरी वाचना का पुनर्मूल्यांकन करना अतीव आवश्यक है ॥ इति दिक् ॥

[7]

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-आलेख में कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला (अभिज्ञानशकुन्तलम् या अभिज्ञानशाकुन्तलम्) नाटक के पाठविचलन की आनुक्रमिकता प्रस्थापित करने का सप्रमाण परामर्श किया गया है इसमें इस नाटक का प्राचीनतम पाठ काश्मीर की शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है ऐसा दिखलाया है। तथा उस काश्मीरी वाचना में भी परापूर्व से चले आ रहे कुछ प्रक्षेप विरासत में मिले हें ऐसा दिखला कर, यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीनतम होने मात्र से काश्मीरी वाचना के पाठ को ही सर्वथा मौलिक नहीं मानना चाहिए। उसके पाठ को भी उच्चतर समीक्षा से परीक्षण करने की आवश्यकता है॥

काश्मीरी वाचना में से द्वितीय क्रमांक पर मैथिली वाचना निकली है, तत्पश्चात् तृतीय क्रमांक पर बंगाली वाचना को बनाई गई है ऐसा अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया गया है। चतुर्थ एवं पञ्चम क्रमांक पर देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनायें गठित की गई हैं।

इस तरह की आनुक्रमिकता में यह भी देखा जाता है कि कविप्रणीत मूल पाठ क्रमशः बृहत् से बृहत्तर, और बृहत्तर से बृहत्तम बनता गया है। जिसमें तीनों वाचनाओं का पौर्वापर्य भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसा होने के बाद, उस पाठ में भारी कटौती करके देवनागरी वाचना का संक्षिप्त पाठ तैयार किया गया है। अल्प समयावधि में इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ऐसी रंगावृत्तियाँ बनाने की प्रवृत्ति सदैव कार्यरत रहती है। इस संक्षिप्तीकरण के साथ साथ उसमें जिन पाठभेदों को स्वीकारा गया है वे कुत्रचित् काश्मीरी वाचना में से लिये गये हैं, तो कुत्रचित् मैथिली-बंगाली वाचनाओं में से संगृहीत किये गये हैं, याने देवनागरी वाचना न केवल संक्षिप्त वाचना है, उसे संमिश्रित वाचना भी कहनी होगी॥

इस पाठविचलन के क्रम को निम्नोक्त रीति से चित्रबद्ध किया जा सकता है।

पादटीप

1. गुवाहाटी युनिवर्सिटी, गौहत्ती के द्वारा आयोजित अखिलं भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (47अधिवेशन) के पाण्डुलिपि विज्ञान विभाग में (2-4जनवरी, 2015) प्रस्तुत किया गया शोध-आलेख।
2. तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं,
   क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
   हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो,
   निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥ 3-23
3. द्रष्टव्य : अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचनामें संक्षेपीकरण के पदचिह्न। शीर्षकवाला हमारा शोध आलेख "नाट्यम्", अंक - 71-74, (पृ. 27 से 57), संपादक : श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2011-12.
4. Its editor claims that this text represents a Maithili recension of the play but such a fifth recession is not justified by facts. This text belongs to the Bengali-Kashmiri family sometimes leaning towards the Bengali and sometimes towards the Kashmiri. - V. Raghavan, Introduction, p. 3. The Abhijnanasakuntala, Ed. S. K. Belvalkar, Sahity Akademy, Delhi, 1965.
5. द्रष्टव्य : अभिज्ञानशकुन्तलम् (चन्द्रशेखरचक्रवर्तिकृतया सन्दर्भदीपिकया समेतम्), सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, प्रकाशक : राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मीशन, दिल्ली, 2013.
6. इस तरह की असम्बद्धता समान रूप से डॉ. रिचार्ड पिशेल (पृ. 19) एवं डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल (पृ. 223) द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना के समीक्षित पाठों में दृष्टिगोचर हो रही हैं ॥
7. इसके लिए द्रष्टव्य है :- धीमहि। वॉ. 4.2011.
8. क्योंकि नायक-नायिका के नैसर्गिक प्रेमसहचार (संवनन) से पहले ही दुष्यन्त प्रकट शब्दों में शारीरिक सुखभोग की याचना करे, और अनुगामी दो दृश्यों में 1. दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणालवलय पहनावे तथा 2. पुष्परज से कलुषित हुए उसके नेत्र को अपने वदनमारुत से प्रमार्जित कर दे ऐसे प्रसंग बाद में प्रस्तुत हो वह युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे दृष्टि कोण से सोचा जाय तो सखियों की उपस्थिति में भी नायक यदि सहशयन की मांग कर सके तो अनुगामी एकान्त दृश्यावली में बलात्कारपूर्वक भी वह शकुन्तला को प्राप्त करने की चेष्टा करें ऐसे दृश्य आने की ही हम उम्मीद रखेंगे। लेकिन इस अङ्क के उत्तरवर्ती भाग में ऐसा तो कुछ होता नहीं है। अतः इस अङ्क के सभी अश्लील पाठ्यांश प्रक्षिप्त ही सिद्ध होते हैं ॥
9. इस तरह की बृहत्पाठवाली देवनागरी वाचना की अन्य पाण्डुलिपियाँ भी ग्रन्थभण्डारों में हैं ऐसी हमारी जानकारी है। यु.जी.सी. के द्वारा अनुदानित मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट में उसका अन्वेषण अभी चल रहा है।

=o=

अभिज्ञानशकुन्तला की पाठयात्रा
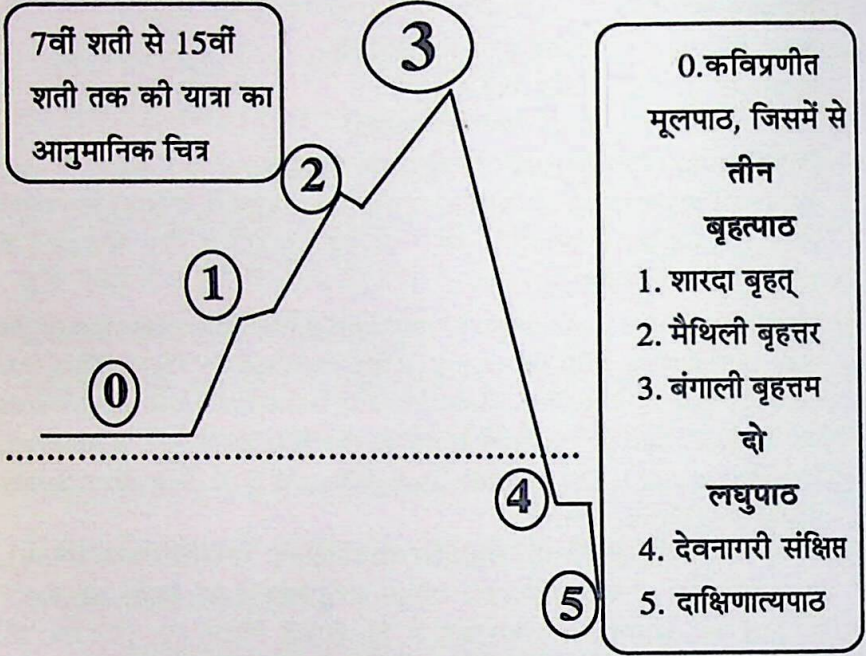
सन्दर्भ ग्रन्थसूचि

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।) राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकया टीकया समेतम्, सं. नारायण राम, प्रकाशकः राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली 2006.
2. अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटकम् ।) मैथिलपाठानुगम्, (शङ्कर-नरहरिकृताभ्यां टीकाभ्याम् अलङ्कृतम्, (सं. रमानाथ झा, प्रकाशकः मिथिला-विद्यापीठ, दरभङ्गा 1957.
3. अभिज्ञानशकुन्तलम् ।) बंगाली वाचनानुसारि, (सं. दिलीपकुमार काञ्जीलाल, संस्कृत कॉलेज, कोलकाता 1980.
4. अभिज्ञानशकुन्तलम् ।) चन्द्रशेखर-चक्रवर्तिनः सन्दर्भदीपिकया समेतम्, (सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, प्रकाशकः राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ली 2013.
5. Kalidasa's Sakntala, the Bangali Recension, Ed. Richard Peschel, Harvard University Press, second edition, 1922
6. Sharda Manuscripts, No. 192, written on Brich bark, & No. 1247, & 159 (from Oxford Uni.), No. 1435 from Shrinagar.

=o=

[7]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का पौर्वापर्य एवं संघटना

0 - 1 भूमिका – महाकवि कालिदास के द्वारा प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का मूल पाठ प्रायः दो हजार वर्ष पहले लिखा गया था। कवि का वह स्वहस्तलेख आज कालग्रस्त हो गया है। लेकिन उसमें से शुरू हुई प्रतिलिपिकरण की सुदीर्घ परम्परा में लिखी गई पाण्डुलिपियों में वह पाठ जिस स्वरूप में विद्यमान है वह सर्वत्र एक समान नहीं है। इन पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहे इस नाटक के पाठ में अनेक पाठान्तर, प्रक्षेप-संक्षेपादि एवं अशुद्धियाँ साफ दिखाई दे रही हैं। इसका अभ्यास करके विद्वज्जगत् ने इतना जाना है कि इस नाटक का पाठ मुख्य रूप से पञ्चविध वाचनाओं में संचरित हुआ है : – 1. काश्मीरी, 2. मैथिली, 3. बंगाली, 4. देवनागरी एवं 5. दाक्षिणात्य ॥

इन सब में उपलब्ध हो रहे विविध पाठान्तरों एवं प्रक्षेपादि का तुलनात्मक अभ्यास करके हमने इस नाटक के मूल पाठ में विचलन-क्रम की क्या आनुक्रमिकता रही होगी उसकी गवेषणा करके यह दिखाया है कि उपलब्ध पाँचों वाचनाओं में से काश्मीरी वाचना ही सब से प्राचीनतम है। इस काश्मीरी पाठ में परिवर्तन एवं प्रक्षेपादि करके मैथिली वाचना का जो पाठ तैयार हुआ है वह द्वितीय क्रमांक पर खड़ा है। तीसरे क्रमांक पर, कुछ नये परिवर्तन करके बंगाली वाचना का पाठ बनाया गया है। इन तीनों में क्रमशः बृहत् से बृहत्तर, एवं बृहत्तर से बृहत्तम पाठ बनता गया है॥ हमने इस विषय की सप्रमाण उपस्थापना "अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठविचलन की आनुक्रमिकता" शीर्षकवाले शोध-आलेख में की है। (द्रष्टव्य : नाट्यम्, सम्पादक श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, अंक – 76, दिसम्बर, 2014, पृ. 26 से 54) ॥ इसमें यह भी बताया है कि देवनागरी वाचना एवं दाक्षिणात्य

वाचनाओं के पाठ में न केवल पाठ-परिवर्तन किये गये हैं, किन्तु उसमें भारी कटौती भी की गई है। अतः हम उसको रंगावृत्ति का पाठ कह सकते हैं। उस आलेख में यह भी दिखाया गया है कि देवनागरी वाचना के पाठ में कुत्रचित् काश्मीरी वाचना का पाठ ग्राह्य रखा गया है, तो कुत्रचित् बंगाली या मैथिली वाचनाओं के भी पाठान्तर स्वीकार्य रहे हैं। (यही स्थिति दाक्षिणात्य पाठ की भी दिख रही है। किन्तु उस शोध-आलेख में यह नहीं बताया है कि देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं का गठन-क्रम क्या रहा होगा ? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने से ही इस नाटक के बृहत् पाठ को रंगावृत्ति में बदलने में किस वाचना के पाठशोधकों का योगदान रहा है, यह हम जान पायेंगे। अतः प्रस्तुत शोध-आलेख में, लघुपाठ वाली दोनों (देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्रथम क्रमांक पर खड़ी है, और कौनसी वाचना दूसरे क्रमांक पर आकारित हुई है ? इस प्रश्न को लेकर विचारणा की जा रही है ॥

0 - 2 देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में साम्य-वैषम्य को देख कर कुछ विद्वानों ने अपने अपने अभिमत प्रकट किये हैं। जैसे कि, 1. काशी के मूर्धन्य विद्वान् श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने ''कालिदास ग्रन्थावली'' (द्वितीय संस्करण, 1986) की प्रस्तावना में लिखा है कि उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल के सम्पादन में देवनागरी वाचना के पाठ को स्वीकारा है, और यह वाचना दाक्षिणात्य वाचना के साथ 90 प्रतिशत साम्य रखती है[1]। किन्तु इन दोनों वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्रथम आकारित हुई होगी ? इस पर किसी भारतीय विद्वान् ने कुछ सोचा हो तो हमें उसकी जानकारी नहीं है ॥ देवनागरी वाचना के शुद्धतर पाठ को सम्पादित करने का जिन्होंने दावा किया है वे प्रोफे. पी.एन. पाटणकर जी ने (1889) कहा है कि डॉ. रिचार्ड पिशेल के मतानुसार[2] ''दक्षिण भारत में संस्कृत नाटकों का संक्षेपीकरण एवं (पाठभेदों के सन्दर्भ में) संमिश्रीकरण भी किया गया है'' । किन्तु शाकुन्तल नाटक के सन्दर्भ में उनका क्या विशेष रूप से कहना है उसकी जानकारी हमारे पास नहीं है। अतः हमें स्वतन्त्रतया इस पर विचार करना होगा ॥

[1]

दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में आन्तरिक सम्भावना

तुलनात्मक अभ्यास के लिए चुनी गई दो कृतिओं में (वाचनाओं में) क्या क्या साम्य है, या वैषम्य है ? इतना ही सामान्यतया देखा जाता है। लेकिन यदि उन दोनों तुलनीय कृतिओं (या वाचनाओं) में ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वापर भाव भी ढूँढा जायेगा तो किसी भी तरह के सुधार का यश किस कृति को दिया जाय, या बिगाड का उत्तरदायित्व किसका है वह भी निश्चित किया जा सकता है। पाठालोचना के क्षेत्र में, ऐसा प्रयास बहुत कम हुआ है, या नहीं के बराबर किया गया है ॥ किन्तु प्रतिलिपिकरण का एवं पाठ–परिवर्तन के सोपानों का हमारे पास कोई दस्तावेजी या पुरातत्त्वीय प्रमाण ही नहीं है। तब यह कैसे निश्चित होगा कि किस वाचना का पाठ पहले आकारित हुआ है और किसका पाठ बाद में संगठित हुआ है ? यह आशंका एक दम सही है। क्योंकि किसी भी पाठ्यकृति में हुए पाठपरिवर्तन का किसी भी तरह का साक्ष्य आज हमारे पास नहीं है। तथापि हम कुछ ऐसे तर्कसंगत प्रमाण जरूर सोच सकते हैं कि किस वाचना का पाठ समयानुक्रम में पहले हो सकता है, और किस वाचना का पाठ दूसरे क्रम में तैयार किया गया होगा। विशेष रूप से कालिदास जैसे प्रबुद्ध महाकवि के विषय में हम कह सकते हैं कि यह कवि ऐसे हैं कि जो पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत पाठ लिखनेवाले कवि हैं। अतः कालिदास की प्रस्तुत नाट्यकृति में जहाँ पर भी दो या तीन (या इससे भी अधिक) तरह के प्रक्षेप एवं पाठान्तर प्रचलित हो चूके हैं वहाँ जो पाठान्तर प्रकरण–संगति की दृष्टि से सटीक एवं आन्तरिक सम्भावना–युक्त सिद्ध होगा वही पाठ मौलिक हो सकता है। और जो पाठ मौलिकता के नज़दीक प्रतीत होगा वही प्राचीनतम भी कहलायेगा, यह बात भी निर्विवाद है ॥ इस चर्चा के अनुसन्धान में निम्नोक्त उदाहरण विचारणीय हैं :-

1. प्रथम अंक के अन्त भाग में, (देवनागरी वचाना में) राजा की उक्ति है : "(आत्मगतम्) अहो धिक्, पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनम् उपरुन्धन्ति ।"
   इसके प्रतिपक्ष में, दाक्षिणात्य वाचना में राजा की उक्ति में ऐसे शब्द हैं :

''(आत्मगतम्) अहो धिक्, **सैनिका** मदन्वेषिणस्तपोवनम् उपरुन्धन्ति।'' यहाँ मृगया-प्रसंग में राजा दुष्यन्त अपने सैनिकों को लेकर आया है, यह बात पहले कही गई है। इस समय हस्तिनापुर का नरेश दुष्यन्त सुदूर हिमालय की उपत्यका में आये हुए कण्वाश्रम में है। तथा नेपथ्योक्ति से कहा भी है कि ''भो भोस्तपस्विनः! सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।'' इस सन्दर्भ में, दुष्यन्त को ढूँढने के लिए उनके सैनिक ही यहाँ आ सकते हैं, हस्तिनापुर के पौराः (पुरवासी लोग) यहाँ क्यूं आयेंगे ? मतलब कि देवनागरी वाचना का पाठ पूर्वापर सन्दर्भ में बीलकुल विसंगत और अमौलिक सिद्ध होता है॥

2. दूसरे अंक के अन्तभाग में, कण्वाश्रम के दो शिष्य राजा को बिनती करने के हेतु आते हैं। राजा को दूर से ही देख कर वे प्रशंसा में एक-एक श्लोक प्रस्तुत करते हैं। यहाँ दाक्षिणात्य वाचना के अनुसार द्वितीय शिष्य कहता है :-

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरयुवतयः त्यक्तभोगा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे॥

(2.15)

किन्तु देवनागरी वाचना में, इस श्लोक में एक पाठभेद है :-

०आशंसन्ते सुरयुवतयः बद्धवैरा हि दैत्यैरस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे॥

इसमें कहा है कि सुरयुवतियाँ इन्द्रसखा दुष्यन्त के विजय की कामना करती है। वे सुर-युवतियाँ कैसी ? यह कहने के लिए दाक्षिणात्य वाचना के श्लोक में ''त्यक्तभोगाः'' ऐसा एक विशेषण रखा गया है। दूसरी ओर देवनागरी वाचना में पाठभेद करके सुरयुवतिओं के लिए ''बद्धवैराः'' विशेषण दिया गया है। अब इन दोनों में से कौन सा विशेषण कवि ने लिखा होगा ? यह विचारणीय है। सुरयुवतियों ने दैत्यों के साथ वैर बाँध लिया है, इस लिए वे दुष्यन्त के धनुष्य के विजय की कामना करती हैं - ऐसा कहना तो ठीक नहीं लगता है। प्रत्युत, सुरयुवतियाँ को भोगों का त्याग करना पड़ रहा है, (क्योंकि

सुरों और असुरों के बीच सदैव संग्राम होता रहता है, और वे भोगों से वंचित हो जाती हैं।) इसलिए वे दुष्यन्त के विजय की कामना करती हैं, ऐसा कहना ही समुचित होगा। मतलब कि उपर्युक्त दोनों पाठभेदों में दाक्षिणात्य वाचना का पाठ ही आन्तरिक सम्भावना के युक्त है। तथा देवनागरी वाचना का पाठ सुसंगत नहीं है।

3. तृतीयांक में, मदनसंतप्ता शकुन्तला कुसुमास्तरण पर लेटी हुई है और दुष्यन्त की प्राप्ति के बिना वह मर जायेगी ऐसा अपनी सहेलियों से बताती है तब (दाक्षिणात्य पाठ में) दोनों सहेलियों की जनान्तिक उक्तियाँ निम्नोक्त स्वरूप में रखी गई हैं :-

प्रियंवदा - (जनान्तिकम्) अनसूये, दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तस्माद् युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।

अनसूया - (जनान्तिकम्) सखि, यथा भणसि। (प्रकाशम्) सखि, दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कस्मिन् वा महानद्यवतरति।

प्रियंवदा - को वेदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लविताम् अर्हति।

राजा - किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।

यहाँ अनसूया प्रियंवदा का जो सुझाव है उसको जनान्तिक उक्ति से पहले सहमति प्रदर्शित करती है। तदनन्तर प्रकाशोक्ति से शकुन्तला को उद्देश्य करके उसके प्रेम-प्रसंग का अभिनन्दन करती है। यहाँ वह शकुन्तला को महानदी और दुष्यन्त को सागर की उपमा देती है। तब उसीके अनुसन्धान में प्रियंवदा भी दुष्यन्त-शकुन्तला के लिए सहकार और अतिमुक्त-लता का उपमान प्रयुक्त करती है॥ अब, इस तरह की दाक्षिणात्य वाचना की योजना से भिन्न जो स्थिति देवनागरी पाठ में मिल रही है, उसको देखते हैं :-

प्रियंवदा - (जनान्तिकम्) अनसूये, दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम्। तस्माद् युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।

अनसूया - (जनान्तिकम्) सखि, यथा भणसि ।

प्रियंवदा - (प्रकाशम्) सखि, दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति । क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ।

राजा - किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ।

इस तरह की योजना में अनसूया की पूरी सक्रियता नहीं दिखती है, क्योंकि उपर्युक्त संवादशृङ्खला में, दोनों ही उपमान प्रियंवदा के मुख में ही रखे गये हैं । मतलब कि नायक-नायिका के प्रेमप्रसंग को आगे बढ़ाने में प्रियंवदा ही अधिकतर सक्रिय है ऐसा चित्र उभर कर हमारे सामने आता है ॥ एवमेव मंचन की दृष्टि से इन पाठभेदों को देखा जाय तो भी लगेगा कि दाक्षिणात्य पाठ ही ज्यादा नाट्यक्षम सिद्ध होता है । तथा आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से समीक्षा की जाय तो, यहाँ राजा की जो अनुगामिनी उक्ति है वह तभी यथार्थ सिद्ध होगी कि जब एक उपमान का प्रयोग अनसूया के द्वारा किया गया हो, और दूसरा उपमान प्रियंवदा के द्वारा उच्चरित हो । मतलब कि दोनों सहेलियों के मुख में जब एक-एक उपमान रहेगा तब ही उन दोनों के लिए चित्रा-विशाखा नामक नक्षत्रयुग्म का उपमान, एवं "अनुवर्तेते" जैसे क्रियापद में द्विवचन का प्रयोग चरितार्थ हो सकेगा ॥

4. षष्ठांक के धीवर-प्रसंग में से एक सन्दर्भ लेते हैं :- धीवर ने दुष्यन्त-नामधेयांकित अंगुलीयक कहाँ से मिला था उसका जो विवरण दिया था, वह प्रामाणिक सिद्ध होता है । परिणामतः राजाज्ञा से उसे बन्धन में से मुक्त किया जाता है । इस प्रसंग में दाक्षिणात्य वाचना का पाठ निम्नोक्त है :-

द्वितीयः - एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः । (इति पुरुषमुन्मुक्तबन्धनं करोति)

पुरुषः - (स्यालं प्रणम्य) भट्टा तुम्ह केलए मे जीविदे । (भर्तः, युष्मदीयं मे जीवितम् ।)

स्यालः - एष भर्त्रा अङ्गुलीयक-मूल्य-सम्मितोऽर्थः पारितोषिकः प्रदापितः । (इति पुरुषायार्थं प्रयच्छति)

यहाँ पर धीवर के द्वारा प्राप्त हुई अंगूठी को देख कर राजा की जब शापनिवृत्ति हो जाती है और उसे शकुन्तला का स्मरण होता है तब वह प्रसन्न हो जाता है। इस लिए राजा ने धीवर को बन्धन से मुक्त कर देने की आज्ञा की है। नगर-रक्षकों की दृष्टि में धीवर बड़ा भाग्यवान् है, क्योंकि वह आज यमसदन जा कर भी वापस आया है ! इसको सुन कर धीवर राजस्यालक को नमस्कार करता हुआ कहता है कि यह तो आपकी ही कृपा है कि मैं जीवित रह पाया हूँ। अब स्याल राजा के द्वारा प्रेषित धनराशि पारितोषिक के रूप में धीवर को देता है। आगे बातचीत करते हुए स्याल ने यह भी कहा कि इस अंगुलीयक को देख कर राजा के नेत्र अश्रुपूर्ण हुए थे । लगता है कि राजा को कोई अपनी अभिमत व्यक्ति की याद आई थी। तब सूचक नामका नगररक्षक कहता है कि तभी तो आपने (स्याल ने) राजाजी की सेवा ही की है। स्याल स्पष्ट करता है कि सच कहें तो यह सेवा तो इस माछीमार ने ही की है। इतना बोल कर स्याल तुरंत धीवर की ओर असूया से देखने लगता है । तब धीवर सद्यः ही अपने पारितोषिक की राशि में से आधा भाग निकाल कर स्याल के हाथों में सुप्रत करता है, तथा कहता है कि मेरी वध्यमाला बनाने के लिए आपके संकल्पित पुष्पों का जो मूल्य हो सकता उसे लिजीए। यहाँ स्याल ने माछीमार की ओर असूया करते हुए जो दृष्टिपात किया था, उसका तात्पर्य समझ कर ही धीवर ने गभराहट में अपने पारितोषिक का आधा भाग दे दिया है॥ इस प्रसंग से धीवर की दयनीय दशा का ही अंदाजा आ रहा है। राजा ने ही उसको बन्धन से मुक्त करने का आदेश दिया था, फिर भी वह डर का मारा हुआ स्याल के प्रति अपनी कृतज्ञता कृतक रूप से प्रकट करता हुआ, "आपके कारण मैं जिन्दा रहा हूँ" ऐसा कहता है । तथा आगे चल कर, राजा के द्वारा ही दिये गये पारितोषिक में से आधा स्याल को भेट कर देता है, क्योंकि स्याल ईर्ष्याग्रस्त हो कर उसकी ओर देखता है। और देखने मात्र से वह गभरा जाता है।

ऐसी दयनीय दशा के वर्णन के विरुद्ध, कुछ और ही चित्र देवनागरी वाचना के पाठ में से मिलता है। जैसे कि, पुरुष (याने धीवर) की उक्ति में

सर्वथा नवीन पाठान्तर उपलब्ध हो रहा है :- "पुरुषः - भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे। (भर्तः, अथ कीदृशो मे आजीवः।") जब राजाज्ञा से धीवर (माछीमार) को बन्धन से मुक्ति मिलती है तब वह नगर-रक्षकों से पूछता है कि अब आपको मेरी आजीविका कैसी लगती है ? मतलब कि देवनागरी वाचना का माछीमार स्याल को एवं नगर रक्षकों को मौका मिलने पर टोना भी मार सके इतना हिम्मतवाला है। यहाँ वह दयनीय या किसी भी तरह की गभराहटवाला नहीं दिखता है ॥ किन्तु देवनागरी वाचना का इस तरह का पाठ पूर्वापर में सुसंगत सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि माछीमार ने जब जान लिया है कि मेरे पर अब राजाजी का अनुग्रह, उनका वरदहस्त आ गया है, जिसके कारण वह स्याल को टोना भी मार सकता है। तो ऐसी हिम्मत दिखानेवाला माछीमार आगे चल कर अपने पारितोषिक का आधा भाग स्याल के हाथों में थमा दे यह नामुमकीन है॥ अतः देवनागरी की अपेक्षा से दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में ही आन्तरिक सम्भावना दिखती है। ऐसा पाठ ही प्रामाणिक एवं मौलिकता के नज़दीक होगा। तथा जो पाठ मौलिकता के नज़दीक है वही पाठ प्राचीनतर भी सिद्ध होता है ॥ देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने यह नया पाठान्तर सर्व प्रथम दाखिल किया है, अतः उसका अन्यान्य वाचनाओं में कहीं पर भी दर्शन नहीं होता है। मतलब कि इस दूषित पाठान्तर को जन्म देने में केवल देवनागरी वाचना के पाठशोधकों का ही कर्तृत्व रहा होगा ॥

5. सप्तमांक में, दुष्यन्त स्वर्गलोक से वापस आ रहा है तब सारथि मातलि के साथ बातचीत करता है। दुष्यन्त यह जानना चाहता है कि तरह तरह के वायुमार्गों में से हम किस मार्ग से गुजर रहे हैं ?

"राजा - मातले, आसुरसम्प्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन् मरुतां पथि वर्तामहे ॥"

यह दाक्षिणात्य वाचनानुसारी पाठ है। उसके सामने राघव भट्टानुसारी देवनागरी वाचना के पाठ में एक पाठान्तर इस तरह का मिलता है :-

''राजा - मातले, आसुरसम्प्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतरस्मिन् मरुतां पथि वर्तामहे ॥''

यहाँ ''कतरस्मिन्'' एवं ''कतमस्मिन्'' ऐसे दो पाठान्तर उपलब्ध हो रहे हैं। अतः प्रश्न होगा कि राजा दुष्यन्त ''(कतर=) दो वायुमार्गों में से किस (एक) मार्ग से हम गुजर रहे हैं ?'' पूछना चाहते हैं कि ''(कतम=) तीन या तीन से अधिक वायुमार्गों में से किस मार्ग से हम गुजर रहे हैं ?'' यह पूछना चाहते हैं। महाकवि ने मूल में इन दोनों पाठान्तरों में से किस शब्द को लिखा होगा, यह हमारी जिज्ञासा है। देवनागरी पाठ के प्रमुख टीकाकार राघव भट्ट ने आवह-आदि सप्त वायुमार्गों की हमें जानकारी दी है, और उस सन्दर्भ में लिखा है कि ''मरुतां पथि वायुस्कन्धे। तत्र सप्त वायुस्कन्धा आवहादयः। तन्मध्ये कतरस्मिन् मरुतां स्कन्धे वर्तामहे। (पृ. 234) अर्थात् राघव भट्ट ने तो ''कतरस्मिन्'' शब्द को ही मान्यता दी है। किन्तु यदि वायुस्कन्धों की गिनती सात तक पहुँचती है, जिसकी वे स्वयं जानकारी रखते हैं, तो दुष्यन्त ''कतरस्मिन्'' शब्द से दो ही मार्गों के सन्दर्भ में क्यूं प्रश्न करेंगे ? ऐसा उन्होंने सोचा ही नहीं है। यह चिन्त्य है ॥ दूसरी ओर, दाक्षिणात्य वाचना के टीकाकार काटयवेम ने भी सात वायुस्कन्ध होने की बात लिखी है :

आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा।
विवाहाख्यः परिवहः परावह इति क्रमात् ॥
सप्तैते मरुतस्कन्धाः महर्षिभिरुदीरिताः ॥

इस पुराण-प्रोक्त सन्दर्भ के अनुकूल ही उन्होंने ''कतमस्मिन्'' पाठ को मान्यता दी है। जो समुचित प्रतीत हो रही है ॥

इन सभी सन्दर्भों को देख कर, देवनागरी पाठ की अपेक्षा से दाक्षिणात्य वाचना का पाठ आन्तरिक सम्भावनाओं से युक्त पाठ लगता है। अतः वह मौलिकता के नज़दीक तथा प्राचीनतर सिद्ध हो रहा है[3] ॥

[2]

देवनागरी वाचना के पाठ में विशदीकरण एवं विस्तारादि

अब, अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की लघुपाठ परम्परा जिनमें उपलब्ध हो रही है उन देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठभेदों का हम तुलनात्मक अभ्यास दूसरे दृष्टिबिन्दु से करेंगे । जैसा कि पहले कहा था, इन दोनों पाठ परम्पराओं में प्रायः साम्य है ऐसा सरसरी दृष्टि से देख कर विद्वज्जगत् ने संतोष माना है। तथा जो भी भेदक-अंश है उनकी गम्भीरता को समझने का शायद उपक्रम ही नहीं किया है । किन्तु हम इस नाट्यकृति के पाठान्तरों का केवल तुलनात्मक अभ्यास ही पेश करके वहीं पर रुकना नहीं चाहते हैं। हमारी उम्मीद तो इन दोनों के भेदक-अंशों के स्वरूप को पहचान कर, उन दोनों के पौर्वापर्य का निर्णय करने तक पहुँचना है। इस परिप्रेक्ष्य में, देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने विशदीकरण के आशय से नवीन अंश जोड़े हैं उसका परिचय करना चाहिए । इसके लिए निम्नोक्त उदाहरण द्रष्टव्य हैं :-

(1) प्रथम अङ्क में, प्रियंवदा ने शकुन्तला को राजा के पास से चली जाती हुई रोक लेने के लिए दो घट पानी का ऋण याद दिलाया । (वृक्षसेचने द्वे मे धारयसि ।) तब राजा ने अपनी अंगूठी निकाल कर शकुन्तला को अनृण करने का उपक्रम किया । जिसको देख कर शकुन्तला की दोनों सहेलियाँ अंगूठी पर लिखा हुआ राजा का नाम पढ़ती हैं और परस्पर का मुँह देखने लगती है। तब राजा दुष्यन्त की उक्ति है : "अलमन्यथा सम्भाव्य । राज्ञः परिग्रहोऽयम् ।" दाक्षिणात्य वाचना के इस पाठ में कुछ ज्यादा पाठ्यांश नया जोड़ कर देवनागरी में कहा गया है कि "0 राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं माम् अवगच्छथ ।" यहाँ पर दाक्षिणात्य पाठ में, अर्थबोध करने में जो दुविधा पैदा करने की गुँजाईश संनिहित थी, उसी का पल्लवन करते हुए एक नया अंश जोड़ा गया है। (1. राजा चासौ पुरुष इति राजपुरुषः । तथा 2. राज्ञः पुरुष इति राजपुरुषः । भी हो सकता है। इस तरह राजा

अपनी पहचान देते हुए भी अपने श्रोतृगण को, प्रियंवदा एवं अनसूया को, संदिग्ध अवस्था में ही रखता है।) इस तरह दाक्षिणात्य पाठ्यांश के ही आशय को पुनरुक्त किया जा रहा है॥

(2) द्वितीय अङ्क के आरम्भ में विदूषक की उक्ति है : "अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्यंदिने ग्रीष्म-विरल-पादप-च्छायासु वनराजिष्वाहिण्ड्यते।" यह दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है। इसके सामने देवनागरी पाठ को देखा जाय तो, "अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्ण-विरल-पादप-च्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यते-ऽटवीतोऽटवी।" इन दोनों वाक्यों की तुलना से भी मालूम होता है कि देवनागरी वाचना का पाठ अधिक विस्तृत किया गया पाठ है। (यहाँ हम ऐसी आशंका नहीं करेंगे कि संक्षेप करने के आशय से दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने देवनागरी पाठ में से "अटवीतो अटवी" इतने शब्दों को हटा दिये होंगे। क्योंकि इसी अंक में आगे चल कर हम देखते हैं कि विदूषक ने सेनापति को उद्देश्य कर कहा है : "त्वं तावद् अटवीतोऽटवीं भ्रमन् नर-मांस-लोलुपस्य कस्यापि जीर्ण-ऋक्षस्य मुखे निपतिष्यसि।" इसमें भी "अटवीतोऽटवीम्" जैसे शब्दों का उच्चार किया जाता है। अर्थात् देवनागरी के पाठ में "अटवीतोऽटवीम्" जैसे शब्दों की पुनरुक्ति की गई है। किन्तु दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में एक ही बार "अटवीतोऽटवीम्" जैसे शब्द सुनाई पड़ते हैं। अतः कहना होगा कि यहाँ पर देवनागरी का पाठ प्रक्षिप्तांश युक्त है, जो पश्चाद्वर्ती काल की प्रवृत्ति है॥ तथा दाक्षिणात्य वाचना के "नर-मांस-लोलुपस्य" शब्दों के प्रतिपक्ष में देवनागरी पाठ में "नर-नासिका-लोलुपस्य" ऐसा पाठभेद करके विदूषक की हास्यकारिता बढ़ाई गई है॥

(3) तीसरे अंक के आरम्भ में, (क) शिष्य की उक्ति है कि, तर्हि यत्नादुपक्रम्यताम्। सा हि कुलपतेः कण्वस्यो-च्छ्वसितम्। दाक्षिणात्य

वाचना की उक्ति से कुछ विस्तृत पाठ देवनागरी में मिलता है। जैसे कि, "तर्हि त्वरितं गम्यताम् । सखि, सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम् ।" यहाँ कण्व के लिए "कुलपतेः" के साथ में "भगवतः" जैसा एक अधिक विशेषण भी लगाया गया है ॥ (ख) इसी अंक में आगे चल कर, (दाक्षिणात्य वाचना में) दोनों सखिओं की संयुक्त उक्ति है : "अतः एव निर्बन्धः । संविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति।" किन्तु देवनागरी वाचना में, "अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति।" ऐसा विस्तृत पाठ मिल रहा है ॥ (ग) इस तरह शकुन्तला की उक्ति है : "तद्यदि वाम् अनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षे-रनुकम्पनीया भवामि। अथवा प्रसिञ्चत मे उदकम्"। यह दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है। उनके प्रतिपक्ष में देवनागरी वाचना में "0 अन्यथा सिञ्चतं मे तिलोदकम्" ऐसा परिष्कृत पाठ उपलब्ध होता है ॥

(4) चतुर्थांक में, कन्याविदाय के प्रसंग में कण्व की उक्ति है : "वत्से, त्वमिदानीम् अनुशासनीयासि। वनौकसोऽपि सन्तो लोकज्ञा वयम्।" यहाँ दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में हलका सा परिवर्तन करके देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने "0 वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।" ऐसा सरलीकृत पाठ आकारित किया है। तथा सूक्ष्मता से सोचने पर मालूम होता है कि वनौकस शब्द के साथ लोकज्ञ शब्द ही समुचित है ॥

(5) षष्ठांक के धीवर-प्रसंग में, द्वितीय रक्षक की उक्ति है : "एषोऽस्माकं स्वामी गृहीत्वा राजशासनम् इतोमुखं पश्यति। ततस्त्वं गृध्रबलिर्भविष्यसि।" यह दाक्षिणात्य पाठ है। जिसका विस्तार करके देवनागरी वाचना में "0 ततस्त्वं गृध्रबलिर्भविष्यसि, शुनः मुखं वा द्रक्ष्यसि ।" ऐसा पाठ दिया गया है ॥

स्थालिपुलाक न्याय से दिये गए इन उदाहरणों से ऐसा इङ्गित हो रहा है कि दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने इस नाटक का जो संक्षिप्त पाठ पहले

बनाया होगा, उनमें कुत्रचित् छोटे-छोटे नवीन अंश दाखिल करके देवानागरी वाचना का पाठ कालान्तर में तैयार किया गया है, बल्कि तथाकथित रूप से परिष्कृत किया गया है। क्योंकि पाठालोचना का एक अधिनियम ऐसा है कि जिस कृति का सीधा सहज लघुपाठ होता है उसकी अपेक्षा से अलंकृत एवं बृहत्पाठ उत्तरवर्ती काल का होता है[4]। उपर्युक्त उदाहरणों में जैसा दिख रहा है वैसे देवनागरी वाचना का पाठ नवीन प्रक्षिप्तांशो से भरा है, तथा उसमें कहीं कहीं अधिक विस्तार के साथ सरलीकृत या विशदीकृत अथवा संक्षिप्ततर पाठ भी दिया गया है। इस दृष्टि से, वर्तमान में प्रचलित देवनागरी वाचना का पाठ उत्तरवर्ती काल का सिद्ध होता है। तथा उससे पुरोगामी पाठ के रूप में दाक्षिणात्य वाचना का पाठ सिद्ध होता है॥

[3]

श्लोक-संख्या के सन्दर्भ में दो वाचनाओं की तुलना

अब हम अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की श्लोक-संख्या के बिन्दु को लेकर उपर्युक्त दोनों वाचनाओं के पौर्वापर्य को निश्चित करना चाहेंगे। दाक्षिणात्य वाचना में 193 श्लोक हैं। उसके प्रतिपक्ष में, याने देवनागरी वाचना के पाठ में, (जिस पर राघवभट्ट ने टीका लिखी है, उसमें) 191 श्लोक का समावेश किया गया है। यहाँ किस किस श्लोक को लेकर असमानता है वह परीक्षणीय हैं :-

(1) प्रथम अङ्क में वैखानस के मुख में, ''न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्० ।'' यह श्लोक रखा गया है। यद्यपि इस श्लोक पर, दाक्षिणात्य टीकाकारों में पहले और सुप्रसिद्ध टीकाकार काटयवेम (15वीं शती) एवं देवनागरी वाचना पर टीका लिखनेवाले प्रमुख टीकाकार राघव भट्ट (16वीं शती) ने टीका नहीं लिखी है। एवमेव, दाक्षिणात्य वाचना पर टीका लिखनेवाले अन्य टीकाकारों में से चर्चाकार एवं अभिराम ने भी इस श्लोक पर टीका नहीं लिखी है। किन्तु श्रीनिवासाचार्य एवं घनश्याम ने तो इस श्लोक पर टीका लिखी है। इन में से श्रीनिवास तो

यह भी जानते हैं कि प्रकृत श्लोक में "पुष्पराशौ" के स्थान में "तूलराशौ" ऐसा पाठान्तर भी चल रहा है। तथा घनश्याम बताते हैं कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा भी कोई कहता है। याने दाक्षिणात्य वाचना की पुरानी पाठ परम्परा में यह श्लोक समाविष्ट ही नहीं था। केवल उत्तरवर्ती काल में ही इसको स्वीकारा गया है॥

(2) षष्ठांक के आरम्भ में दो उद्यानपालिकाएँ आती हैं। उनमें से परभृतिका नामक प्रथमा के मुख में एक आर्या रखी है :- आताम्रहरितपाण्डुर०। जिस पर राघव भट्ट ने टीका लिखी है। अर्थात् देवनागरी वाचना में यही आर्या प्रचलित है। किन्तु दाक्षिणात्य वाचना के प्रथम टीकाकार काटयवेम ने इसके स्थान पर दूसरे ही शब्दोंवाली आर्या दी है :- चूतं हर्षित-पिककं जीवितसदृशं०। चर्चा टीका के अज्ञात टीकाकार ने काटयवेम से विरुद्ध देवनागरी वाचना के पाठवाली आर्या पर टीका लिखी है। अभिराम एवं श्रीनिवास ने भी "आताम्रहरितपाण्डुर०" पाठ को ही माना है। केवल घनश्याम ने काटयवेम की परम्परा का अनुसरण करते हुए "चूतं हर्षित-पिककं जीवितसदृशं०" वाली आर्या पर टीका लिखी है। लगता है कि दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने उसको दाखिल की होगी, किन्तु दक्षिण में उसका सार्वत्रिक रूप से स्वीकार नहीं हुआ था॥

(3) सप्तमांक के अन्त भाग में, दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में, (भरतवाक्य से पहले) एक श्लोक आता है :- "तव भवतु बिडौजाः०।" काटयवेम, अभिराम, श्रीनिवास एवं घनश्याम ने इस श्लोक पर टीका लिखी है। (सप्तमांक पर चर्चा टीका नहीं मिलती है।) याने दाक्षिणात्य वाचना में यह श्लोक सर्वमान्य बना है। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ में राघव भट्ट के द्वारा इस श्लोक पर टीका नहीं लिखी गई है॥

इस समग्र चर्चा का सारांश यही निकलता है कि, उपर्युक्त तीन श्लोकों में से पहले और तीसरे श्लोकों को गिनती में लेते हैं तो दाक्षिणात्य वाचना में कुल

193 श्लोकों का समावेश हुआ है। इसकी अपेक्षा से देवनागरी वाचना में 191 श्लोक हैं, क्योंकि उसमें ''न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयम्० ।'' एवं ''तव भवतु बिडौजाः० ।'' जैसे दो श्लोकों को हटाया गया है। अतः श्लोक-संख्या के सन्दर्भ में दाक्षिणात्य वाचना की अपेक्षा देवनागरी वाचना का पाठ संक्षिप्ततर है, जो उत्तरवर्ती काल में तैयार की गई है ॥

[4]

देवनागरी के पाठ में मंचनलक्षिता सम्बन्धी क्षतियाँ

देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने उपरि निर्दिष्ट दो श्लोकों को ज्यादा निकाल देने के साथ साथ, अन्यत्र भी कुछ कुछ स्थानों पर से छोटे छोटे गद्य वाक्यों को भी हटा दिया है। जिसके आधार पर भी कह सकते हैं कि देवनागरी वाचना का पाठ संक्षिप्ततर बनाया गया है। ऐसा करने से अनेक स्थानों पर प्रस्तूयमान दृश्य की नाटकीयता में विक्षेप भी पैदा होता है, जिसकी ओर विद्वज्जगत् का शायद ध्यान ही नहीं गया है। उदाहरण के रूप में कहें तो,

(1) प्रथमाङ्क में, भ्रमरबाधा-प्रसंग में (दाक्षिणात्य वाचनानुसारी पाठ में) राजा ने चलापाङ्गां दृष्टिं० । श्लोक से भ्रमर-आक्रान्ता शकुन्तला का वर्णन किया है । उसके बाद शकुन्तला की उक्ति से आरम्भ करके जो संवादशृङ्खला है वह निम्नोक्त है :-

शकुन्तला - सख्यौ, परित्रायेथां परित्रायेथामिमामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानां माम्।

उभे - (सस्मितम्) का वयं परित्रातुम्। दुष्यन्तमाक्रन्द। राजरक्षणीयानि तपोवनानि नाम ॥

इससे कुछ भिन्न योजना देवनागरी वाचना के पाठ में दिख रही है। जैसे कि,

शकुन्तला - न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोप्यागच्छति। हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूयमानाम्।

उभे - (सस्मितम्) का आवां परित्रातुम्। दुष्यन्तम् आक्रन्द। राज-
रक्षितव्यानि तपोवनानि नाम॥

इन दोनों में प्रथम दृष्टि में कोई अन्तर नहीं दिख रहा है। किन्तु प्रस्तुत नाटक में तीनों सहेलियों की समरसता (तादात्म्य) इतनी सुदृढ थी कि जब शकुन्तला पर भ्रमर का भयजनक परिभ्रमण शुरू होवे उसी क्षण अन्य दोनों सहेलियाँ उसको साहाय्य करने सद्यः सक्रिय हो ही जायेगी। अथवा किसी भी तरह की आपत्ति आ जाने पर शकुन्तला तुरंत अपनी दोनों सहेलियों को ही पहले साहाय्य के लिए पुकारेगी। इस दृष्टि से देखेंगे तो दाक्षिणात्य पाठ में ही अपेक्षित योजना सुरक्षित है। इस तरह का कृतिनिष्ठ औचित्य देवनागरी वाचना के उपर्युक्त पाठ में नहीं है। क्योंकि, देवनागरी पाठ में तो शकुन्तला पहले अपने आप ही अकेली भ्रमर का सामना करने लगती है। वह पहले से ही साहाय्य के लिए अपनी सहेलियों को नहीं पुकारती है, जो तीनों के तादात्म्य को देखते हुए अस्वाभाविक लगता है।

(1) द्वितीय अंक में, राजा ने जब मृगया-कर्म में एक दिन का विश्राम घोषित करके सेनापति को वहाँ से रवाना कर दिया तब विदूषक राजा को "चिरं जीव" होने का आशीर्वाद देकर वहाँ से चले जाने का उपक्रम करता है। राजा ने उसको रोक लिया। उसको कहा कि मेरा वाक्य अभी पूरा नहीं हुआ है। विदूषक ने कहा कि आज्ञा दीजिए। यहाँ दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में, निम्नोक्त उक्तियाँ हैं :-

राजा - विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्नायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः - किं मोदकखण्डनेषु।

राजा - यत्र वक्ष्यामि।

विदूषकः - गृहीतः क्षणः।

राजा - कः कोऽत्र भोः।

इसके विरुद्ध देवनागरी वाचना में कुछ संक्षेप करके यही संवाद-शृङ्खला निम्नोक्त रीति से रखी गई है :-

राजा - विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः - किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।

राजा - यत्र वक्ष्यामि। कः कोऽत्र भोः।

इसमें हम देख सकते हैं कि राजा और विदूषक की दो दो उक्तियाँ, जो पृथक् पृथक् रूप से गिनती की जाय तो, (दाक्षिणात्य वाचना में) चार वाक्यों में रखी गई थी है, उसके स्थान में देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने संमिश्रित दो वाक्यों में ही रंगमंच पर प्रस्तुत करने की योजना बनाई है। मंचनलक्षिता की दृष्टि से यह योजना संक्षेपसाधक जरूर है, परन्तु नाटकीयता की घातक ही है॥

(3) पञ्चमांक में, हंसपदिका-गीत के सन्दर्भ में विदूषक को रंगमंच से निवृत्त किया जाता है। तत्पश्चात् कंचुकी राजा के पास जाकर हिमालय की उपत्यका से पधारे तपस्विओं के आगमन का निवेदन करता है। राजा उसे उपाध्याय सोमरात के घर भेज देते हैं और तुरंत प्रतिहारी को बुलाते हैं।

इस सन्दर्भ में, दाक्षिणात्य वाचना का पाठ निम्नोक्त है :-

कञ्चुकी - यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

राजा - (उत्थाय) कः कोत्र भोः।

(प्रविश्य प्रतिहारी)

प्रतिहारी - आज्ञापयतु देवः।

राजा - वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय।

किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ में राजा और प्रतिहारी की उपर्युक्त दो उक्तियाँ ही निकाल दी गई है! वहाँ कञ्चुकी के निष्क्रमण के बाद तुरंत राजा खड़े होकर वेत्रवती को अग्निशरण-मार्ग का निर्देशन करने की आज्ञा करते हैं। परन्तु रंगमंच पर प्रतिहारी पहले से था ही नहीं, या राजा ने पहले उसको बुलाया ही नहीं है!! तो वह कैसे प्रकट होगा ? देवनागरी पाठ को संक्षिप्त से संक्षिप्ततर बनाने की धुन में नाटकीयता को कितनी हानि हो रही है वह किसीने देखा ही नहीं है॥

[5]

दाक्षिणात्य वाचना का मंचनलक्षी योगदान

उपर्युक्त परामर्श में प्रस्तुत किये गये प्रमाणों के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि लघुपाठवाली दो वाचनाओं में से दाक्षिणात्य वाचना कालानुक्रम में पहले आकारित की गई होगी। तथा जो संक्षिप्ततर है वह देवनागरी वाचना सब से अन्त में तैयार की गई होगी। इन दोनों का इस तरह का पौर्वापर्य निश्चित होने पर, इस नाटक का जो लघुपाठ प्रचलन में आया है, (जिसको हम एक रंगावृत्ति का पाठ कह सकते हैं) उसके संग्रथन में दाक्षिणात्य वाचना का मुख्य रूप से क्या क्या योगदान है ? वह भी परिगणित करना होगा :-

(1) काश्मीरी वाचना में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" था। (मतलब कि अभिज्ञानपूर्विका शकुन्तला जिसमें निरूपित की गई है[5] ।) इसको परिवर्तित करके मैथिली वाचना के विद्वान् पाठशोधकों ने "अभिज्ञानशकुन्तलम्" बनाया था[6], उस शीर्षक को दाक्षिणात्य पाठशोधकों ने "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के रूप में परिवर्तित किया है। अर्थात् इस नाटक के प्रतिपाद्य वस्तु में शकुन्तला के पुत्र (शाकुन्तल) के अभिज्ञान को महत्त्व दिया गया है। (इस नाटक की केन्द्रीभूत वस्तु का आकलन विभिन्न कालखण्ड में अलग अलग रूप से होता रहा है, इसका यह प्रमाण है[7] ।)

(2) बंगाली वाचना में 222 श्लोकों का समावेश हुआ है, इस बृहत्तम पाठ में से दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने 191 श्लोकों वाला पाठ सम्पादित किया है।

(3) इस भारी कटौती का केन्द्रीभूत स्थान गान्धर्व-विवाह को वर्णित करनेवाला तृतीयांक है। इस 41 श्लोकोंवाले तृतीयांक में से दो दृश्यों की कटौती करके 24 श्लोकों वाला अंक बनाया गया है। तथा हटाये गये दो दृश्यों में (क) दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, तथा (ख) पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्र को दुष्यन्त अपने बदनमारुत से प्रमार्जित कर देता है इनका समावेश होता है।

(4) पञ्चमांक के आरम्भ में, दृश्यावली का मूल में जो क्रम था उसको भी दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने बदल दिया है। जैसे कि, हंसपदिका-गीत से पञ्चमांक का आरम्भ होता है, तत्पश्चात् कञ्चुकी का प्रवेश एवं वैतालिकों का श्लोकगान रखा गया है। इस परिवर्तन के कारण दुष्यन्त, जिसको हंसपदिका-गीत के आलाप से जननान्तर का सौहृद याद आ गया है, उसको वैतालिकों के श्लोकगान से नवीकृत किया जाता है, एवं उसकी धर्मबुद्धि को जागृत की जाती है। जिससे वह शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर सकता है ॥ इस तरह के परिवर्तन में दाक्षिणात्य वाचना ने काश्मीरी वाचना का आंशिक अनुसरण किया है। परन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं का दृश्य-क्रम (जिसमें राजकार्य से परिश्रान्त हुए राजा को वैतालिकों के गान से नवीकृत किये जाते हैं, और बाद में हंसवतिका का गीत प्रस्तुत होता है। परिणामतः गीत से पर्याकुलित मनवाले राजा को शकुन्तला का प्रत्याख्यान करना पडता है-ऐसी योजना बनाई है, उसको) नहीं स्वीकारा है ॥

(5) समग्र नाटक के प्रारम्भ में, दुष्यन्त को आश्रम-मृग को नहीं मारने के लिए वैखानस के द्वारा चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होने के आशीर्वाद दिये जाते हैं। दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने इसीको एक पद्य में प्रस्तुत किया है। जैसे कि, जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव। पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमवाप्नुहि ॥ इस श्लोक का देवनागरी वाचना में भी स्वीकार हुआ है। तथा रंगमंच पर वैखानस, जो दो शिष्यों के साथ आया है, उन दोनों के द्वारा इसी आशीर्वचन का (एक गद्यवाक्य में) पुनरुच्चारण किया जाता है। इस प्रकार से पूरा दृश्य नाटकीय स्वरूप धारण करता है। क्योंकि इस योजना से दोनों शिष्यों का रंगमंच पर आना अब सार्थक बनता है। यदि बृहत्पाठवाली काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में देखते हैं तो उसमें आशीर्वादात्मक पूर्वोक्त श्लोक नहीं है। (जिसमें रंगमंच पर शिष्य का आना निरर्थक ही लगता है।) अतः यह प्रसंगोचित श्लोक का प्रक्षेप करने का यश दाक्षिणात्य वाचना को देना होगा ॥ इसी तरह से मूल नाटक के तृतीयांक के पाठ में से पूर्वोक्त दो दृश्यों की कटौती करने के बाद, दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने कथाप्रवाह का पुनः सन्धान करने के लिए एक दूसरे श्लोक का भी प्रणयन किया है। वह है :- अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्य

नवस्य षट्पदेन। अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥ इसका स्वीकार देवनागरी वाचना में भी किया गया है, जो अन्य किसी भी वाचना में नहीं मिलता है ॥

(6) षष्ठांक के आरम्भ में, दो उद्यानपालिकायें कामदेवार्चन करने के लिए आम्रमंजरी का अवलोकन करते हुए एक आर्या का गान करती हैं :- आताम्रहरितपाण्डुर जीवित सत्यं वसन्तमासस्य । दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमंगल त्वां प्रसादयामि ॥ (6-2) यह आर्या सभी वाचनाओं में एक समान रूप से मिलती है। किन्तु केवल दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों के द्वारा एक सर्वथा नवीन आर्या बनाई गई है :- चूतं हर्षितपिककं जीवितसदृशं वसन्तमासस्य। षट्चरणचरणभग्नमृतु मंगलमिव पश्यामि ॥ यहाँ अनुमान करने का मन होता है कि इस नवीन आर्या का गान दूसरे ही आलापादि के साथ होता होगा। (दक्षिण के मंचन सम्बन्धी संगीतप्रयोगों की जानकारी मिलने पर ही यहाँ कुछ अधिक प्रकाश डाला जा सकता है।)

(7) पुरोगामी तीन वाचनाओं में राजा की दासी का नाम मेधाविनी था एवं रानी वसुमती की दासी का नाम पिंगलिका था । ये दोनों नाम कालान्तर में परिवर्तित होते गये हैं। बंगाली वाचना में मेधाविनी के स्थान पर चतुरिका नाम लाया गया है। वहाँ पिंगलिका नाम यथावत् बना रहा है। किन्तु दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने इस दूसरे नाम के स्थान पर तरलिका नाम कल्पित कर लिया है। जिसका अनुसरण देवनागरी पाठ में भी हुआ है ॥

(8) इसी तरह से, प्रथम बार दाक्षिणात्य वाचना ने ही राजा, जो संस्कृत भाषा में बोलनेवाला पात्र है, उसके मुख में विदूषक का नाम "माधव्य" नहीं, किन्तु "माढव्य" दाखिल कर दिया है ॥

इस तरह से कालिदास के मूल नाटक की लघुपाठ परम्परा जहाँ से शुरू हुई है ऐसी दो वाचनाओं में से दाक्षिणात्य वाचना का क्रम पहला है। अतः उसको ही इस नाटक के बृहत्पाठ को रंगावृत्ति में परिवर्तित करने का यश देना चाहिए। एवमेव, उस संक्षिप्त किये पाठ को संक्षिप्ततर, विशदीकृत एवं तथाकथित रूप से परिष्कृत करने के आशय से पुनरपि सम्पादित करने का कार्य देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने किया है ॥

[6]

दोनों वाचनाओं में ग्राह्य बनें पाठान्तरों का मूलस्त्रोत

इस नाटक के पाठ को दक्षिण भारत में संक्षिप्त करके सम्पादित किया गया, अतः उसे दाक्षिणात्य वाचना कही जाती है। यद्यपि इस तरह का संक्षेपीकरण करनेवाले पाठशोधक का नाम हमारे लिए अज्ञात ही है, तथापि उसका समय 13वीं शती के आसपास का होगा ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं। क्योंकि तेरहवीं शती के दक्षिणावर्तनाथ ने इस संक्षिप्त पाठ पर ही अपनी टीका लिखी है। यह टीका अद्यावधि अप्रकाशित रही है[8]। काटयवेम ने इस लघुपाठ पर जो कुमारगिरिराजीया टीका लिखी है उसका समय 15वीं शती है। इस टीकाकार के द्वारा स्वीकृत लघुपाठ को हम दाक्षिणात्य वाचना का पाठ कहते हैं, क्योंकि दक्षिण भारत की ग्रन्थ, तेलुगु, नन्दीनागरी, तमिळ, मळयाळम जैसी लिपियों में लिखी गई पाण्डुलिपियाँ एकत्र करके किसी विद्वान् ने उसकी समीक्षित आवृत्ति अद्यावधि बनाई नहीं है। अतः इसके अभाव में, दक्षिण भारत के टीकाकारों में प्रतिबिम्बित दाक्षिणात्य वाचना का अभ्यास करके इसमें जो मुख्य मुख्य परिवर्तन किय गये हैं, उन सब का परिगणन उपरि भाग में किया गया है। इस तरह का लघुपाठ मंचन की दृष्टि से आकर्षक भी सिद्ध हुआ है, क्योंकि इसमें पुरोगामिनी तीनों वाचनाओं के सभी अश्लील श्लोक निकाल दिये गये हैं। देवनागरी वाचना तैयार करनेवाले पाठशोधकों के लिए यह दाक्षिणात्य वाचना का पाठ अनुकरणीय भी बना है॥

किन्तु ऐसा भी नहीं है कि देवनागरी वाचना को तैयार करनेवालों ने दाक्षिणात्य वाचना के लघुपाठ को सर्वांश में ही ग्राह्य रखा है। श्री रेवाप्रसाद जी ने जो कहा है कि ये दोनों वाचनाओं का पाठ प्रायः 90 प्रतिशत आपस में मिलता-जुलता है, वह सही निरीक्षण है। किन्तु जो 10 प्रतिशत भी दोनों में भेद है, उसकी तुलनात्मक समीक्षा करके यह निश्चित करना चाहिए कि इन दो वाचनाओं के पाठान्तरों में जो वैषम्य है, उसमें कितने पाठान्तर कहाँ से लिए गये हैं, अथवा उन लोगों ने स्वतन्त्र रूप से कुछ नवीन पाठान्तरों की उद्भावना भी की है॥ निम्नोक्त उदाहरणों का अभ्यास करने से मालूम होगा कि किस वाचना ने कहाँ से अमुक

पाठान्तर लिया है, और वे कौन से नवीन पाठान्तर है जो अमुक वाचना ने ही सब से पहले दाखिल किये हैं :-

(1) अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दी-पद्य में, दाक्षिणात्य वाचना के पाठानुसार "यामाहुः सर्वभूत-प्रकृतरिति" ऐसा पाठ मिलता है। यदि अन्य चारों वाचनाओं में देखा जाय तो सर्वत्र "यामाहुः सर्वबीज-प्रकृतिरिति" ऐसा पाठ चल रहा है। मतलब कि यह "०सर्वभूतप्रकृति०" वाला पाठभेद दाक्षिणात्य परम्परा में ही आकारित हुआ है ॥ इसी नान्दी-पद्य के चतुर्थ चरण में "प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु" शब्दों में "प्रपन्न" को रखनेवाली वाचना भी दाक्षिणात्य ही है। क्योंकि जो बृहत्पाठवाली तीन पुरोगामी वाचनाएँ हैं उनमें तो "प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नः" ऐसा ही पाठ प्रचलन में रहा है। (यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय एक बात यह है कि दक्षिणावर्तनाथ की जो अप्रकाशित टीका है उसमें तो "प्रसन्नः" पाठ मान कर ही व्याख्या की गई है।)

(2) नान्दी-पद्य के बाद सूत्रधार की एक उक्ति है : "आर्ये, अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । कालिदासग्रथित-वस्तुना नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः ॥" इसमें नाट्यकृति का क्या नाम है (उसका शीर्षक क्या है) ? वह कण्ठतः उच्चरित नहीं है। वह तो नटी की प्राकृत-उक्ति में प्रस्तुत होता है : "णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम णाडअं पओएण अलंकीअदु त्ति।" यह काटयवेम ने स्वीकारा हुआ दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है। जो पाठ काश्मीरी वाचना की शारदा पाण्डुलिपिओं में मिल रहा पाठ है। अर्थात् सूत्रधार के मुख से नाट्यकृति का नाम प्रस्तुत नहीं करने की, तथा सूत्रधार को "आर्यमिश्र" कहने की काश्मीरी पाठपरम्परा को उठा कर दक्षिण भारत के पाठशोधकों ने अपने वहाँ स्वीकार लिया है। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ को जब तैयार किया गया होगा तब उन लोगों ने मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में जैसे नाट्यकृति का नामोल्लेख किया गया है वैसे ही अपनी (याने देवनागरी में) वाचना में भी नाटक का शीर्षक प्रस्तुत कर दिया है। अलबत्त, उस समय देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने "अभिज्ञानशकुन्तलम्" नहीं दिया, किन्तु दाक्षिणात्य

वाचनानुसारी "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" ऐसा दिया है। इस तरह देवनागरी का पाठ संमिश्रित हुआ है उसका पहला प्रमाण मिलता है॥

(3) आश्रम-मृग को नहीं मारने के लिए राजा दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होने के जब वैखानस द्वारा आशीर्वचन दिये जाते हैं तब राजा ने उसके प्रतिभाव में प्रणामपूर्वक कहा कि "प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम्"। इस दाक्षिणात्य वाचना के पाठ का मूल कहाँ है? तो प्राचीनतम काश्मीरी वाचना में "प्रतिगृहीतं तपोधनवचनम्" ऐसा पाठ मिल रहा है। मैथिली वाचना में, "गृहीतं ब्राह्मणवचनमस्माभिः" लिखा है, तथा बंगाली वाचना में "प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचः" कहा है। इन तीनों तरह के पाठान्तरों को देखने से अब निश्चित होगा कि दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने प्रकृत पाठ मैथिली और बंगाली पाठों का अनुसरण करते हुए लिखा है। परन्तु इसी सन्दर्भ में जब देवनागरी पाठ को देखते हैं तो वहाँ "प्रतिगृहीतम्" इतना एक ही शब्द रखा गया है। इसमें तपोधनवचन या ब्राह्मणवचन का निर्देश नहीं है। यह नया (संक्षिप्ततर) पाठान्तर देवनागरी की देन है॥

(4) जलसिंचन कर रही सहेलियाँ आपस में बातें कर रही हैं। वहाँ शकुन्तला की उक्ति है : "अनसूये, अदयपिनद्धेन स्तनवल्कलेन प्रियंवदया दृढं नियन्त्रितास्मि। शिथिलया तावदिमम्।" यह दाक्षिणात्य पाठ है। लेकिन अन्य सभी वाचनाओं में "अनसूये, अतिपिनद्धेन०" ऐसा पाठान्तर मिलता है। मतलब कि दाक्षिणात्य वाचना ने यहाँ एक नये पाठबेद को जन्म दिया है। तथा देवनागरी पाठ ने यहाँ दाक्षिणात्य का अनुसरण नहीं किया है, बल्कि काश्मीरी-आदि अन्य तीन बृहत्पाठवाली वाचनाओं का अनुसरण किया है॥

(5) भ्रमरबाधा प्रसंग में दुष्यन्त जब तीनों सखिओं के सामने प्रकट होता है तब अनसूया की उक्ति है :- "आर्य, न खलु किंचिदत्याहितम्। इयं नः प्रियसखी मधुकरेण आकुलीक्रियमाणा कातरीभूता।" यह दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है। एवमेव, अन्य काश्मीरी-आदि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में भी वही पाठ है। किन्तु जो लघुपाठवाली देवनागरी वाचना है, केवल उसमें "आकुलीक्रियमाणा" के स्थान में "अभिभूयमाना" ऐसा नया पाठान्तर पेश किया गया है॥

(6) शकुन्तला की दोनों सहेलियों ने राजा का परिचय प्राप्त करने के लिए (दाक्षिणात्य वाचनानुसार) तीन प्रश्न किये हैं : "कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलंक्रियते। कतमो वा विरहपर्युत्सजनः कृतो देशः । किं निमित्तं वा सुकुमारोऽपि तपोवनपरिश्रमस्यात्मा पात्रतामुपनीतः ।" इसके विरोध में काश्मीरी वाचना का पाठ देखा जाय तो "कतमं पुनरार्यो वर्णम् अलंकरोति । किं निमित्तं वा सुकुमारेण आर्येण तपोवनगमन–परिश्रमस्यात्मा पात्रीकृतः ।" इस में केवल दो ही प्रश्न किये गये हैं। किन्तु मैथिली वाचना में तीन प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं : "कदरो उण वण्णो अज्जेण अलंकरीअदि । कदमो वा पदेसो विरहपज्जुसुओ करीअदि । किंनिमित्तं अज्जेण कुसुमसुउमारेण अप्पा तवोवणपरिस्समस्स उअणीदो ।" यहाँ राजा दुष्यन्त ने किस प्रदेश के लोगों को विरहपर्युत्सुक किया है, अर्थात् राजा किस देश से पधारे हैं ? यह एक प्रश्न अधिक है ॥ बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने भी मैथिली का अनुसरण करते हुए तीन प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। किन्तु उन्होंने "वर्ण" शब्द को बदल कर, "राजर्षिवंश" शब्द रख दिया है। (इस तरह तीन प्रश्न प्रस्तुत करने की पाठपरम्परा दाक्षिणात्य और देवनागरी दोनों ने समान रूप से अनुसृत की है। तथा इस दोनों ने बंगाली वाचना का अनुसरण करते हुए "वर्ण" शब्द के स्थान पर, "राजर्षिवंश" शब्द स्वीकार लिया है ।) किन्तु तर्कदृष्टि से सोचा जाय तो दोनों सहेलियाँ ने प्रथम क्षण में ही कैसे जान लिया कि यह व्यक्ति किसी राजर्षिवंश का ही है ? क्योंकि सखियों ने दुष्यन्त के साथ बैठ कर बातचीत अभी अभी शुरू ही की है, और शकुन्तला को जलपूर्ण दो घटों के ऋण से मुक्त करते समय राजा ने अपने आपको छिपाने के लिए जो "राज्ञः परिग्रहोऽयम्" कहा है, वह प्रसंग तो बहुत पीछे आनेवाला है। इस उक्ति को देख कर लगता है कि प्रकरण–संगति को देखते हुए काश्मीरी एवं मैथिली का "वर्ण" शब्दवाला पाठ ही मौलिक प्रतीत होता है। यहाँ बंगाली वाचना ने किया ("राजर्षिवंश") पाठभेद अमौलिक सिद्ध होता है। तथा इसके ही अनुसन्धान में कहना होगा कि मैथिली वाचना ने दाखिल किया तीसरा प्रश्न (कतमो वा विरहपर्युत्सजनः कृतो देशः) भी अमौलिक हो सकता है ॥

(7) द्वितीयांक के प्रारम्भ में, विदूषक की उक्ति है : "एष बाणासनहस्ताभिः वनपुष्पमालाधारिणीभिः यवनीभिः परिवृत इत एवागच्छति वयस्यः ।" इस दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में यवनिओं का निर्देश है। जिसका अनुसरण देवनागरी वाचना में भी देखा जा सकता है। ऐसा पाठ काश्मीरी वाचना में से आरम्भ हुआ था, लेकिन बीच में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में से वह शब्द निकाल दिया गया है। अर्थात् इस स्थान में दाक्षिणात्य वाचना ने काश्मीरी पाठ को स्वीकारा है, और मैथिली-बंगाली पाठ को अग्राह्य माना है ॥

(8) विदूषक की प्रथम उक्ति के अन्त भाग में, दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचनाओं के पाठ में "इति प्रवेशकः" ऐसा घोषित किया गया है । लेकिन काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में ऐसा कोई प्रवेशक होने का उल्लेख नहीं है । मतबल कि दाक्षिणात्य परम्परा में ही सब से पहले विदूषक की उक्ति को प्रवेशक के रूप में प्रस्तुत की गई है ॥

(9) गाहन्तां महिषा निपानसलिलम्० । श्लोक में, केवल दाक्षिणात्य वाचना में ही "वराहततिभिः" ऐसा नवीन पाठभेद प्रस्तुत किया गया है । अन्य चारों वाचनाओं में "वराहपतिभिः" ऐसा ही पाठ चल रहा है। एससे मालूम होता है कि देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने यहाँ दाक्षिणात्य वाचना का अनुसरण नहीं किया है ॥

(10) विदूषक ने राजा को "स्त्रीरत्नपरिभाविन्" कहा है। दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचनाओं में यही शब्द है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में राजा को "स्त्रीरत्नपरिभोगिन्" कहा गया है। अतः प्रश्न होता है कि इन दोनों पाठान्तरों में से कौन सा पाठ प्राचीनतम है ? काश्मीरी वाचना में देखने से मालूम होता है कि उसमें "स्त्रीरत्नपरिभाविन्" शब्द है । अतः दाक्षिणात्य वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण किया है ॥

(11) दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे० श्लोक को सुन कर विदूषक ने राजा को कहा : "यद्येवं गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।" यह वाक्य दाक्षिणात्य में भी है और देवनागरी में भी है। किन्तु काश्मीरी

वाचना में "भोः गृहीतपाथेयो भवसि। कथं पुनः पुनस्तपोवनगमनमिति प्रेक्षे।" ऐसा वाक्य है। जिसके अनुसन्धान में राजा बोलता है कि "सखे, चिन्तय तावत् केनोपायेन पुनराश्रमपदम् गच्छामः।" (उसके बाद विदूषक चिन्तन करने के लिए रंगमंच पर समाधि लगाता है) किन्तु मैथिली वाचना ने काश्मीरी वाचना के पाठ को बदल कर, "गृहीतपाथेयो भवान् कृतः तया। अनुरंजितं तपोवनमिति तर्कयामि।" अब बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने कैसा परिवर्तन किया वह भी द्रष्टव्य है: "गृहीतपाथेयः कृतोऽसि तया। तर्हि अनुरक्तं तपोवने त्वम् इति तर्कयामि।" इस वाक्य का जो अन्तिम परिवर्तन किया गया वह दाक्षिणात्य एवं देवनागरी में उपलब्ध हो रहा है। पाँचों वाचनाओं कहीं पर भी समानता नहीं है। जिससे यही फलित होता है कि रंगकर्मिओ ने समय समय पर उस वाक्य में परिवर्तन करने की गुंजाईश देखी है, जिसके साथ साथ विदूषक का आङ्गिक भी वैविध्यपूर्ण बनाया गया होगा ॥

(12) षष्ठांक में, राजा ने विदूषक को कहा कि "वयस्य, उपस्थिता देवी, बहुमान गर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।" तब विदूषक की उक्ति है: "आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुरकलहान्मुच्यते, ततो मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।" इसमें रानी वसुमती के लिए "अन्तःपुर-कलह" शब्द का प्रयोग हुआ है, यह दाक्षिणात्य पाठ है। देवनागरी में पाठभेद करके रानी वसुमती के लिए "अन्तःपुरकालकूट" शब्द रखा गया है। यदि इन दोनों पाठान्तरों का मूल कहाँ है ऐसा सोचा जाय तो, मैथिली एवं बंगाली पाठों को देखना पड़ेगा। उन दोनों में भी रानी वसुमती का आगमन होता है। मैथिली पाठ में "अन्तःपुर-वागुरातः" शब्द का प्रयोग किया गया है। इन दोनों को देखने से मालूम होता है कि दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने यहाँ काश्मीरी वाचना के पाठ का अनुसरण नहीं किया है। क्योंकि एकमात्र काश्मीरी वाचना में इस तरह का निरूपण नहीं है। उसमें रानी कुलप्रभा ने मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक नहीं छिन लिया है, बल्कि वह ईर्ष्याग्रस्त स्पर्धा का कार्य तो दो दासिओं तक ही सीमित है। उसमें पिंगलिका ने मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिना कर राजा के पास

पहुँचाने की बात सोची है। मतलब कि काश्मीरी वाचना में राजा दुष्यन्त की पूर्वपरिणीता पत्नी को बहुमानगर्विता या ईर्ष्याकषायिता के रूप में वर्णित नहीं की है॥

प्रस्तुत तुलनात्मक अभ्यास को विस्तारभय से यहीं रोक लेते हैं। किन्तु स्थालिपुलाक न्याय से जितना भी कहा गया है वह हमें निम्नोक्त निष्कर्ष की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त है॥

[7]

निष्कर्ष

महाकवि कालिदास के इस नाटक का पाठ दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचनाओं में जो प्रवहमान हुआ है वह परस्पर में कैसा पौर्वापर्य रखता है, उन दोनों में अपेक्षाकृत प्राचीनतरता किसमें है, और किसमें अमुक पाठान्तर कहाँ से अवतारित किया गया है, तथा किस वाचना के पाठ की मंचन की दृष्टि से उपादेयता अधिक है उसकी चर्चा हमने देखी। प्रस्तुत विमर्श के उपसंहार में जो ध्यातव्य बिन्दुएँ हमारे सामने आ रहे हैं वह इस तरह के हैं :-

1. देवनागरी वाचना के पाठ की अपेक्षा से दाक्षिणात्य वाचना का पाठ प्राचीनतर है। मतलब कि दोनों वाचनाओं के बीच पौर्वापर्य सोचा जाय तो दाक्षिणात्य वाचना के पाठ का संस्करण पहले तैयार हुआ है, और तत्पश्चात् ही (सब से अन्त में) देवनागरी वाचना का पाठ संग्रथित किया गया है।
2. इस नाटक की बृहत्पाठ परम्परा के (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में) प्रचलित पाठ में भारी कटौती करके, उसको लघुपाठ में परिवर्तित करने का (उसे रंगावृत्ति में परिवर्तित करने का) यश दाक्षिणात्य वाचना के अज्ञात पाठशोधकों को देना चाहिए॥
3. इस दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में विशदीकरण, सरलीकरण एवं विस्तारादि का परिष्कार देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने किया है। जिसमें थोड़ा अधिक पाठ्यांश हटाया गया है। जिसके कारण देवनागरी वाचना का पाठ संक्षिप्ततर बना है॥

4. तथा देवनागरी वाचना में कुत्रचित् तर्कविरुद्ध पाठ्यांश भी प्रचलित किया गया है। ऐसी विसंगतियों से भरा पाठ ग्राह्य रखने से पहले देश-विदेश के सभी विद्वानों को सोचना चाहिए ॥
5. संक्षिप्तीकरण के आायम को छोड कर, छोटे छोटे पाठान्तरों को ग्राह्याग्राह्य रखने में दोनों ने समान रूप से काश्मीरी पाठ को ग्राह्य रखना पसंद किया है, तो कदाचित् बंगाली पाठ को भी अपना लिया है। किन्तु रानी वसुमती के सन्दर्भ में जो अन्तःपुरकालकूट का चित्र खिंचा गया है, उसमें तो इन दोनों लघुपाठवाली वाचनाओं ने मैथिली एवं बंगाली का ही अनुसरण किया है। (जिससे दुर्वासा के शाप रूप अन्तराय के साथ साथ पूर्वपरिणीताओं की ओर से आनेवाले संघर्ष को भी स्थान दे दिया है।) फलतः इन दोनों वाचनाओं के पाठ को संमिश्रित किये गये पाठ के रूप में भी पहचानना चाहिए ॥
6. साथ में यह भी कहना होगा कि देवनागरी पाठ की अपेक्षा से दाक्षिणात्य पाठ में कुत्रचित् नाटकीयता अधिकतर प्रतीत हो रही है ॥
7. प्रस्तुत अभ्यास से निकले इस निष्कर्ष से ऐसा भी प्रश्न खड़ा होता है कि मंचन एवं पठन-पाठन में क्यों हम अनुत्कृष्ट देवनागरी पाठ को सार्ध-शताब्दि से ढो रहे हैं ???

- पादटिप्पणी -

1. I have adopted the first one (Deva-nagari) which corresponds with the fourth = Dakshinatya up to 90%. Kalidasa Granthavali, Ed. Dr. Rewaprasad Dwivedi, Second edition, B.H.U. 1986, Varanasi, (Preface, p. 16)
2. Dr. Richard Pischel's view is "that it is in South India that Sanskrit dramas have been adulterated and abridged." We are not in a position to appreciated the force of this conclusion, as our manuscripts seems to point exactly the opposite way - that it is the Southern copies that have preserved the text generally unadulterated

and unamplified. (Abhijnanashakuntalam, the purer Devanagari text, Ed. P.N. Patankar, Poona, 1889, 1902, preface p. 17)

3. प्रॉफि. श्री पी.एन. पाटणकर ने भी अपने ''शुद्धतर देवनागरी वाचना'' प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ की प्रस्तावना में अनेक उदाहरणों से यह बताया है कि राघवभट्ट के द्वारा पुरस्कृत पाठ अनेक स्थआनों में दूषित हैं और अग्राह्य भी हैं। द्रष्टव्य : श्री पी.एन. पाटणकर की 1902 की द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना का पृ. 16-17.
4. Textus simplicior is earlier than the textus ornatior.[इस अधिनयम के सन्दर्भ में एक विशेष स्पष्टता करनी आवश्यक है। यह अधिनियम रामायण-महाभारत जैसे प्रोक्त-ग्रन्थों के लिए (याने अनेक-कर्तृक रचनाओं के लिए) सब से अधिक सही है। किन्तु नाट्यसाहित्य की कृतिओं के सन्दर्भ में प्रायः ऐसा हुआ है कि कविओं के हाथ से लिखे गये मूल पाठ में, सूत्रधारों के द्वारा कालान्तर में, मंचन की आवश्यकता के अनुसार कटौती की जाती है। अर्थात् नाट्यकृति का पाठ मूल में एक-कर्तृक होते हुए भी, कम से कम द्वि-कर्तृक तो बन ही जाता है। इस अभिज्ञानशाकुन्तल की पाठयात्रा में पहली तीन वाचनाओं में तो बृहत् से बृहत्तर, और बृहत्तर से बृहत्तम पाठ बनने का सिलसिला चलता रहा है। चतुर्थ चरण पर, दाक्षिणात्य वाचना के आविष्कार-प्रसंग में कटौती होना शुरू हुआ है। इस लिए उपर्युक्त चर्चा में, जो लघुपाठवाली दो वाचनायें हैं उन दोनों के सन्दर्भ में ही पूर्वोक्त अधिनियम प्रयुक्त हो रहा है ऐसा हमारा कहने का आशय है॥ (इस अधिनियम के आधार पर काश्मीरी-आदि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं को उत्तरवर्ती काल की कहने का विचार, जो विगत सो-देढसो वर्षों में प्रचलित था, वह सर्वथा त्याज्य है ॥)]
5. इस नाटक में जहाँ भी, जब भी दुष्यन्त को शकुन्तला मिलती है वहाँ उसका किसी न किसी प्रकार का वह पहले अभिज्ञान प्राप्त करता ही है। यदि अभिज्ञान नहीं मिलेगा तो दुष्यन्त उसका स्वीकार नहीं करेगा।
6. अभिज्ञान से स्मृता शकुन्तला जिसमें निरूपित की गई है, ऐसा नाटक।
7. जैसे विदेशी अनुवादकों ने इस नाटक को "the fatal ring", या "the recovered ring" जैसे शब्दों से पहचाना है।
8. द्रष्टव्य : गवर्न्मेन्ट संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट लाईब्रेरी, चेन्नै में संगृहीत आर० 2775 (बी) क्रमांक की पाण्डुलिपि।

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूचि

(1) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकासमेतम्)सं. नारायण राम। प्रकाशक : राष्ट्रिय संस्कृऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी में संगृहीत शारदालिपि में लिखित पाण्डुलिपियाँ,त संस्थान, दिल्ली, 2006। (इसमें देवनागरी वाचना का पाठ है)

(2) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (काटयवेमकृत-कुमारगिरिराजीया-टीकया सहितम्), प्रकाशक : आन्ध्रप्रदेश संस्कृत अकादेमी, हैदराबाद, 1982। (इसमें दाक्षिणात्य वाचना का पाठ है)

(3) अभिज्ञानशकुन्तलम्, सं. पिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रीज, द्वितीय संस्करण, 1922। (इसमें बंगाली वाचना का पाठ है)

(4) अभिज्ञानशकुन्तलम्, सं. रमानाथ झा। प्रका. मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1975। (इसमें मैथिली वाचना का पाठ है)

(5) अभिज्ञानशकुन्तलम्, सं. प्रोफे. पी.एन. पीटणकर, शिरालकर एन्ड कुं. पुना, द्वितीय संस्करण, 1902। (इसमें शुद्धतर देवनागरी वाचना का पाठ प्रस्तुत करने का दावा किया गया है, किन्तु उसमें अनेक स्थानों पर काश्मीरी वाचना के पाठों को संमिश्रित किया है)

(6) अभिज्ञानशकुन्तलम्, सं. डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल, संस्कृत कॉलेज, कोलकाता, 1980। (इसमें बंगाली वाचना का पाठ है)

(7) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (अभिराम-विरचित-दिङ्मात्रदर्शनव्याख्यायया संभूषितम्), प्रकाशक : श्रीवाणी विलास मुद्रायन्त्रालयः, श्रीरंगम्, 1917

(8) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, (घनश्यामकृत-संजीवनाख्यटिप्पणसमेतम्),सं. पूनम पंकज रावळ, प्रका. सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद 1999

(9) अभिज्ञानशकुन्तलम्, (श्रीनिवासाचार्यकृतटीकया सहितम्) निर्णय सागर प्रेस, 1966

(10) अभिज्ञानशकुन्तला, (काश्मीरी वाचना के पाठ का समीक्षित सम्पादन), सं. वसन्तकुमार भट्ट, (मुद्रणाधीन - 2015)

(11) कालिदास ग्रन्थावली। सं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी, प्रका. बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1986

(12) नाट्यम्, सम्पादक : श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, अंक - 76 दिसम्बर, 2014

(13) ऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी में संगृहीत शारदालिपि में लिखित पाण्डुलिपियाँ

=०=

[8]

अभिज्ञानशकुन्तल के मैथिली पाठ का वैशिष्ट्य, मंचन-निमित्त तथा संग्रथन-काल

(कालिदास कैसे विक्रमादित्य से जुड़ गये हैं ?)

भूमिका - महाकवि कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक दो हजार वर्षों की कालावधि को पार करता हुआ हम तक पहुँचा है। लेकिन इस नाटक का कवि-प्रणीत स्वहस्तलेख तो आज कहीं से भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि वह कालग्रस्त हो चूका है। इस संसार में मुद्रणकला का आविष्कार ही करीब देढ़सो से दोसो साल पहले ही हुआ है। अतः कवि के स्वहस्तलेख में से ही अन्य लेखकों के द्वारा दूसरी प्रतिलिपियाँ बनाई जाती रही है। तथा आदिकाल से प्रतिलिपिकरण का कार्य मानवकृत होने के कारण वह सदैव सदोष ही होता था। प्रतिलिपि-कर्ता अनवधान से, अशक्ति से, अज्ञान से, या कदाचित् जानबुझ कर भी कवि के मूल पाठ में विकृति पैदा करता ही है। जब कोई पाठ्यग्रन्थ नाट्य-स्वरूप में होता है तो उसके भाग्य में तो जन्मतः यह लिखा होता है कि प्रतिलिपि-कर्ताओं के उपरान्त नाट्यमञ्चन करनेवाले रंगकर्मी (सूत्रधार) लोग भी उसमें परिवर्तन करेंगे ही। अतः स्थानिक रंगकर्मी लोग किसी भी नाटक के मूलपाठ में मंचन-लक्षी सुविधा को बढ़ाने या नवीन मंचनवैविध्य को आकारित करने के लिए कुछ न कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन या संक्षेपादि करते ही रहते हैं। अतः दो हजार वर्षों के लम्बे कालावधि में फैली इस नाटक के प्रतिलिपिकरण एवं मंचन की परम्परा ने उसको अपने मूल स्वरूप से बहुत कुछ विचलित कर दिया है॥ लेकिन, जिस तरह पाण्डुलिपि बनानेवाला लिपिकर्ता (लहिया) उस प्रतिलिपिकरण का स्थल-काल, किस राजा के शासन में, किसके अभ्यासहेतु उसने अमुक पाण्डुलिपि लिखी है इत्यादि की सूचनाएं भी प्रायः लिखता है। इसी तरह से

स्थानिक सूत्रधार भी अपनी रंगावृत्ति के प्रास्ताविक भाग में कदाचित् मंचनविशेष का सन्दर्भ सूचित करता है। रंगकर्मिओं के द्वारा दी गई ऐसी सूचनाओं को यदि परखी जाय तो नाट्यविशेष के मंचन का इतिहास भी अनावृत हो सकता है॥

आज उपलब्ध हो रही विविध पाण्डुलिपियों से ज्ञात हुआ है कि इस अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का पाठ पञ्चविध वाचनाओं में प्रवहमान हो कर हम तक पहुँचा है। जिसमें से तीन वाचनाओं में इस नाटक का बृहत्पाठ संचरित हुआ है, तथा अन्य दो वाचनाओं में लघुपाठ संचरित हुआ है। उपलब्ध हो रही इन पाँचों वाचनाओं का पौर्वापर्य यदि कोई जानना चाहे तो प्रथम क्रमांक पर शारदालिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में काश्मीरी वाचना का पाठ उपलब्ध होता है, जो सब से प्राचीनतम पाठ है[1]। (काश्मीरी वाचना में इस नाटक का शीर्षक अभिज्ञानशकुन्तला है।), द्वितीय क्रमांक पर मिथिला की लिपि में लिखा हुआ मैथिली वाचना का पाठ प्राचीनतर सिद्ध होता है। बंगाली लिपि में लिखा हुआ बंगाली वाचना का पाठ तृतीय क्रमांक पर तैयार किया गया है, जो प्राचीन है[2]। (मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इस नाटक का शीर्षक अभिज्ञानशकुन्तल है।), किन्तु दक्षिण भारत की ग्रन्थ, मळयाळम, नन्दीनागरी, तेलुगु आदि लिपियों में लिखी गई पाण्डुलिपियों में दाक्षिणात्य वाचना का पाठ मिलता है। यह पाठ अल्पसमयावधि में नाट्यप्रयोग करने के लिए संक्षिप्त किया गया लघुपाठ है, जो चौथे क्रमांक पर आकारित हुआ है। सब से अन्त में पञ्चम क्रमांक पर, देवनागरी वाचना का पाठ बनाया गया है, और जिसका स्वरूप संक्षिप्ततर है[3]। (इन दोनों वाचनाओं में इस नाटक का शीर्षक अभिज्ञानशाकुन्तल है।) लघुपाठवाली इन वाचनाओं में नाटक के मूल पाठ का केवल संक्षेपीकरण ही नहीं किया गया है, परन्तु उसमें जिन पाठभेदों का स्वीकार किया गया है उनको देख कर लगता है कि वे दोनों ही संमिश्रित किये गये पाठवाली भी हैं।

यद्यपि इस नाटक की उपर्युक्त पाँच वाचनायें उपलब्ध हो रही हैं, और उनके संग्रथन-क्रम को देखा जाय तो मैथिली वाचना द्वितीय क्रमांक पर खड़ी है। तथापि इन पाँचों वाचनाओं में से मैथिली वाचना के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के

लिए डॉ. वी. राघवन् जी तैयार नहीं हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि डॉ. वी. राघवन् जी जैसे धुरन्धर विद्वानों ने इस प्रश्न की गहराई में गये बिना ही मैथिली वाचना के स्वतन्त्र अस्तित्व को तिरस्कृत कर दिया गया है। जिसके कारण इस नाटक की पाठयात्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इतिहास अब तक अन्धेरे में ही पड़ा रहा है। हमारे अभिप्राय से डॉ. वी. राघवन् जी का उपर्युक्त विचार कथमपि ग्राह्य नहीं है। अतः उनके मत की पहले आलोचना करनी होगी। तत्पश्चात् प्रस्तुत शोध-आलेख में मैथिली वाचना का वैशिष्ट्य तथा उसके मंचन का गुप्त इतिहास उद्घाटित करना अभीष्ट है। इसके साथ इस वाचना के ग्रथन-काल पर भी विचार किया जायेगा, जिसके कारण कालिदास कैसे विक्रमादित्य के साथ जुड़ गये होंगे ? इसका उत्तर भी मिल जायेगा॥

[1]

सम्पादक श्रीरमानाथ झा जी ने दरभङ्गा से प्रकाशित किये अभिज्ञानशकुन्तल का पाठ स्वतन्त्र रूप से मैथिली वाचना का प्रतिनिधित्व करनेवाला पाठ घोषित किया है, किन्तु डॉ. वी. राघवन् जी ने लिखा है कि हकीकत में ऐसी कोई पाँचवी वाचना का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीरमानाथ झा ने सम्पादित किया यह पाठ तो बंगाली-काश्मीरी कुल की पाठपरम्परा से निकला हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि यह पाठ कदाचित् बंगाली पाठ की ओर झुकता है, तो कदाचित् काश्मीरी पाठ की ओर झुकता है[4]। डॉ. वी. राघवन् जी के इस कथन का गर्भितार्थ ऐसा है कि जो पाठ ''मैथिल पाठानुग'' के नाम से प्रकाशित किया गया है वह तो संमिश्रित किया गया पाठ है, जिसमें कभी बंगाली वाचना के पाठभेद दिखते हैं, तो कदाचित् काश्मीरी के पाठभेद मिल रहे हैं॥ इस तरह का अभिप्राय दो तरह से क्षतिग्रस्त मालूम होता है :- (1) डॉ. वी. राघवन् जी के सामने डॉ. एस. के. बेलवालकर जी का सम्पादित किया हुआ काश्मीरी वाचना का तथाकथित समीक्षित पाठ था[5]। तथा (2) उन्होंने बंगाली एवं काश्मीरी वाचनाओं के पाठों में छिपे या तिरोहित हुए पौर्वापर्य का तो विचार ही नहीं किया है। जब तक बंगाली एवं काश्मीरी (एवं

मैथिली) वाचनाओं के पाठों में निहित पूर्वापरभाव ढूँढा न जाय (निश्चित न किया जाय), तब तक मैथिली पाठ क्यूं कुत्रचित् काश्मीरी की ओर झूकता हुआ दिखता है, तथा क्यूं कुत्रचित् बंगाली पाठ की ओर झूकता हुआ मिलता है ? उसका निर्णय करना सम्भव ही नहीं है। इस दिशा में सोच कर हमने ऐसा प्रतिपादित किया है कि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में से जो शारदा लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ काश्मीरी वाचना का पाठ है वही प्राचीनतम है। अतः उसको प्रथम क्रमांक पर रखना होगा। तदनन्तर, द्वितीय क्रमांक पर मैथिली वाचना का पाठ तैयार किया गया है। तथा तृतीय क्रमांक पर, बंगाली वाचना का पाठ आकारित हुआ है[6]।

इस सन्दर्भ में, यदि वस्तुनिष्ठ बात करनी हो तो पहले काश्मीर की शारदा लिपि में लिखी हुई एकाधिक पाण्डुलिपियों का अवलोकन करना आवश्यक है। तथा मैथिली पाठ का उभयत्र (एक तरफ से बंगाली के साथ, तथा दूसरी ओर से काश्मीरी पाठ के साथ) दिख रहे साम्य का गभीर रहस्य भी हस्तगत करना अनिवार्य है। हमने पहले बताया है कि मैथिली के जिन पाठान्तरों का साम्य काश्मीरी पाठ के साथ है, परन्तु बंगाली पाठ के साथ वैषम्य है वहाँ पर ऐसा अनुमान हो सकता है कि काश्मीरी वाचना के प्राचीनतम पाठ का मैथिली पाठ में अनुसरण हुआ होगा। तथा मैथिली के जिन पाठान्तरों का साम्य बंगाली पाठ के साथ है, परन्तु काश्मीरी पाठ के साथ वैषम्य है वहाँ पर ऐसा अनुमान करना है कि काश्मीरी वाचना के प्राचीनतम पाठ को बदल कर मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने जिन जिन नये पाठभेदों को जन्म दिया होगा, उसका बंगाली पाठ में अनुसरण हुआ होगा। मतलब कि, इस नाटक के मूल कवि-प्रणीत पाठ का प्रथम विचलन काश्मीरी पाठ में देखा जाता है। तदनन्तर दूसरे क्रमांक पर, कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ मैथिली वाचना का पाठ तैयार हुआ होगा। (प्रस्तुत आलेख में यह दिखाना अभीष्ट है कि किस मौके पर यह मैथिली वाचना का पाठ तैयार हुआ होगा।) तथा तृतीय क्रमांक पर, बंगाल के अज्ञात पाठशोधकों ने मैथिली वाचना में हुए परिवर्तन-परिवर्धनादि को ग्राह्य रखने के साथ साथ, अपनी ओर से भी बंगाली

वाचना में कुछ नवीन पाठभेद दाखिल किये होंगे। ऐसा अनुमान अनेक उदाहरणों से सिद्ध भी होता है॥ अतः श्री वी. राघवन् जी के पूर्वोक्त मत के साथ हम सहमत नहीं हो सकते हैं॥

[2]

मैथिली पाण्डुलिपियों में कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं कि जो मैथिल पाठ को एक स्वतन्त्र वाचना के रूप में स्वीकारने के लिए हमें बाध्य कर रही हैं। प्रधान रूप से एक विशेषता तो ऐसी है कि जिसकी ओर डॉ. एस. के. बेलवालकर जी, डॉ. वी. राघवन् जी, या डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल जी आदि पाठालोचक एवं अन्य किसी भी विद्वान का ध्यान नहीं गया है। जैसे कि, षष्ठाङ्क में, राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के चित्र में पूर्णता लाने के लिए अपनी दासी मेधाविनी से वर्तिका-करण्डक मंगवाया है। तब रास्ते में वापस आते समय रानी वसुमती ने ईर्ष्या-कषायिता होकर मेधाविनी के हाथ में से उस वर्तिका-करण्डक छिन लिया। विदूषक ने इस घटना-चक्र को "अन्तःपुर का कूटपाश" ऐसा नाम दिया है[7]। लेकिन, यह जो प्रसंग मैथिली वाचना में है, वह उससे भी प्राचीनतम काश्मीरी वाचना में तो नहीं है। (तथा इस घटना का अनुसरण बंगाली, दाक्षिणात्य एवं देवनागरी आदि सभी वाचनाओं में हुआ है।) मतलब कि यह प्रसंग मैथिली वाचना में ही प्रथम बार प्रक्षिप्त हुआ है। कालिदास ने राजा (नायक) के नवीन प्रेम-प्रसंग में पूर्वपरिणीता रानिओं की ओर से आकारित होनेवाले अन्तरायों (संघर्ष) का प्रदर्शन तो अपने मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय जैसे दो पुरोगामी नाटकों में कर दिया था। अब अभिज्ञानशकुन्तला जैसा नवीन एवं अपूर्व नाटक[8] का प्रणयन करते समय कालिदास ने उस पुराने अन्तरायों का निरूपण करने का मार्ग छोड देने का सोच लिया है। तथा उसी सन्दर्भ में, यदि दुर्वासा-शाप प्रसंग को देखा जाय तो, मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने जो पूर्वपरिणीता वसुमती का अन्तराय उद्भावित किया है वही प्रक्षिप्तांश उसकी प्रधान विशेषता बन जाती है॥ काश्मीरी वाचना के पाठ में, पूर्वपरिणीता रानी (कुलप्रभा) की ओर से ऐसा अन्तराय पैदा नहीं किया

गया है। वहाँ पर तो, राजा की दासी मेधाविनी और रानी का दासी पिङ्गलिका के बीच में (याने इन दो दासिओं के बीच में) ही वर्तिका-करण्डक छिन लेने की घटना प्रदर्शित की गई है। तथा विदूषक के मुख में किसी ''अन्तःपुर कालकूट'' या ''अन्तःपुर वागुरा'' की बात नहीं रखी गई है॥ सारांश यही है कि काश्मीरी वाचना के पाठ में केवल दुर्वासा के शाप का ही अन्तराय निरूपित किया गया है, किन्तु मैथिली वाचना के पाठमें दुर्वासा के शाप के साथ साथ पूर्वपरिणीता रानी की ओर से आये अन्तराय का भी प्रक्षेपण किया गया है। यही प्रसंग मैथिली पाठ को स्वतन्त्र वाचना का दरज्जा दे रहा है॥

मैथिली वाचना के पाठ में गौण रूप से भी कुछ अन्यान्य विशेषताएँ हैं, जो भी महत्त्वपूर्ण है और अन्यान्य वाचनाओं के साथ मैथिली पाठ की तुलना करते समय भेदक तत्त्व के रूप में उल्लेखनीय बनती हैं। इन विशेषताओं का निदर्श के रूप में परिगणन किया जाय तो, (1) इसमें नायक का नाम दुष्मन्त दिया है, (2) काश्मीरी पाठानुसारी नान्दी पद्य में ''या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति विधिहूतं०'' ऐसा पाठ है, किन्तु मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने ''या स्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति विधिहूतं०'' ऐसा परिवर्तन किया है, लेकिन पदक्रम तो काश्मीरी जैसा ही रखा है। उसके सामने बंगाली पाठ में ''या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहूतं०'' ऐसा पदक्रम का भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। (3) मैथिली पाठ में, सूत्रधार कहता है कि ''आर्ये, रसभाव-विशेष-दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद्।'' केवल इस मैथिली वाचना के पाठवाली पाण्डुलिपियों में ही विक्रमादित्य का नाम प्रकट रूप से दे कर कहा गया है कि यह नाटक किस राजा की सभा में अभिनीत किया जा रहा है। (4) केवल मैथिली और बंगाली वाचनाओं में ही प्रत्येक अङ्क का नामकरण किया गया है। तदनुसार, मैथिली पाठ के द्वितीयाङ्क का नाम ''तपोवनानुगमन'' दिया गया है, परन्तु बंगाली पाठ में वही नाम परिवर्तित करके ''आख्यानगुप्तिः'' रखा गया है। (5) मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने काश्मीरी पाठ के श्लोकों का प्रायः अनुसरण करते हुए भी कुल मिला के 11 नवीन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। जो अन्य सभी वाचनाओं की अपेक्षा से सब से अधिक

सङ्ख्या में हैं[9]। तथा उन 11 नवीन श्लोकों में एक "गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो मुनिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥" श्लोक भी प्रथमबार मैथिली पाठ में ही प्रक्षिप्त हुआ है, जिसने पुरुवंश जैसे उत्तमवंश में पैदा हुए धीरोदात्त नायक के प्रेम की गरिमा को नीचे उतार दिया है। (1) अन्त में, भरतवाक्य से पूर्व में, मारीच के मुख में "तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु०" एवं "क्रतुभिरुचितभागांस्त्वं सुरान् प्रीणयालं०" ऐसे आशीर्वादार्थक दो श्लोकों का होना केवल मैथिली वाचना में ही दिखाई रहा है॥ इस तरह के अन्य वैशिष्ट्यों का परिगणन करवाया जा सकता है। किन्तु स्थालिपुलाक न्याय से इतना पर्याप्त है॥

[3]

अब, मैथिली वाचना की जिन पाण्डुलिपियों में विक्रमादित्य की अभिरूप भूयिष्ठा परिषद् का निर्देश है, उनमें उस विक्रमादित्य के लिए "रसभावविशेषदीक्षागुरोः" तथा "साहसाङ्कस्य" जैसे शब्दों से दो विशेषणों का भी प्रयोग क्यूं हुआ है वह भी विचारणीय है। यह विक्रमादित्य कौन है, जिसके लिए साहसाङ्क बिरुद का विनियोग किया गया है ? तो इस जिज्ञासा का शमन संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में बिखरे हुए कुछ सन्दर्भों से हो रहा है। जैसे कि,

(1) बाणभट्ट ने हर्षचरितम् (उच्छ्वास : 6) के अन्त भाग में, प्रमादवशात् किन किन राजाओं की मौत हुई थी उसका परिगणन किया है। वहाँ लिखा है कि "अरिपुरे[10] च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिम् अशातयत्[11]।" और इस पर टीकाकार शङ्कर ने स्पष्टता करते हुए लिखा है कि "शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तस्य भ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीजनपरिवृतेन व्यापादितः।"

अर्थात् (इतिहास-प्रसिद्ध गुप्तवंश में हुए समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र रामगुप्त शकों के साथ लडते हुए उनसे पराजित हुआ। परन्तु राजसत्ता के लालचु उस रामगुप्त ने राज्य वापस लौटाने के लिए अपनी पत्नी ध्रुवदेवी

को शकपति को दे देने का सोदा किया। इस प्रस्ताव से नाराज़ हुए उसके छोटे भाई) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कामिनी का (भ्रातृजाया ध्रुवदेवी का) वेष धारण करके, उस परस्त्री-कामुक शकपति को उसीकी ही शिबिर में जा कर मार डाला था। इस प्रसंग के बाद वह जनसामान्य में "साहसाङ्क" नाम से भी विदित हुआ। [डॉ. रामचन्द्र तिवारी, भोपाल कहते हैं कि यह साहसाङ्क शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख वीं 10शती में हुआ है[12]। लेकिन इस घटना का निर्देश चन्द्रगुप्त - 2 के (ई.स. 380 से 414 ई.स.) समय के बाद, ई.स. 648 में बाणभट्ट ने किया है, वह ध्यातव्य है ॥]

(2) इसी तरह से 12वीं शती के रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में विशाखदेव (विशाखदत्त-?) के देवीचन्द्रगुप्त नाटक से सात उद्धरण दिये हैं, उनमें भी इसी घटना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। उदाहरणतया, (क) यथा देवीचन्द्रगुप्ते - "राजा (चन्द्रगुप्तमाह) - त्वद्दुःखस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा।, ध्रुवदेवी - (सूत्रधारीम् आह) - हञ्जे, इयं सा ईदृशी अज्जउत्तस्स करुणापराहीणदा।, सूत्रधारी - देवि, पडंति चंदमंडलाउ वि चुडुलीउ किं एतु करिम्ह। (देवि, पतन्ति चन्द्रमण्डलादपि उल्काः। किमत्र कुर्मः। - इति संस्कृतम्) राजा - त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह। परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे ॥, ध्रुवदेवी - अहं पि जीविदं परिच्चयंती पढमयरं य्येव तुमं परिचइस्सं।" अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययात् ध्रुवदेव्या गुरुमन्यन्तापरूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्तिः[13] ॥" (ख) यथा देवीचन्द्रगुप्ते - "चन्द्रगुप्तः - (ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह) इयमपि देवी तिष्ठति। यैषा, रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां, तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला। पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतो, लज्जा-कोप-विषाद-भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति[14] ॥" (ग) नाट्यदर्पण में एक स्थान पर चन्द्रगुप्त के लिए "दर्शितसाहसः" ऐसा शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

(3) भोज ने भी शृङ्गारप्रकाश में देवीचन्द्रगुप्त नाटक से एक उद्धरण दिया है : चन्द्रगुप्तो विदूषकं प्रति - सद्वंश्यान् पृथुवंश-विक्रमबलान् हत्वोद्धतान् दन्तिनो हिंस्रस्याथ गुहामुदभिमुखं निष्क्रामतः पार्वतात् । एकस्यापि विधूतकेसरसटाभारस्य भीता मृगा गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया ॥ (अर्थात् विदूषक जब स्त्रीवेष में अन्य सैनिकों को भी साथ में ले जाने का प्रस्ताव रखता है, तब चन्द्रगुप्त कहता है कि प्रचंड देह एवं दन्तशूलवाले हाथियों की अवहेलना करते हुए और गुहा से बाहर निकलते हुए केसरी (सिंह) की गन्ध मात्र से ही सभी मृग इधर उधर भाग जाते हैं। ऐसी स्थिति में जो एकल शूरवीर होता है उसको अन्यों की साहाय्य की क्या आवश्यकता है ?)

(4) राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वृत्तेतिवृत्त अर्थात् ऐतिहासिक वस्तु का एक मुक्तक का निदर्श दिया है। उसमें इस देवीचन्द्रगुप्त का श्लोक लिखा है : दातुं (दत्त्वा) रुद्धगतिः शका (खशा)धिपतये देवीं ध्रुवोपाधिकां (ध्रुवस्वामिनीं) यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीराम(शर्म) गुप्तो नृपः । तस्मिन्नेव हि रैवते (हिमालये) गुरुगुहाकोणक्वणत्-कीचके (किंनरे) । गीयन्ते बत ते (भवतः) कुमार (तव कार्तिकेय) शबर (नगर) स्त्रीणां गणैः कीर्तयः ॥ श्री केशव हर्ष ध्रुव जी कहते हैं कि राजशेखर ने यह श्लोक कहाँ से लिया है वह नहीं बताया है । लेकिन रामगुप्त (शक) शत्रुओं से पकडा गया, उसका साहस निष्फल हो गया तब उसने अपनी रानी को देने का सोदा किया । ऐसा होने पर वह शत्रुओं के हाथ से छुट पाया । फिर कुमार चन्द्रगुप्त ने उस कलंक को अपने साहस से धो दिया, तब गिरिनगर (जूनागढ जिला, गुजरात) की पुरांगनाओं ने मिल कर उसके (चन्द्रगुप्त) के यश का रासगान किया - इस मतलब का यह श्लोक है[15] ॥

(5) राजशेखर ने काव्य मीमांसा में ऐसा भी कहा है कि, "वासुदेव-सातवाहन-साहसाङ्कादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात् । श्रूयते हि

उज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा। तेन संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एव प्रवर्तितं नियमन्[16] ॥''

इस तरह संस्कृत साहित्य में पौनःपुन्येन उल्लिखित इस घटना-चक्र की स्वीकृति अपरिहार्य है[17]। तथा चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त को यदि पराक्रमांक कहा गया हो तो, पूर्वोक्त घटनाचक्र के बाद प्रजामानस ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को साहसाङ्क का बिरुद दिया हो तो वह स्वाभाविक प्रतीत होता है। जिसने कालान्तर में मालवा - उज्जयिनी - में भी जाकर शकों को परास्त करके अपने को विक्रमादित्य घोषित किया था। उसकी राजसभा में जब कालिदास का यह नाटक, कुछ नवीन प्रक्षेप एवं परिवर्तनादि के साथ प्रस्तुत किया गया होगा तब उस मौके पर सूत्रधार के मुख में (वहाँ की मैथिली पाण्डुलिपियों में) ''आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरो-र्विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्'' ऐसी बिरुदावली सहित के शब्दों का विनिवेश होना नामुमकिन नहीं है॥

कहने का तात्पर्य यही है कि, चन्द्रगुप्त द्वितीय के (चौथा शताब्दी के) समय में कालिदास पैदा नहीं हुए थे। बल्कि उस समय तो कालिदास के इस नाटक के पाठ में परिवर्तन-परिवर्धनादि करके मगध की या उज्जयिनी की रंगभूमि पर उसका मंचन हुआ होगा। इस नवीनतम मैथिली संस्करण के मंचन के मौके पर ''विक्रमादित्य एवं साहसाङ्क'' ऐसे दो बिरुदों वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए ''रसभाव-विशेष-दीक्षा-गुरोः'' जैसे विशेषण का उपयोग करना भी बीलकुल समुचित लगता है। क्योंकि उन्होंने जब शकपति की हत्या करने के लिए स्त्रीवेष में ध्रुवदेवी बन कर शत्रु-शिबिर में जाना था तो उन्होंने उसके लिए आहार्य और आङ्गिक, तथा वाचिक अभिनय की विशेष तालीम भी ली होगी। एवमेव, जैसा टीकाकार शङ्कर ने लिखा है वैसे वह चन्द्रगुप्त अपने साथ कुछ सैनिकों को भी स्त्रीवेष पहनाकर, उन लोगों से परिवृत्त हो कर निकला था। तो उन सैनिकों को भी विशेष आहार्य-आङ्गिकादि अभिनयन की तालीम उसीने स्वयं दी होगी। यह बात स्वाभाविक तया अनुमान-गम्य है[18]। एवमेव, ऐसा अनुमान करने पर ही मैथिली पाण्डुलिपियों में जो विशेषण ''रसभावविशेष-दीक्षागुरोः'' रखा गया है वह चरितार्थ हो सकता है॥

इस तरह के अनुमान से यह स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय पाण्डुलिपियों में एक नहीं, परन्तु दो दो (''साहसाङ्क'' एवं ''सरभावविशेषदीक्षागुर'' जैसे) विशेषणों के साथ जो विक्रमादित्य का नामनिर्देश मिलता है वह तो मगध के चन्द्रगुप्त-2 के साथ ही संगत बैठते हैं। तथा उसकी राजसभा में मंचन करने के लिए अभिज्ञानशकुन्तल का नवीन मैथिली-संस्करण जब तैयार किया गया होगा तब वहाँ की पाण्डुलिपियों में ऐसे शब्दों का इदं प्रथमतया विनिवेश किया गया होगा ॥

[4]

मैथिली वाचना की उपर्युक्त विशेषताओं में से एक, ''रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद्'' ऐसी सूत्रधार की जो उक्ति है वह द्विविधतया ध्यानार्ह है। (क) इसमें आया हुआ रसभावविशेषदीक्षागुरु शब्द सहित का विक्रमादित्य साहसाङ्क शब्द गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन में आकारित हुई एक ऐतिहासिक घटना का सूचक है। (जिसको अन्य संस्कृत ग्रन्थकारों के विधानों का समर्थन भी मिलता है।) तथा (ख) इस नाटक की जो प्राचीनतम काश्मीरी वाचना का पाठ है, उसमें इन शब्दों का नहीं होना, तथा द्वितीय क्रमांक पर आविष्कृत हुई मैथिली वाचना में उसका इदं प्रथमतया होना-वह एक दूसरी बात का भी द्योतक बनता है। जैसे कि, चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा के सामने[19] इस नाटक का मंचन करने के लिए (काश्मीरी वाचना के पाठ में परिवर्तन एवं नवीन श्लोकादि का परिवर्धन करके) यह मैथिल संस्करण तैयार किया गया होगा ॥

इतना स्पष्ट होने के बाद, अब यह भी विचारणीय है कि ई.स. पूर्व 57 में जिसके नाम से विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ है, वह जनश्रुतियों में सुविख्यात विक्रमादित्य (व्यक्तिवाचक नामवाले) राजा के साथ कालिदास का नाम कैसे जुड़ गया होगा ? तो सम्भवतः ऐसा लगता है कि मैथिली संस्करण का जब आविर्भाव चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में (चौथी सदी में) हुआ और उन मैथिल पाण्डुलिपियों में

विक्रमादित्य साहसाङ्क का नाम संनिविष्ट किये जाने के बाद कालान्तर में कुछ अज्ञात प्रतिलिपि–कर्ताओं ने बंगाली एवं देवनागरी आदि लिपियों में लिखी जानेवाली पाण्डुलिपियों से साहसाङ्क शब्द को हटा दिया होगा। तथा केवल विक्रमादित्य उपाधि को सुरक्षित रखा होगा। जिसके कारण, ई.स. पूर्व हुए, उज्जयिनी की भूमि पर शासन करनेवाले, विक्रमी संवत् के प्रवर्तक (आदि) विक्रमादित्य के साथ कालिदास को जोड़ देना आसान हो गया! अन्यथा, जैसा कि डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है वैसे किसी भी तरह से विक्रमादित्य और कालिदास की जोड़ी सिद्ध होती ही नहीं है[20]। यहाँ, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने इन दोनों की जोड़ी कथमपि सिद्ध नहीं होती है ऐसा सिद्ध करके, कालिदास गुप्तकालीन सिद्ध हो रहे हैं ऐसा अपना मत प्रकट किया है[21]। किन्तु उनके ग्रन्थ का प्रतिपादन पढ़ते हुए यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि तो फिर जनश्रुति में विक्रमादित्य और कालिदास की जोड़ी बनी कैसे, प्रचलित बनी कैसे ? इस जिज्ञासा की अपेक्षित संतुष्टि डॉ. तिवारी जी के ग्रन्थ से प्राप्त नहीं होती है॥ अतः इसके लिए तो उपर्युक्त समाधान ही संगत बैठ जाता है। इस बात का समर्थन करने के लिए, प्रसंगानुरूप एक प्राथमिक सर्वेक्षण करना जरूरी बनता है। जैसे कि, अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की किन किन पाण्डुलिपियों में विक्रमादित्य का अकेला या साहसाङ्क शब्द के साथ निर्देश हुआ है :-

[क] जिन तीन मैथिली पाण्डुलिपियों में मैथिली वाचना का पाठ दिया हुआ है, उसका परिचय प्रथम देना आवश्यक है :- (1) मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से (1957 में) निकला संस्करण, जो दो ताडपत्रीय पाण्डुलिपिओं के आधार पर तैयार किया गया है। तथा इस मैथिल पाठ पर टीका लिखनेवाले शङ्कर एवं नरहरि ने भी इन रसभावविशेषादि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया है। (2) नेशनल आर्काइव्ज़ ऑफ नेपाल, काठमण्डु के ताडपत्र, क्रमांक : वाली 9 - 421 वाली बंगाली लिपि में लिखी पाण्डुलिपि, (3) तथा व श्रीधर्मानन्द कौशाम्बी ने नेपाल से प्राप्त की पाण्डुलिपि, जो वर्तमान में श्री काका साहेब कालेलकर के दिल्ली–स्थित संग्रह में है, उसका क्रमांक : 1006 है॥ यह देवनागरी लिपि में है॥

इन तीनों पाण्डुलिपियों में ''आर्ये, रसभाव-विशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत् ।'' इन शब्दों का संनिवेश हुआ है।

[ख] बंगाली वाचना के पाठवाली बंगालीलिपि में लिखी हुई कतिपय पाण्डुलिपियों में भी ''रसभाव-विशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद् ।'' ऐसे शब्द लिखे हुए मिले हैं। लेकिन उन पाण्डुलिपियों में मैथिली पाठ की पूर्वोक्त अन्य विशेषताएं नहीं हैं। उन सब में तो बंगाली पाठ की विशेषताएं ही प्रकट रूप में दिख रही हैं[22] ॥ अतः बंगाली वाचना की कतिपय पाण्डुलिपियों में भी विक्रमादित्य एवं साहसाङ्क का नाम क्यों मिल रहा है ? ऐसा प्रश्न होगा ही। इसका कारण यह हो सकता है कि मिथिला प्रान्त के पड़ोस में ही बंगाल आया हुआ है। बंगाली पाठ में जब मैथिल पाठ के बहुत सारे प्रक्षेपों को यथावत् स्वीकार कर लिया है तो, इसके साथ साथ में विक्रमादित्य का नाम भी ग्राह्य रखते हुए, उसका भी बंगाली पाण्डुलिपियों में प्रवेश करवाना उन वाचना के पाठशोधकों के लिए सहज बात बनी होगी। यह असम्भावित नहीं लगता है ॥

बंगाली वाचना की जिन पाण्डुलिपियों में साहसाङ्क और विक्रमादित्यादि शब्द प्रविष्ट हुए हैं वे इस तरह की है :- (1) रिचार्ड पिशेल ने छह बंगाली पाण्डुलिपियों के पाठभेदों का परिशिष्ट में निर्देश किया है। उनमें इस विक्रमादित्य एवं साहसाङ्क का पाठ देनेवाली तीन (आर-आई-डी संकेतवाली) पाण्डुलिपियाँ हैं। रिचार्ड पिशेल ने इन शब्दों को प्रक्षिप्त मान कर, अमान्य किये हैं और परिशिष्ट में रखें हैं[23]। (2) उसी तरह से डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल ने बताया है कि नेपाल के राणा चन्द्र शम शेर जी ने ऑक्सफर्ड युनि. की वोडलियन लाईब्रेरी में भेंट की हुई क्रमांक : डी. 387 वाली पाण्डुलिपि में प्रथम पृष्ठ पर उसके लहिया ने ही स्वयं लिखा है कि ''आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्य अभिरूपभूयिष्ठ परिषदियमिति मैथिलपुस्तकपाठः[24]।'' (3) श्रीजीवानन्द विद्यासागर ने जो देवनागरी लिपि में, बंगाली वाचना का पाठ 1914 में प्रकाशित किया है, उसमें केवल विक्रमादित्य का निर्देश मिलता है। परन्तु उसमें साहसाङ्क का नाम

नहीं लिया है। (4) तथा बंगाली पाठ पर टीका लिखनेवाले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की सन्दर्भदीपिका टीका में ''रसभावदीक्षागुरोः साहसाङ्कस्या-भिरूपभूयिष्ठा परिषदिति क्वचित् पाठः।'' ऐसे शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है[25]। किन्तु उसमें विक्रमादित्य का नाम नहीं है! ॥ निष्कर्षतः कहा जाय तो, मैथिल वाचना की छाया पडने के कारण ही बंगाली वाचना के पाठ को धारण करनेवाली कतिपय पाण्डुलिपियों में कुत्रचित् अकेले विक्रमादित्य का नाम, या कुत्रचित् केवल साहसाङ्क का नाम, अथवा कुत्रचित् दोनों ही नामों का प्रवेश हुआ दिखता है। किन्तु जैसे चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने अपनी सन्दर्भदीपिका टीका में ''रसभाव... इति क्वचित् पाठः'' लिख कर इङ्गित कर ही दिया है कि यह पाठ मूलतः बंगाली वाचना का नहीं था। तथा इस बात का समर्थन बोडलियन लाईब्रेरी के चन्द्र शम शेर संग्रह की पाण्डुलिपि में उसके ही लहिया ने साफ बताया है कि यह पाठ मैथिल-पुस्तक का है, उससे मिल जाता है ॥

[ग] दाक्षिणात्य (ग्रन्थ, तमिळ, तेलुगु, नन्दीनागरी आदि) लिपियों में लिखी कतिपय ताडपत्रीय पाण्डुलिपियों में भी इन दोनों शब्दों का, अथवा इनमें से किसी एक नाम का ही प्रवेश हुआ है ऐसा भी मालूम हो रहा है। जैसे कि, (1) रसभावविशेषदिक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य। शब्द ((c), (cy), note (N), (P N (tnmarg) R), (Pa F)) मिलते हैं। तथा (2) रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्य। शब्द ((P DIN (marg) R)) मिलते हैं। (द्रष्टव्यः - Complete collection of the various readings of the Madras mss, Editor :- T. Fouldes, 1904) ॥

[घ] जिसमें देवनागरी वाचना का पाठ संचरित हुआ है ऐसी भी कतिपय पाण्डुलिपियाँ हैं कि जिनमें भी पूर्वोक्त दोनों नामों का, या इन दोनों में से किसी एक ही नाम का निर्देश मिलता है। उदाहरणतया (1) होगटन कॉलेज, (Houghton College) हार्वर्ड युनिवर्सिटी, अमरिका, इन्डिक मेन्युस्क्रीप्ट क्रमांक : 1086 में ''आर्ये, रसभाव-विशेष-दीर्घ-गुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्या-भिरूप-भूयिष्ठा

संसत् ।'' लिखा है । (2) एशियाटीक सोसायटी, कोलकाता में संगृहीत एक देवनागरी पाण्डुलिपि, क्रमांक : जी. 340 है । उसमें भी पूर्ववत् पाठ है । केवल संसत् के स्थान पर परिषदियम् ऐसे शब्द हैं। (इसके अन्त भाग में ''चिन्तामणिपाठार्थम् दिनमणिदाशेनलिखितमिदं पुस्तकम् । कारानगरे गंगातीरे'' इसका लेखनवर्ष - 1669 लिखा है) । (3) श्री सीताराम चतुर्वेदी की कालिदास ग्रन्थावली (सं. 2019) में विक्रमादित्य का नामोल्लेख है, परन्तु उसमें साहसाङ्क शब्द नहीं है । तथा इस ग्रन्थावली के परिशिष्ट में डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने एक देवनागरी पाण्डुलिपि की जानकारी दी है । जिसमें भी इन दोनों नामों सहित का पाठ मिल रहा है[26] ॥

सारांशतः विक्रमादित्य एवं साहसाङ्क इन दोनों शब्दों का इदं प्रथमतया विनिवेश मैथिली वाचना के पाठ में हुआ है । तदनन्तर, द्वितीय सोपान पर बंगाली पाठ में उसका प्रवेश हुआ । जब तक इन दोनों शब्दों का बंगाली पाठ में स्वीकार हो रहा था, तब तक प्रतिलिपि-कर्ताओं को एवं टीकाकार चन्द्रशेषर चक्रवर्ती को साफ मालूम था कि यह मैथिली पाठ का अंश है । (मतलब कि बंगाली पाठशोधकों ने मगध के विक्रमादित्य साहसाङ्क का अभेद उज्जयिनी के ई. पूर्व के विक्रमादित्य के साथ नहीं किया था ।) लेकिन तृतीय सोपान पर, जब उन शब्दों का दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाण्डुलिपियों में अनुप्रवेश हुआ तब कदाचित् दोनों शब्दों को या कदाचित् केवल विक्रमादित्य शब्द को स्वीकारा गया है । तथा जहाँ पर भी (दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाण्डुलिपियों में) साहसाङ्क शब्द को हटा कर, अकेले विक्रमादित्य शब्द को स्वीकारा गया है, वहाँ पर ई. पूर्व के विक्रमादित्य और कालिदास की जोड़ी होने का भ्रम पैदा करने की प्रवृत्ति अनजान में ही शूरु हुई है। ऐसा होने पर जनश्रुतियों में यह बात फैलाने लगी होगी कि कालिदास विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक थे । परम सत्य तो यही था कि संस्कृतानुरागी चन्द्रगुप्त - 2 के समय में इस नाटक के नवीकृत पाठ के अनुसार मंचन करने के लिए बनाई गई मैथिली पाण्डुलिपिओं में ही उस (चन्द्रगुप्त - 2) के विक्रमादित्य साहसाङ्क जैसे दो बिरुदों का उपयोग पहलीबार किया गया था ॥

[5]

एक पूरक कथनीय बिन्दु यह भी है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क के अन्तिम श्लोक में चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य। ऐसी एक पङ्क्ति आती है। प्रश्न होता है कि यह चीनांशुक शब्द यहाँ कैसे आया ? तो सब से पहले यह जान लेना उचित है कि अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की प्राचीनतम वाचना के रूप में काश्मीरी वाचना ही सिद्ध होती है। उसमें तो चिह्नांशुकमिव ऐसा शब्द आया है। कालान्तर में जब मैथिली वाचना का तथाकथित परिष्कृत पाठ तैयार किया गया और विक्रमादित्य साहसाङ्क नाम से विदित बने चन्द्रगुप्त - 2 की राजसभा में उसका मंचन हुआ था, उस मैथिल पाठ में ही इदं प्रथमतया चिह्नांशुक को चीनांशुक में परिवर्तित किया गया है। अब इतिहास इस बात का प्रमाण देता है कि चन्द्रगुप्त - 2 के समय में ही फाहियान जैसा पहला चीनी यात्री भारत में आया था। तो उसके समय में आने लगे चीन के वस्त्रों का निर्देश भी मैथिली पाठ में प्रविष्ट करना तर्कसंगत प्रतीत होता है! इस नाटक का एक छोटा सा पाठान्तर भी यदि कब कहाँ दाखिल हुआ है ? वह सोचा जाय तो भी इस नाटक की पाठयात्रा पर निश्चित प्रकाश पड़ सकता है, उसका यह प्रमाण है।

[6]

श्रीसीताराम चतुर्वेदी जी ने कालिदास ग्रन्थावली (भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1963) में दिये हुए अभिज्ञानशाकुन्तल में भी अकेले विक्रमादित्य शब्दवाला पाठ स्वीकारा है। तथा उसके परिशिष्ट भाग में डॉ. राजबली पाण्डेय जी का आलेख दिया है। अतः प्रसंगवशात् उनके मत पर ऊहापोह कर लेना अपेक्षित है :- डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने कहा है कि मालवगण मुख्य विक्रमादित्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं ? अभिज्ञानशाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के पश्चात् लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की अभिरूप भूयिष्ठ परिषद में हुआ था। जैसे कि, "आर्ये, इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः,-विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्।" (जीवानन्द

विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, 1914 ई.स.) अभी तक विक्रमादित्य एकतान्त्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किन्तु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय श्रीकेशवप्रसाद मिश्रजी के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति ने विक्रमादित्य का गण (गणतन्त्र) से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। (इस पाण्डुलिपि का प्रतिलेखन-काल अगहन सुदी 5, संवत् 1699 है[27]) उसके निम्नोक्त दो अवतरण ध्यान देने योग्य हैं :- (अ) ''आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। (नान्द्यन्ते''। एवं भरतवाक्य के उपर दिये हुए एक श्लोक में (आ) ''भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञो वज्रिण भावयेथाः। गणशतपरिवृतैरेवमन्योन्य-कृत्यै,र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥'' उपर्युक्त अवतरणों में रेखाङ्कित पदों से यह स्पष्ट जान पडता है कि जिन विक्रमादित्य का यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचन नाम विक्रमादित्य है, और उपाधि ''साहसाङ्क'' है। भरतवाक्य का ''गण'' शब्द राजनीतिक अर्थ में गणराष्ट्र का द्योतक है।'' इत्यादि ॥ इस तरह डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने ई.पू. प्रथम सदी में हुए उज्जयिनी के विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध हो रही है ऐसा, केवल एक ही पाण्डुलिपि के साक्ष्य से घोषित किया है ॥

परन्तु पाण्डुलिपियों के साक्ष्य को लेकर कुछ भी बताना है तो पाण्डुलिपियों के व्यापक सर्वेक्षण की पहले अनिवार्य आवश्यकता होती है। केवल एक हस्त-लिखित प्रति के आधार पर जो कहा जायेगा वह कालान्तर में अन्यथा सिद्ध हो सकता है। जैसा कि हमने देश-विदेश-व्यापी विभिन्न (70 से अधिक) पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन करके पीछले तीन वर्षों में कुछ गवेषणायें उपस्थापित की हैं। जिससे अद्यावधि अनजान रही इस नाटक की पाठयात्रा का चित्र सामने आ गया है। जिसमें मैथिली वाचना का पाठ द्वितीय क्रमांक पर आकारित किया गया है। तथा प्रस्तुत आलेख में जैसे कहा जा रहा है वैसे वह नवीकृत पाठ विक्रमादित्य एवं साहसाङ्क बिरुदधारी मगध के चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामने इसका मंचन करने के लिए वहाँ के रंगकर्मिओं के द्वारा तैयार किया गया था। इस लिए डॉ. राजबली पाण्डेय जी की उपस्थापना का परिहार हो ही जाता है ॥

तथापि उस आलेख में जिस एक पाण्डुलिपि का प्रमाण दिया है, उसके सन्दर्भ में भी चर्चा करनी आवश्य है। उसमें भरतवाक्य के उपर दिये गये दो श्लोकों में से एक श्लोक का उद्धरण दिया है, वह विवेच्य है :- मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्युट, दरभङ्गा से 1957 में में जो मैथिलपाठ प्रकाशित हुआ है उसके भरतवाक्य के उपरि भाग में आशीर्वादात्मक दो श्लोक आये हुए हैं। जिसमें "गणशतपरिवतै:०" ऐसा पाठ नहीं है, उसमें तो "युगशतपरिवृतै:०" ऐसा पाठ दिया है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जो उज्जयिनी के तत्कालिक शकों को पराजित करके विक्रमादित्य का नाम धारण किया था, (और इस तरह से उसने अपने आपको ई. स. पूर्व के शकारि विक्रमादित्य का अनुकरण करनेवाला कहा था), उसके सामने नवीकृत मैथिल पाठानुसारी नाटक प्रस्तुत हुआ होगा तब तो "युगशतपरिवृतै:०" पाठवाला ही श्लोक बोला गया होगा। क्योंकि यही पाठ उनके टीकाकार शङ्कर को भी मान्य है। किन्तु कालान्तर में जनश्रुतियों में प्रसिद्ध विक्रम-संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य के साथ साहसाङ्क विक्रमादित्य का अभेद करने के लिए किसी अज्ञात प्रतिलिपि-कर्ताने जैसे अपनी प्रतिलिपि में से साहसाङ्क शब्द को हटा दिया होगा, वैसे ही उपरि निर्दिष्ट (मैथिल वाचनानुसारी) आशीर्वादात्मक श्लोक में आये हुए "युगशतपरिवृतै:०" शब्द में नया पाठभेद करके "गणशतपरिवतै:०" ऐसा लिखा होगा। अतः केवल एक पाण्डुलिपि के साक्ष्य पर डॉ. राजबली पाण्डेय ने जो कहा था कि फलानी पाण्डुलिपि में आया गण शब्द राजनीतिक अर्थ में गणराष्ट्र का द्योतक है - वह अग्राह्य सिद्ध होता है। तथा प्राचीन टीकाकार शङ्कर ने दिया "युगशतपरिवतै:०" जैसा मैथिल पाठ ही मान्य हो सकता है॥

[7]

उपसंहार : कालिदास किस समय में पैदा हुए ? इस विषय को लेकर इतिहासविदों ने एवं संस्कृतविदों ने पौनःपुन्येन विवाद किया है। इन विवादों के उपरान्त, कालिदास गुप्तवंश के राजाओं के समय में (याने चौथी या पाँचवी सदी

में) हुए हैं ऐसा पुराविदों ने अपना पक्ष रखा है[28] । उनके प्रतिपक्ष में संस्कृतविदों ने कालिदास के काव्यों में वेद एवं यज्ञ की संस्कृति के विविध सन्दर्भों का निरूपण देख कर ईसा के पूर्व या ईसा की प्रथम शती में कालिदास पैदा हुए होंगे ऐसा दूसरा पक्ष स्थापित किया है[29] । दोनों ही पक्ष अपने अपने प्रमाणों को दृढतर बनाते रहें हैं। इस माहोल में विशेष रंग तब चढ़ता है जब उसमें "विक्रमादित्य के समय में कालिदास पैदा हुए थे" इस मत का प्रवेश होता है। क्योंकि भूतकाल में विक्रमादित्य नामधारी एवं बिरुदधारी अनेक राजा हुए हैं । इन सब में किस विक्रमादित्य के समय में कालिदास पैदा हुए होंगे ? इस प्रश्न के आधार पर तीसरा पक्ष आकारित हो जाता है । डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अपने "कालिदास की तिथि-संशुद्धि" ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों के साथ ऐसा अभिमत प्रदर्शित किया है कि कालिदास और विक्रमादित्य की जोड़ी कथमपि सिद्ध नहीं होती है। तथापि यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि तो फिर जनश्रुतियों में इन दोनों के बीच आश्रित-आश्रयभाव प्रचलित हुआ कैसे ? इस जिज्ञासा का शमन प्रस्तुत शोध-आलेख से हो रहा है ॥ इस आलेख में जिन बिन्दुओं पर विचार-विमर्श किया गया है वे निम्नोक्त हैं :-

1. अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की विविध वाचनाओं में से मैथिली वाचना का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है कि नहीं ? उस पर परामर्श किया गया है।
2. मैथिली वाचना के पाठ की एकाधिक विशेषताएँ बताई गई हैं। जिनमें से सूत्रधार की उक्ति "आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद्" विशेष रूप से ध्यानार्ह है। क्योंकि यह उक्ति मैथिली वाचना में ही इदं प्रथमतया दृश्यमान हो रही है।
3. संस्कृत काव्य एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आये हुए उद्धरणों से सिद्ध होता है कि यह विक्रमादित्य साहसाङ्क बिरुदधारी राजा तो मगध के गुप्तवंश का चन्द्रगुप्त द्वितीय ही (जो चौथी शताब्दि का) है।
4. चूंकि चन्द्रगुप्त - 2 की मूल राजधानी मिथिला में थी, मिथिला के पाठशोधकों ने काश्मीरी वाचना के पाठ में परिवर्तन-परिवर्धन करके,

चन्द्रगुप्त की सभा में उस मैथिल पाठानुसारी मंचन किया होगा। (इस नाटक का मैथिल पाठानुसारी मंचन कहाँ, मगध या उज्जयिनी में हुआ होगा ? यह निश्चित नहीं हो सकता है।)

5. मैथिली वाचना की उपर्युक्त विशेषता जिन जिन पाण्डुलिपियों में संचरित हुई है उसका एक प्राथमिक परिगणन दिया गया है। तथा ईसा पूर्व के (आदि) विक्रमादित्य के साथ कालिदास का नाम कालान्तर में कैसे संयुक्त होने लगा होगा उसका अनुमान किया गया है।
6. मैथिली वाचना के पाठ का संग्रथन-काल यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में (अर्थात् चौथी सदी में) हुआ हो तो, शारदा-लिपि की पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ काश्मीरी वाचना का पाठ दूसरी-तीसरी सदी से प्रवाहित होता हुआ आ रहा है ऐसा भी मानना होगा।
7. इस शोध-आलेख में प्रस्तुत किये गये अभिनव परामर्श से कालिदास गुप्तकाल में पैदा नहीं हुऐ थे, किन्तु उनके इस अभिज्ञानशकुन्तल नाटक का परिवर्तित पाठ गुप्तकाल के विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त - 2) के साथ जुड़ा है - उन दोनों हकीकतों का सप्रमाण उपस्थापन हो गया है॥

=o=

पादटीप

1. काश्मीरी पाठ में, तृतीयाङ्क के आरम्भ में "ततः प्रविशति कामयानो राजा दुष्यन्तः।", मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में "ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा" ऐसा पाठान्तर है।, दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचनाओं में "ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा" ऐसा तीसरा पाठभेद उपलब्ध होता है। किन्तु 7-8वीं शती के वामन ने "कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्। (का.सू.वृ. 5-2-82)" ऐसा लिख कर कामयान शब्द का समर्थन किया है, जो इस नाटक की केवल काश्मीरी पाण्डुलिपियों में मिलता है। तथा स्वयं कालिदास ने ही रघुवंश (19-50) में भी इसी शब्द का प्रयोग किया है ! इस एक निदर्श से भी सिद्ध हो सकता है कि शारदालिपि में संचरित हुई पाठपरम्परा ही प्राचीनतम हो सकती है॥

2. यहाँ डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल से सर्वथा भिन्न मत रखा गया है। द्रष्टव्य : अभिज्ञानशकुन्तलम्, सं. दि. कु. काञ्जीलाल, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, 1980, प्रास्ताविक प्रकरण – 2, पृ. 44 से 77.
3. अभिज्ञानशकुन्तल के पाठविचलन की आनुक्रमिकता विषयक हमारे मतों की उपस्थापना के लिए द्रष्टव्य है :- नाट्यम् पत्रिका, (अंक – 71-74, 76 एवं 77), सं. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2012 से 2015
4. द्रष्टव्य :- Its editor claims that text represents a Maithili recension of the play, but such a fifth recession is not justified by facts. This text belongs to the Bengali-Kashmiri family, sometimes leaning towards the Bengali and sometimes towards the Kashmiri. V. Raghavan, Introduction, p.3, The Abhijnanas'akuntala, Ed. S.K. Belvaldar, Sahity Akademy, Delhi, 1965
5. उन्होंने साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित किया काश्मीरी पाठ तो केवल एक ही शारदा पाण्डुलिपि पर तैयार किया गया लगता है। उस सम्पादन में कौन सी शारदा–पाण्डुलिपि का उपयोग किया गया है ? वह नहीं लिखा है। तथा उसमें अन्य शारदा पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहे पाठभेदों का भी पादटिप्पणी में कुत्रापि निर्देश नहीं दिया गया है। एवमेव उस तथाकथित काश्मीरी पाठसम्पादन का अभ्यास करने से मालूम होता है कि उसमें ''इकलेक्टीक प्रिन्सीपल्स'' के आधार देवनागरी आदि अन्य वाचनाओं के पाठान्तरों को भी ग्राह्य रखा गया है॥
6. द्रष्टव्य :- नाट्यम् (अंक – 76), सं. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2014, पृ. 26 से 76.
7. विदूषकः – (चित्रफलकमादायोत्थाय च) जइ भवं अन्तेउरकूडवासादो मुञ्चस्सजि, तदो मं मेहच्छनद्पासादे सद्दावेसि। (मैथिलपाठानुग अभिज्ञानशकुन्तल, सं. रमानाथ झा, दरभङ्गा, 1954, पृ. 118
8. नटी – नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञसम् अभिज्ञानशाकुन्तलं नाम अपूर्वम् नाटकं प्रयोगे अधिक्रियताम् इति।
9. द्रष्टव्य :- सम्बोधि (अंक – 38), एल.डी. इन्स्टीट्युट ऑफ इन्डोलोजी, अहमदाबाद, 2015 में ''अभिज्ञानशकुन्तला के पद्यों में वृद्धिगत होती रही श्लोक संख्या'' शीर्षक से प्रकाश्यमान मेरा आलेख।
10. श्रीकेशव हर्ष ध्रुव के अनुमान से अरिपुरे के स्थान में गिरिपुरे पाठ होना चाहिए। (सौराष्ट्र का गिरनार)

11. हर्षचरितम् । सं. पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1986, पृ. 105-106.
12. डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अपने ग्रन्थ में हर्षचरित के उपरि निर्दिष्ट सन्दर्भ का उल्लेख नहीं किया है । द्रष्टव्य कालिदास की तिथि-संशुद्धि । (पृ. 272)
13. नाट्यदर्पणम् (1: 65 सूत्रोपरि वृत्तिः), पृ. 128-129.
14. नाट्यदर्पणम् (1: 82 सूत्रोपरि वृत्तिः), पृ. 151.
15. साहित्य अने विवेचन, भाग - 1, श्रीकेशव हर्ष ध्रुव, अमदावाद, पृ. 164-180 (एवं बुद्धिप्रकाश, 1929)
16. सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज के द्वारा कहा गया है : केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः । काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ॥ (2-15 के नीचे), इससे सिद्ध होता है कि गुप्तकाल में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का सुवर्ण-युग आया था ॥
17. नाट्यदर्पणम् के उपर्युक्त सन्दर्भों का उद्धरण देते हुए M. Sylvain Levi v ने Journal Asiatique (ऑक्टोबर-डिसेम्बर, 1923 के अंक) में समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी कौन, रामगुप्त या चन्द्रगुप्त, होगा ? इस विषय पर आलेख लिखा था । तब से इसका विवाद चल पड़ा था ॥ उसके बाद, V. Smith's Early Histouy of India के चतुर्थ संस्करण में (1924, पृ. 309) हर्षचरित के पूर्वोक्त उद्धरण में वर्णित घटनाचक्र ऐतिहासिक नहीं हो सकता ऐसा मत पुनरुक्त किया गया था । लेकिन The Journal of the Bihar & Orrisa Research Society June, 1928 में प्रोफे. अल्तेकर एवं प्रोफे. राखाल दास बेनर्जी ने उसका परिहार कर दिया है । उन सभी विद्वानों के लिए गुप्तवंश के राजाओं का, विशेष रूप से रामगुप्त का सही इतिहास गवेष्य विषय था ॥
18. श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने ध्रुवस्वामिनी की प्रास्ताविकी सूचना में लिखा है कि मुझे तो इसका स्वयं चन्द्रगुप्त की ओर से प्रमाण मिलता है । चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर रूपकृती शब्द का उल्लेख मिलता है । इस बिरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त ने अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति दी है, जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदलकर किया है, और जिसका पिछले काल के लेखकों ने भी समय समय पर समर्थन किया है ॥
19. यह राजसभा उज्जयिनी की भी हो सकती है, क्योंकि चन्द्रगुप्त - 2 ने मालवा के शकों को पराजित करके ही विक्रमादित्य का बिरुद धारण किया था । उसी समय मिथिला के पाठशोधकों ने बनाये इस नवीन मैथिली संस्करण के मुताबिक वाचिकाभिनयन किया गया होगा । - एक धारणा ।

20. द्रष्टव्य : कालिदास की तिथि-संशुद्धि । डॉ. रामचन्द्र तिवारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1989
21. अतः यदि प्राचीन और अधिकांश अनुश्रुतियों को मानें तो कालिदास और विक्रम की जोड़ी ही नहीं थी । अतः विक्रम के सम्बन्ध से कालिदास की तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती, यदि भोजराज आदि की अनुश्रुतियों को महत्त्व दें तो भी कालिदास गुप्तकालीन ही सिद्ध होते हैं । द्रष्टव्य पृ. 99
22. बंगाली पाठ की मुख्य विशेषताओं में (1) नायक का नाम दुःषन्त होता है, (2) नान्दी पद्य में या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहूतं० ऐसा पदक्रम होता है, (3) उन में द्वितीयाङ्क का नाम आख्यानगुप्तिः रखा गया है, (4) चतुर्थाङ्क में से एषा प्रियेण विना रात्रिं गमयति० वाली आर्या को हटाई गई है, (5) प्रभात का वर्णन करनेवाले चार श्लोकों में से पहले दो में यात्येकतोस्तशिखरं० एवं अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीं० यह क्रम देखा जाता है, तथा (6) राजा की दासी का पुराना नाम मेधाविनी होने के साथ साथ में उसीका नया चतुरिका नाम भी दाखिल किया गया है ॥
23. अभिज्ञानशकुन्तलम् (बंगाली वाचना), सं. रिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनि., द्वितीयावृत्ति, 1922
24. अभिज्ञानशकुन्तलम् । सं. डी. के. कांजीलाल, संस्कृत कॉलेज, कोलकाता, 1980, प्रस्तावना पृ. 48
25. अभिज्ञानशकुन्तलम् (सन्दर्भदीपिकया टीकया समेतम्), सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, प्र. राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मीशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 1
26. कालिदास ग्रन्थावली, सं. सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ, तृतीय संस्करण, सं. 2019, परिशिष्ट पृ. 9
27. द्रष्टव्य :- श्री सीताराम चतुर्वेदी जी के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित ''कालिदास-ग्रन्थावली'' (भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, सं. 2019, के तृतीय संस्करण) के परिशिष्ट भाग में दिया हुआ डॉ. राजबली पाण्डेय का आलेख ।
28. समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त – 2, या कुमारगुप्त – 1 के समय में कालिदास पैदा हुए थे । डॉ. तिवारी जी के मत से कालिदास कुमारगुप्त – 1 के समय में सिद्ध होते हैं । (अब प्रस्तुत आलेख से यह पूरा मत ध्वस्त हो रहा है ।)
29. कालिदास के कालनिर्धारण में अग्निमित्रवाद (ई.पू. 2शती) या संवती विक्रमावाद (ई.पू. प्रथमशती) है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूचि

(1) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सं. एम. आस. काळे, प्रका. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 10 संस्करण, 1969, (देवनागरी पाठ)
(2) अभिज्ञानशकुन्तलम्, (मैथिल-पाठानुगम), सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, (शङ्कर-नरहरि की टीका के साथ)
(3) अभिज्ञानशकुन्तलम्, (सन्दर्भदीपिकया सहितम्), सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली, 2013
(4) कालिदास : अपनी बात।, पं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 2004
(5) कालिदास ग्रन्थावली, सं. सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, सं. 2019, तृतीय संस्करण
(6) कालिदास ग्रन्थावली, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1986, द्वितीय संस्करण
(7) कालिदास की तिथि-संशुद्धि, डॉ. रामचन्द्र तिवारि, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1989
(8) काव्यमीमांसा। सं. रामस्वामी शास्त्री, ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, बहोडा, 1934
(9) ध्रुवस्वामिनी (हिन्दी नाटक)। जयशंकर प्रसाद, साहित्यागार, जयपुर, 1991
(10) नाट्यदर्पणम्। रामचन्द्र-गुणचन्द्र-विरचितम्। सं. आचार्य विश्वेश्वर। दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, 1961, एवं नाट्यदर्पणम्। सं. जी. के. गोडेकर, ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, बरोडा, 1999
(11) नाट्यम्, (अंकः - 71-74), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, 2011-12
(12) नाट्यम्, (अंकः - 76), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, 2014
(13) नाट्यम्, (अंकः - 77), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, 2015 (प्रकाश्यमान अंक)
(14) महाकवि कालिदास, (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय खण्ड), डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1998
(15) विश्वकवि कालिदास, पं. सूर्यनारायण व्यास, हर्षिता प्रकाशन, दिल्ली, 2014
(16) साहित्य अने विवेचन, केशव हर्ष ध्रुव, भो.जे. विद्याभवन, द्वितीयावृत्ति, अमदावाद, 1995
(17) हर्षचरितम्। सं. पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण - 1986
(18) हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण, 1964
(19) Complete Collection of the various readings of the Madras Manu-scripts, Ed. Foulkes. T., Madras, 1904

=o=

[9]

अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रतीकों से व्यञ्जित होने वाला नाट्यकार्य

0-1 भूमिका – कवियों ने ब्रह्माण्ड के कई पदार्थों में मानवीय संवेदनाओं और स्वभाव का प्रतिबिम्ब देखा है, अतः वे उसका प्रतीक के रूप में विनियोग करके भी नव–नवीन काव्य–सर्जन करते हैं। काव्यों में निसर्ग–व्यास पदार्थों की विशिष्टतया बनावट करने से मानवीय संवेदनाओं को अच्छी तरह से अभिव्यक्ति दी जाती है, यह सभी कवियों ने जाना है। लेकिन ऐसा लगता है कि इस विषय में कालिदास का दर्शन कुछ गहरा है। कालिदास की दृष्टि में, इस ब्रह्माण्ड में मनुष्य और प्रकृति जैसे दो पृथक् पृथक् अस्तित्व नहीं है। कालिदास के लिए तो मनुष्य भी प्रकृति का ही अपृथक् अङ्ग है। इसलिये अभिज्ञानशाकुन्तल में मानवीय प्रेम के आलेखन में प्रकृति न केवल मानवीय संवेदनाओं को उद्दिपित करती है, या न केवल मानवीय संवेदनाओं का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है, किन्तु वह मानवीय प्रेम–प्रसंगों में अपरोक्ष सहभागिता भी दिखाती है। प्रस्तुत नाट्यकृति में आदि से अन्त तक प्रकृति के जो भी विविध पशु, पक्षी एवं पुष्पादि का विनियोग हुआ है, वे सब नाटक की पात्रसृष्टि के अभिन्न अंग हैं। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास, 2006)[1] की प्रतीक–योजना[2] एवं इनसे व्यक्त होने वाले नाट्यकार्य का सर्वांगीण रूप से अवलोकन करना अभीष्ट है॥

0-2 अभिज्ञानशाकुन्तल ने विश्व–नाट्यसाहित्य में प्रथम पंक्ति में जो अपना स्थान सुनिश्चित किया है, उसका एक अनुल्लिखित कारण महाकवि कालिदास की अप्रतिम प्रतीक–योजना है। यद्यपि इस नाट्यकृति में प्रयुक्त प्रतीकों को प्राचीनकाल से ही परम्परागत टीकाकारों ने पहचाना है। जैसे कि घनश्याम ने 'हरिण' और 'भ्रमर' को अनुक्रम से शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रतीक के रूप में अवश्य देखा था

(घनश्याम, 1997)[3]। परन्तु इन प्रतीकों का प्रस्तुत कृति में कैसे सातत्यपूर्ण विनियोग हुआ है, और कालिदास ने उसी के द्वारा कौन सा नाट्यकार्य सिद्ध होता हुआ दिखलाया है इसका चिन्तन किसी ने किया हो ऐसा ज्ञात नहीं है। आधुनिक काल में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दुष्यन्त के लिये प्रयुक्त भ्रमर के प्रतीक को लक्षित करते हुए, दुर्वासा के शाप का हृदयंगम प्रयोजन उद्घाटित किया है।[4] किन्तु 1.उन्होंने केवल दुष्यन्त के लिये प्रयुक्त अकेले भ्रमर के ही प्रतीक को लेकर नाटक के मर्म को उद्घाटित करने का मार्ग अपनाया है[5] (Tagore, 1953)। और 2. दुष्यन्त को भ्रमरवृत्तिवाला कहने से उसके चरित्र में धर्मभीरुता और तत्त्वान्वेषिता कृत्रिम थी यह भी कहना होगा। वस्तुतः दुष्यन्त के सन्दर्भ में कुल मिलाकर पाँच बार भ्रमर का उल्लेख होता है। अतः इन पाँचों सन्दर्भों को लेकर भ्रमर की प्रतीकात्मकता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। 3. तथा शकुन्तला को शाप मिलने का कवि द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ कारण तो शकुन्तला का प्रतिकूल दैव था। जिसके शमन के लिये पिता कण्व सोमतीर्थ की यात्रा पर पहले से ही चल पड़े थे। 4. जैसा कि पहले कहा गया है, कालिदास ने तो यहाँ अनेकविध प्रतीकों का प्रयोग करने के साथ-साथ शकुन्तला के लिये भी हरिणी, कमल और हंस जैसे त्रिविध प्रतीकों का सन्निवेश किया है। अतः इन सभी प्रतीकों को भी ध्यान में लेकर, अभिज्ञानशाकुन्तल के नाट्यकार्य को दुबारा सोचने की अपरिहार्य आवश्यकता लगती है।

0-3 महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों की चर्चा शुरु करने से पहले इस नाटक की पूर्वनिर्धारित गति क्या है? यह भी ज्ञातव्य है। सामान्यतः सभी सहृदय पाठक जानते ही हैं कि दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होना ही इस नाटक का चरम लक्ष्य है। लेकिन, कालिदास ने प्रथम अङ्क में ही अन्य दो सन्दर्भों में भी नाटक की अन्य गतिविधियों का निर्देश किया है। अतः कवि-निर्दिष्ट कुल त्रिविध गति-निर्देशों के साथ शकुन्तला के लिये प्रयुक्त 1. हरिणी, 2. हंस तथा 3. कमल जैसे त्रिविध प्रतीकों का संयोजन ध्यान में लेना

नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रतीकों से अभिव्यक्त होने वाला नाट्यकार्य यथार्थ रूप में प्रकट होगा।

1-1 इस नाटक के आरम्भ में, सूत्रधार के सुझाव पर नटी ने ग्रीष्म-ऋतु का गीत गाया है :-

"क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥"[6]

यहाँ कहा गया है कि भ्रमरों के द्वारा एक क्षण के लिये (ही) चुम्बित (और बाद में त्यक्त) शिरीषपुष्पों को उसके प्रति दया दिखाने वाली प्रमदायें (अपने कानों में) धारण करके अपने आपको सुशोभित करती हैं। अथवा कहो कि, उन पुष्पों को आभूषणों का गौरव प्रदान करती हैं। टीकाकार राघवभट्ट कहते हैं कि यहाँ शिरीषपुष्पों को धारण करने वाली प्रमदाओं से शकुन्तला का ही निर्देश करना अभीष्ट है।[7] परन्तु यहाँ पर कुछ गम्भीर अर्थ भी छिपा हुआ दिखता है। कालिदास शकुन्तला के लिये आगे चलकर कहने वाले हैं कि उसको सुशोभन प्रिय था, तथापि वह वृक्षों के एक पर्ण को भी कदापि नहीं तोड़ती थी[8]। यहाँ प्रश्न होता है कि तो फिर वह अपने कानों में क्यूँ शिरीषपुष्पों को धारण करती थी ? इस प्रश्न का मार्मिक उत्तर नटी-गीत में दिया गया है। भ्रमर पुष्पों पर एक क्षण के लिये बैठते हैं और रसपान करके उसको तुरन्तर छोड़ देते हैं। संसार में जिस भी स्त्री के जीवन में ऐसी घटना घटित होती है, उसका विचार शकुन्तला करती है, और उसके चित्त में बेसुमार वेदना होती है। इसीलिये वह ऐसे शिरीष-पुष्पों को अपने कानों में धारण करके उसको सम्मानित करती है। राजर्षि विश्वामित्र ने मेनका को क्षण भर के लिये अपनाया, और तुरन्त ही उसका परित्याग भी कर दिया। लेकिन क्षणिक संयोग से जो संतति पैदा हुई वह थी शकुन्तला। इस तरह, नायिका जो शिरीषपुष्प धारण करती है, उसके पीछे छिपी हुई उक्त भावना उसके जन्म की कहानी से जुड़ी हुई है। कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष का क्षणिक प्रेम प्राप्त कर के, यदि उसके द्वारा परित्यक्त हो जाती है, तो उस स्त्री का जीवन तो निश्चित रूप से करुणाजनक हो ही

जाता है। किन्तु उस क्षणिक संयोग से जो संतति पैदा होती है, उसके अभिज्ञान की भी समस्या खड़ी हो जाती है, जो दुःसाध्य होती है। स्त्रीजीवन में कदाचित् पैदा होने वाली ऐसी पीड़ाजनक नियति, जो इस नटी-गीत में व्यक्त की गई है, उसको दुष्यन्त कब समझता है ? वह हमें देखना है।[9] और, शकुन्तला के पुत्र भरत का ''दौष्यन्ति'' के रूप में अभिज्ञान कब सिद्ध होता है ? वह भी आनुषंगिक रूप से देखना है। नाटक की गति का यह प्रथम निर्देश नटीगीत में रखा गया है और शीर्षक में आये हुए ''अभिज्ञान'' शब्द के साथ उसका सम्बन्ध है। महाभारत में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान में भी शकुन्तला के पुत्र के अभिज्ञान की ही समस्या केन्द्र में थी। अतः प्रकृत में नटी-गीत का गहरा मर्म समझना अत्यावश्यक है। इसी सन्दर्भ में, इस नाटक में दुष्यन्त के लिये प्रयुक्त भ्रमर का प्रतीक, एवं नायिका (ओं) के लिये प्रयुक्त शिरीष, आम्रमञ्जरी और कमल जैसे विविध पुष्पों के प्रतीकात्मक निर्देश विचारणीय बन जाते हैं।

1-2 प्रथम अंक के आरम्भ में मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त का प्रवेश होता है। तब नेपथ्य से आवाज आती है कि 'न हन्तव्यो, न हन्तव्यः, आश्रममृगोऽयम्' इति। दुष्यन्त को कहा जाता है कि – तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्। आर्तत्राणाय वः शस्त्रम्, न प्रहर्तुमनागसि। (अ.शा. 1-10) कण्वमुनि के शिष्यों की यह ध्वनि सुनकर मृगया के लिये निकला राजा दुष्यन्त तुरन्त ही अपने बाण का संहरण कर लेता है। तब उसके प्रतिभाव में मुनिजन राजा को आशीर्वचन देते हैं कि –

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनम् अवाप्नुहि॥ (अ.शा.1-11)

पुरुवंश में उत्पन्न हुए आपके लिये यही समुचित है। क्योंकि आपके बाण तो आर्त (दुःखी) व्यक्ति की रक्षा के लिये ही हो सकते हैं, इनसे किसी निष्पाप व्यक्ति पर आघात नहीं होना चाहिये। और, चूँकि आपने बाण का संहरण कर लिया है, आपको आपके जैसे ही गुणों वाले चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो। इस आशीर्वचन में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का चरम लक्ष्य कहा गया है।[10] इसलिये

अब हमें देखना है कि समग्र नाटक की गति कैसे पुत्रप्राप्ति पर्यन्त चलती रहती है ? यहाँ पर, ऋषिकुमारों के कहने पर दुष्यन्त ने बाण का तो संहरण कर लिया था। परन्तु हरिण के पीछे दौड़ता आ रहा दुष्यन्त प्रथमांक के अन्त तक शकुन्तला का प्रेम जीत ही लेता है। उससे मालूम होता है कि महाकवि ने यहाँ हरिण को शकुन्तला के प्रतीक के रूप में रखा है। जैसे जैसे नाटक आगे बढ़ता है वैसे-वैसे प्रेक्षकों को स्पष्ट होता जाता है कि नायिका शकुन्तला की जीवनकथा भी इस हरिण के प्रतीक से ही कही जा रही है। एवं आगे जाकर उसी के निमित्त से वह कथा परिणत भी होती है। शिकारी एवं हरिणी के व्यक्तित्व में सहज रूप से ही विसंवाद अन्तर्निहित है। अथवा कहिए कि इन दोनों में भोक्ता-भोग्य भाव दिखाई देता है। किन्तु आदर्श दाम्पत्य जीवन में तो वही स्पृहणीय है कि पति-पत्नी दोनों परस्पर के लिये भोक्ता-भोग्य हो। अतः नाटक में ऐसी आदर्श स्थिति का निर्माण कब होता है वह द्रष्टव्य है। अब प्रेक्षकों का ध्यान उस ओर ही आकृष्ट होगा कि नायक-नायिका के बीच ऐसी समान भूमिका का निर्माण होने के बाद ही दुष्यन्त को पुत्र भरत की प्राप्ति हो। क्योंकि कण्व मुनि के शिष्यों ने जो आशीर्वाद दिये थे वह तो शब्दान्तर से, हरिणी को नहीं मारने की शर्त पर दिये थे। इस तरह नटीगीत से निर्दिष्ट अभिज्ञान की समस्या के साथ जब पुत्रप्राप्ति रूप दूसरा लक्ष्य जुड़ता है, तब अकथित रूप से नायक-नायिका के दाम्पत्य-जीवन की समाधि पहले सिद्ध होना इदं प्रथमतया आवश्यक बन जाता है। प्रेक्षकों के कौतुक का सिलसिला तार्किक दृष्टि से इस क्रम में अभिव्यक्त होना अपेक्षित है।

अलबत्त, यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से यह स्पष्ट करना जरूरी है कि महाभारत-प्रोक्त शकुन्तलोपाख्यान (आदिपर्व-अ. 68-69) में केवल शकुन्तला-पुत्र भरत के (पैतृक) अभिज्ञान का एक ही प्रश्न था[11]। लेकिन महाकवि कालिदास ने तो प्रस्तुत नाटक में, शकुन्तला के पुत्र के अभिज्ञान की समस्या प्रस्तुत करने के साथ-साथ, नायिका शकुन्तला की आभ्यन्तर पहचान का भी बिन्दु रखा है। एवञ्च, पुत्रप्राप्ति को आश्रममृग का शिकार नहीं करने की शर्त के साथ जोड़ा गया है।

इसलिये शिकारी एवं हरिणी के बीच में जो विसंवादिता है, उसका पहले विगलन होना आवश्यक है। अब नाटक के निर्वहण का क्रम ऐसा निश्चित होता है कि पहले दुष्यन्त को शकुन्तला की सही आन्तरिक पहचान मिले, और उसके बाद (ही) उसको भरत की "अपने पुत्र"' के रूप में पहचान (अभिज्ञान) मिले । तदनन्तर पत्नी सहित पुत्र की प्राप्ति हो ।

1-3 ऋषिकुमारों ने बताया कि नजदीक में ही कण्व मुनि का आश्रम है, अतः राजा को यदि अन्य कार्यातिपात न हो तो अतिथिसत्कार ग्रहण करने के लिये वे आश्रम में पधारें । यद्यपि कण्वमुनि आश्रम में नहीं हैं, वे तो शकुन्तला को अतिथिसत्कार के लिये नियुक्त करके, उसी कन्या के प्रतिकूल दैव का शमन करने के लिये सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हैं[12] । इस वाक्य को सुनते ही सभी दर्शकों के मन में तीसरा कौतुकाधान होता है कि शकुन्तला के भाग्य में कौन से दुर्दैव का योग होने वाला है, जिसके शमन के लिये पिता कण्व सोमतीर्थ की यात्रा पर चल पड़े हैं और साथ में यह भी जानना आवश्यक बन जाता है कि सोमतीर्थ की यात्रा का अन्त में क्या फल आता है ? क्योंकि नाटक जैसी समयबद्ध कलाकृति में कुछ भी निरर्थक तो नहीं होता है। इसमें जो भी कहा जाता है वह साभिप्राय ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कण्वमुनि ने अरण्य में परित्यक्त इस अनाथ कन्या का "शकुन्तला" ऐसा जो नाम रखा है वह भी हमारे लिये ध्यानास्पद है। इस नाम का इतिहास ऐसा है कि अप्सरा मेनका ने पुत्री को जन्म देकर, उसको कण्वमुनि के आश्रम के पास निराधार छोड़ दिया। सद्यः प्रसूता इस कन्या को पक्षियों (शकुन्तों से) से परिरक्षित देखकर कण्व मुनि ने उस कन्या का नाम "शकुन्तला" रख दिया[13] (अभिज्ञानशाकुन्तलम् (मैथिलपाठानुगम्), 1957) कण्व मुनि ने शायद ऐसे नामकरण के समय पर ही उसका भविष्य जान लिया था। यदि यह कन्या पक्षी-सम्बन्ध से "शकुन्तला" नामधारिणी बनी है तो इसी सन्दर्भ में, महाकवि ने उसके जीवन की कहानी बताने के लिये इस नाटक में क्रमशः कोकिल (परभृतिका), चक्रवाक-युगल, एवं हंस-मिथुन, तथा (मृत्तिका) मयूर

जैसे पक्षियों का जो विनियोग किया है - यह ध्यानास्पद बन जाते हैं ।अतः शकुन्तला के भविष्य में अन्तर्निहित दुर्दैव एवं कण्व की तीर्थयात्रा का फलोदय समझने के लिये विविध पक्षियों के प्रतीक भी सहायक होंगे ॥

1-4 प्रथमांक में ही कवि ने पूरे नाटक का चरमोत्कृष्ट शिखर भी प्रतीकात्मक रूप से कह रखा है :- अनसूया की एक उक्ति के द्वारा शकुन्तला के लिये 'स्वयंवरवधू वनज्योत्स्ना' और नायक दुष्यन्त के लिये 'सहकार-वृक्ष' का प्रतीकात्मक निर्देश किया है[14] । यद्यपि यहाँ स्वयंवरवधू शब्द से इन दोनों के आसन्न (गान्धर्व) विवाह का ही सूचन किया गया है। किन्तु अन्ततोगत्वा तो, सहकारवृक्ष पर आश्रित वनज्योत्स्ना नामक लता के चित्र से एक स्पृहणीय दाम्पत्य जीवन का चिर अभिलषित आदर्श भी अभिव्यक्त हो रहा है, यह भी ध्यानार्ह है ॥

इस तरह से, समग्र नाट्यकृति की गति किस दिशा की ओर उन्मुख की गई है, यह जानने के लिये उपर्युक्त सभी सन्दर्भों को स्मरणपथ में रखना है । तथा इन सबके साथ, शकुन्तला के लिये कृति में साद्यन्त प्रयुक्त हरिणी, कमल तथा हंस जैसे त्रिविध प्रतीकों का अभ्यास करना अनिवार्य है। पूर्वोक्त गतिविधियों के साथ ही इन प्रतीकों का इतना सहज सुन्दर संयोजन किया गया है कि नाट्यकार्य को आत्मसात् करने के लिये ये महत्त्वपूर्ण भी सिद्ध होते हैं और अनुपेक्ष्य भी बने रहते हैं ।

2-0 नाटक के शीर्षक में जो ''अभिज्ञान'' शब्द रखा गया है, उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली गति का जहाँ निर्देश है, उस नटी-गीत का पहले विचार करेंगे। नटी-गीत के शब्दों से जो ध्वनि निकलती है, उसको यथार्थ रूप में समझने के लिये पूरे नाटक में स्थान-स्थान पर जो शिरीषपुष्प, आम्रमञ्जरी एवं कमल जैसे पुष्पों के प्रतीकात्मक निर्देश आते हैं, उनको भी ध्यान में लेना आवश्यक है। और पुष्पों से जुड़े भ्रमर के प्रतीक का भी साथ में ही विचार करना होगा।

2-1 प्रस्तावना में रखे गये नटी-गीत का गान हो रहा है तब तक प्रेक्षागार में कुछ देरी से पहुँचे लोग भी आकर बैठ जायें, एवं उपस्थित सभी प्रेक्षक शान्त

होकर एकाग्र हो जाय – यही इस गीत का प्राथमिक प्रयोजन लगता है। नाटक में गीत–संगीत का इस दृष्टि से भी उपयोग होता है। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तल में नटी द्वारा प्रस्तुत हुए गीत में केवल श्रुतिमाधुर्य ही ध्यानाकर्षक नहीं है। यहाँ पर शिरीष–पुष्प एवं भ्रमर का एक साथ जो उल्लेख हुआ है, उसमें एक गहरी ध्वनि है। यहाँ केवल भ्रमर शब्द को देखकर, इससे दुष्यन्त का सूचन होता है ऐसा कोई साहसिक कह सकता है। किन्तु राघवभट्ट जैसे प्रौढ टीकाकार ने कहा है कि शिरीष–पुष्पों के प्रति दया दिखाने वाली प्रमदाओं से शकुन्तला का सूचन हो रहा है। क्योंकि शिरीष–पुष्पों को शकुन्तला अपने कर्णाभूषण के रूप में धारण करती है, ऐसा आरम्भ से ही कहा गया है। यह एकदम सही है।[15] लेकिन उन्होंने जो कहा है कि यहाँ "प्रमदाः" शब्द में प्रयुक्त बहुवचन पूजार्थक है।[16] उसमें कुछ अधिक मार्मिक बात छिपी हुई लगती है। शकुन्तला के पक्ष से सोचा जाय तो इस गीत में स्त्रीजीवन में कदाचित् आने वाली करुणासभर नियति को भी हम देख सकते हैं। एक क्षण के लिये भ्रमर स्वरूप प्रियतम का चुम्बन प्राप्त करके परित्यक्त होने वाले शिरीषपुष्प हो या कोई भी स्त्रीपात्र हो, वह सभी दयनीय अवस्था में आ जाते हैं। मेनका के साथ क्षणिक संग करके राजर्षि विश्वामित्र ने उसका त्याग कर दिया था – यह बात शकुन्तला के अन्तःकरण में गूढ रूप से अंकित हो गई है। अतः वह अपने कर्णाभूषण के रूप में शिरीषपुष्प को सदैव धारण कर रही है। इस तरह से नटीगीत की व्यंजना शकुन्तला के जन्मवृत्तान्त का मर्मभेदन करने वाली है। माता मेनका जैसी जो भी स्त्रियाँ समाज में अपने पति से परित्यक्त है, उसके प्रति दया प्रदर्शित करने का यही एक सुकुमार मार्ग था। षष्ठांक में, नाट्यकार्य का विकास होने पर हम देखेंगे कि नायक दुष्यन्त को शकुन्तला के संवित् में अंकित इस भाव का पूर्ण रूप से ज्ञान हो गया है। अतः वहाँ (षष्ठांक में) वह कहता है कि चित्र में अलिखित शकुन्तला के कानों में शिरीष पहने हो ऐसा मुझे दिखाना अभी अवशिष्ट रहा है।[17]

नटी के द्वारा प्रस्तुत हुए गीत में शिरीष पुष्प, दयमाना प्रमदायें और भ्रमर–

इन तीनों का निर्देश होते हुए भी कुछ विद्वानों ने ''दयमाना प्रमदाओं'' से माता मेनका का सूचन हो रहा है, ऐसा कहा है।[18] लेकिन यह मत एकदेशीय प्रतीत होता है। अन्य विद्वानों ने केवल भ्रमर की ओर ध्यान देते हुए उसमें दुष्यन्त का चरित व्यंजित हो रहा है ऐसा माना है। किन्तु ''भ्रमरों से क्षण के लिये चुम्बन प्राप्त करने वाले शिरीष पुष्पों के प्रति दया दिखाने वाली प्रमदायें'' यहाँ उद्देश्य कोटि में हैं। अतः नायिका के पक्ष से साकल्येन स्त्रीजीवन की करुणासभर नियति को ही देखना अनिवार्य है ऐसा प्रतीत होता है। तथा परित्यक्त शिरीषपुष्पों पर दया दिखाने वाली प्रमदा से यदि मेनका का सूचन हो रहा है, ऐसा माना जाय तो भी, व्यंजना का व्यापार तो दीर्घ, दीर्घतर होके विस्तृत हो जाता है। अतः यहाँ इतना जोड़ना चाहिये कि मेनका का सूचन होने के उपरान्त यहाँ स्त्रीमात्र के जीवन की करुणापूर्ण नियति को उद्दिष्ट करके शकुन्तला के चित्त में जो भावना उदित हुई है, या कहो कि प्रदीप्त है, उसी को वाचा देने के लिये कवि ने ही कहा है कि नायिका कर्णाभूषण के रूप में शिरीषपुष्पों को धारण कर रही है। इसका समर्थन करने के लिये कुछ अन्य सन्दर्भों का स्मरण भी करवाना आवश्यक है। जैसे कि - तृतीय अंक में, शकुन्तला को इस बात की जानकारी है कि राजा लोग बहुवल्लभाओं वाले होते हैं। तथा चतुर्थ अंक में, पिता कण्व राजगृह (ससुराल) को जा रही अपनी पुत्री को गृहिणी के रूप मे सफल होने के लिये जो उपदेश देते हैं उसमें कहा है कि तुम अपने सपत्नीजनों के प्रति प्रिय सखी जैसा व्यवहार करना[19]। हस्तिनापुर के अन्तःपुर में राजरानी बन कर जा रही अपनी पुत्री को पिता ने उपर्युक्त सलाह देकर, प्रकृति में पली शकुन्तला में जो संवेदना सहज रूप से अनुस्यूत थी, उसी का दृढ़ीकरण किया है।

2-2 महाकवि कालिदास ने शिरीष-पुष्प एवं चूतमञ्जरी के दुःख को समझने वाली और इन सबको अपने कर्णों का आभूषण बनाने वाली नायिका के लिये कमल का प्रतीक रखा है। प्रथमांक में ही नायिका को वल्कल से परिवेष्टित देखकर दुष्यन्त ने उसके लिये सिवास से घिरे कमल की उपमा दी है[20]। और,

तत्पश्चात् जब भ्रमरबाधा प्रसंग का निरूपण होता है तब स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने शकुन्तला के लिये कमल का प्रतीक ही प्रयुक्त किया है। राघवभट्ट कहते हैं कि भ्रमरबाधा प्रसंग से नायिका का पद्मिनीत्व व्यंजित हो रहा है।[21] भारतीय जनमानस जानता है कि राजलक्ष्मी कमल में ही प्रतिष्ठित होती है। पञ्चमांक के आरम्भ में आने वाले हंसपदिका के गीत में[22], भ्रमर से चुम्बित ''चूतमञ्जरी'' हंसपदिका का प्रतीक बनती है। क्योंकि दुष्यन्त का मात्र कमल में ही निवास करने का जो उल्लेख हो रहा है, उसको सुनकर नाटक को देख रहे प्रेक्षकों के अन्तःकरण में तो ''कमल'' अर्थात् शकुन्तला ही ऐसा अर्थबोध प्रकट होता है। (अलबत्त, शापग्रस्त दुष्यन्त के चित्त से शकुन्तला विस्मृत हो गई है, इसलिये रंगभूमि पर स्थित दुष्यन्त को अकल्प्य भ्रान्ति में, कमल याने रानी वसुमती ऐसा विकृत अर्थबोध होता है।[23]) दुष्यन्त रूप भ्रमर शकुन्तला रूप कमल को प्राप्त करके, उसमें कैद (सुस्थिर) हुआ ही है, और उसकी साक्षी तो हंसपदिका का गीत ही दे रहा है। क्योंकि इस गीत को सुनकर ही उसको जो जननान्तर का सौहृद याद आ रहा है वह भी शकुन्तला के प्रेम को ही लक्षित कर रहा है। जब दुष्यन्त धीवर से अङ्गुलीयक प्राप्त करके, षष्ठांक में शकुन्तला की याद में उसका चित्रांकन करता है, तब प्रथमांक में उसने जो भ्रमरबाधा प्रसंग के क्षणों का अनुभव किया था, उसी का वह पुनःस्मरण करता हुआ चित्र आलिखित करता है। इस मौके पर राजा के भाव में आकर दुष्यन्त आदेशात्मक वाणी में भ्रमर को कहता है कि रतोत्सव में जिन अधरोष्ठ का मैंने रसपान किया था, यदि तू उसका चुम्बन करेगा तो मैं तुम्हें कमलोदर के बन्धन में डाल दूँगा। (अ.शा. 6-20) तीसरे अंक में कवि ने शकुन्तला के प्रसाधनों का वर्णन किया है, उसमें भी कहा है कि शकुन्तला मृणाल-वलय पहनाना बाकी है, ऐसा कहता है।[25] ऐसे अनेक सन्दर्भों से यह सिद्ध होता है कि समग्र नाटक में शकुन्तला के लिये कमल का प्रतीक ही प्रयुक्त किया गया है।

बंगाली वाचनावाले अभिज्ञानशकुन्तल में गान्धर्व-विवाह को वर्णित करने वाले तृतीयांक में शकुन्तला अपने कानों में उत्पल को धारण किया है – ऐसा कहा

गया है। सामान्यतः शकुन्तला अपने कानों में शिरीष-पुष्प पहनती थी, तो फिर उसने आज क्यूं उत्पल को धारण किया था ? ऐसा कौतुकपूर्ण प्रश्न होगा ही। इसका उत्तर यही है कि जिस दिन उसका गान्धर्व-विवाह होने वाला है, उस दिन तो दुष्यन्त रूप भ्रमर को सुबद्ध करने के लिये कमल ही होना आवश्यक था। अतः कवि ने वहाँ जिस पुष्प की परागरज से शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होती है ऐसा कहा है, वह कर्णोत्पलरेणु[26] के गिरने से दृष्टि को कलुषित होने को कहा है।

2-3 इस नाट्यकृति में प्रयुक्त विविध पुष्पों के प्रतीकों को समझने के बाद, अब नटीगीत से आरम्भ करके अनेक स्थान पर जो भ्रमर का उल्लेख हुआ है उसकी पर्यालोचना करनी चाहिये। विद्वन्मतानुसार दुष्यन्त को भ्रमर ही कहा गया है। लेकिन समग्र कृति में बार-बार उल्लिखित भ्रमर का प्रतीक सार्वत्रिक रूप से क्या सचमुच में नायक के किसी एक ही स्वभाव का द्योतन करता है ? यह प्रष्टव्य है। क्योंकि महाकवि ने सर्वत्र भ्रमर का दुष्यन्त के साथ सर्वदा अभेद करके निरूपण नहीं किया है। इस नाट्यकृति में कुल मिलाकर पाँच बार भ्रमर का उल्लेख हुआ है। अतः इन सभी उल्लेखों के उपलक्ष्य में भ्रमर के प्रतीक से व्यक्त होने वाले व्यंग्यार्थ का पुनर्विचार करना जरूरी है।

नटी-गीत में तथा हंसपदिका के गीत में जो भ्रमरोल्लेख है, वह उसके चंचल (व्यभिचरित होने वाले) स्वभाव का द्योतक है। लेकिन नटी-गीत का भ्रमर राजर्षि विश्वामित्र है। अथवा वह पुरुषमात्र का वाचक है। कवि ने इस उल्लेख से आमसमाज की एक समस्या की ओर प्रेक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है। नायक रूप भ्रमर यदि नायिका के साथ एक क्षण का ही संयोग करके उसको छोड़ देता है, तो उस क्षणिक संयोग से पैदा होने वाली संतति के अभिज्ञान का प्रश्न खड़ा होता है। स्त्री-जीवन की यह सबसे बड़ी समस्या है। अतिगूढ़ आशय वाले इस भ्रमरोल्लेख की समाधि षष्ठांक में सिद्ध होती है। विरहसंतप्त दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बना रहा है। वहाँ, षष्ठांक के श्लोक 18 में नायक दुष्यन्त कहता है[27] कि मुझे चित्रांकित शकुन्तला के कानों में अभी शिरीषपुष्प पहनाना बाकी है। दुष्यन्त के

मन में जगी इस इच्छा का ध्वन्यर्थ ऐसा है कि शकुन्तला के चित्त में स्त्रियों के प्रति जो करुणापूर्ण भावना सदैव विलसित रहती थी (और जो सबसे पहले नटी-गीत में व्यक्त की गई थी, और इसीलिये शकुन्तला अपने कर्णाभूषण के रूप में शिरीषपुष्पों को धारण करती थी) उस भावना को दुष्यन्त ने समझ लिया है। विकसित हुए नाट्यकार्य का यह एक उन्मेश है।

दूसरी ओर हंसपदिका के गीत में जो अभिनवमधुलोलुप मधुकर (भ्रमर) है वह निश्चित रूप से दुष्यन्त है। किन्तु यह उल्लेख दुष्यन्त का स्वभाव स्थायी रूप से ही चंचल है ऐसा कहने वाला सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ हंसपदिका के द्वारा उपालम्भ देने के आशय से दुष्यन्त को ''मधुकर'' कहा गया है। और उपालम्भ के रूप में कही गई बात सर्वदा सच्ची नहीं भी होती है।

तीसरा स्थान है, प्रथमांक का भ्रमरबाधा-प्रसंग। कवि ने यहाँ पर भ्रमर को दुष्यन्त के प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रस्तुत किया है।[28] मतलब कि कवि ईर्ष्या रूप संचारी भाव प्रदर्शित कर शृंगार का परिपोषण करना चाहते हैं। नायिका को प्राप्त करने में जहाँ स्पर्धा का भाव होता है, वहाँ नायक और प्रतिनायक में सदैव भेद ही रहता है। जिस निरूपण में दुष्यन्त और भ्रमर के बीच में अभेद नहीं दिखाया है, वहाँ भ्रमर दुष्यन्त का प्रतीक बनता है, ऐसा नहीं कहा जाएगा। अतः भ्रमरबाधा-प्रसंग में आया भ्रमर दुष्यन्त के चंचल स्वभाव का द्योतक नहीं बन सकता है। यह बात दूसरी तरह से भी, अर्थात् चौथे स्थान पर आये भ्रमरोल्लेख से भी समर्थित होती है। प्रथमांक के भ्रमरबाधा दृश्य के सामने षष्ठांक में इसी का प्रतिदृश्य कवि ने खड़ा किया है, वह द्रष्टव्य है। षष्ठांक में, अङ्गुलीयक मिलने से राजा को शकुन्तला का स्मरण हो जाता है। तब वह उसका एक चित्र बनाता है, उस चित्र में भी भ्रमर उपस्थित है। यहाँ पर भ्रमर को सम्बोधित करते हुए दुष्यन्त दो श्लोक बोलता है। उसमें से एक (6-20) श्लोक में वह भ्रमर को कहता है कि शकुन्तला के जिस अधरोष्ठ का मैंने रसपान किया है, उसको तूं यदि स्पर्श करेगा तो मैं तुम्हें कमलोदर के बन्धन में डालूँगा। यहाँ पर देखेंगे तो विरह की स्थिति में ईर्ष्या रूप संचारी भाव

का ही आलेखन करने के लिये भ्रमर को प्रतिनायक के रूप में फिर से निरूपित किया है। अर्थात् यहाँ पर भी दुष्यन्त के चञ्चल स्वभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये भ्रमर का उल्लेख नहीं हुआ है।

पाँचवे स्थान पर, (याने षष्ठांक के ही श्लोक 6-19 में भी) जो भ्रमरोल्लेख है उसको देखने से भी मालूम होगा कि प्रथमांक में जो नायक(दुष्यन्त) शकुन्तला के वदन पर उड़ते हुए भ्रमर का प्रतिस्पर्धी बना था, वही नायक अब षष्ठांक में भ्रमर का उपदेष्टा बनके खड़ा है। दुष्यन्त चित्र में आलिखित भ्रमर का इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है कि,

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥ अ.शा. 6-19

कुसुम पर बैठी हुई तेरी मधुकरी तृषित होने के बावजूद भी मधु का रसपान नहीं कर रही है। विपरीत लक्षणा से यहाँ सोचेंगे तो स्पष्ट होगा कि दुष्यन्त को अब अपनी शकुन्तला का ही स्मरण हो रहा है। अतः भ्रमर के उपदेष्टा बने दुष्यन्त ने एकाकी घूम रहे उस भ्रमर को, बल्कि मधुकर को, उसकी मधुकरी की ओर ध्यान देने की सलाह दी है। कवि के उपर्युक्त शब्दों को देखते हुए, रसज्ञ भ्रमर को अपनी तृषिता मधुकरी का सम्यक् दर्शन एवं पुनः स्मरण हो गया है ऐसा कहना ही अधिक उचित है। ऐसा व्यंग्यार्थ टीकाकार नरहरि के अन्तःकरण में स्फुरित हुआ भी था।[29] उन्होंने लिखा है कि शकुन्तला भी भ्रमरी की तरह दुष्यन्त की अपेक्षा रखती है। इस तरह प्रस्तुत मधुकर को रसपान में यदि मधुकरी का साहचर्य अपेक्षित है ऐसा ध्यान में आ गया हो तो उसमें दुष्यन्त के ही दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ देखना चाहिये। विकसित हुए नाट्यकार्य की यह धन्य क्षण है कि जिसमें दुष्यन्त स्वरूप मधुकर मधुकरी के स्वरूप में शकुन्तला को ही याद कर रहा है। सामान्यतः भ्रमर को चंचल स्वभाव का ही प्रतीक माना गया है, किन्तु महाकवि को इस तरह से भ्रमर का उपयोग करना जहाँ अभीष्ट है (नटी-गीत एवं हंसपदिका-गीत में), वहाँ (अनुक्रम से) शिरीषपुष्प एवं आम्रमञ्जरी के साथ भ्रमर का उल्लेख

किया है। किन्तु 6-19 श्लोक में तो किसी पुष्प-विशेष का निर्देश नहीं है, केवल "कुसुम" शब्द का ही प्रयोग है। यहाँ, अङ्गुलीयक मिल जाने के बाद, दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनः स्मरण हो गया है, तथा उसकी याद में उसने चित्रांकन के दौरान हृद्-गत भावनायें व्यक्त की हैं, उनको सुनकर सानुमती को भी लगता है कि शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने का दुःख प्रमार्जित कर दिया है।[30]

इस तरह भ्रमरोल्लेख के पाँचों सन्दर्भों को ध्यान में लेकर सोचेंगे तो प्रतीत होगा कि महाकवि को भ्रमर का उल्लेख सर्वत्र चाञ्चल्य के प्रतीक के रूप में ही करना अभिप्रेत नहीं है। उसका सही सम्बन्ध तो मात्र नटी-गीत में बुनी हुई शकुन्तला की गूढ़ संवेदना के साथ ही जोड़ना उचित है। तथा षष्ठांक में विकसित हुए नाट्यकार्य के अनुसार, चतुर्थ एवं पञ्चम बार का भ्रमरोल्लेख – मधुकरोल्लेख – ही दुष्यन्त के चरित को समझने के लिये निर्णायक बनता है।

3-0 नाटक के तीन गति-निर्देशों में से नटी-गीत का विचार करने के बाद, अब प्रथमांक में नाटक का जो चरम लक्ष्य प्रकट रूप में कहा गया है उसी की ओर ध्यान देंगे। मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त के प्रवेश से प्रथम दृश्य का आरम्भ होता है। दुष्यन्त मालिनी नदी के तट पर घूमते फिरते मृग पर शर-सन्धान करता है। किन्तु कण्व मुनि के शिष्यों ने राजा को सावधान किया कि यह आश्रम का मृग है, उसका वध नहीं करना चाहिये। धर्मभीरु दुष्यन्त ने इनकी बात को स्वीकार किया और अपने बाण का संहरण कर लिया। इस सत्कृत्य के लिये राजा को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो ऐसे आशीर्वचन दिये जाते हैं। यहाँ दुष्यन्त आश्रम के मृग का शिकार तो नहीं करता है, लेकिन कण्व की पोषिता कन्या शकुन्तला को देखकर उसकी ओर आकृष्ट तो जरूर होता है। और तीसरे अंक तक जाते-जाते इन दोनों का प्रणय गान्धर्व-विवाह में परिणत भी होता है। इस तरह सभी काव्यरसिकों को शुरूआत से ही मालूम हो जाता है कि महाकवि ने शकुन्तला के लिये हरिणी का प्रतीक उपयोग में लिया है। यहाँ इस हरिण के प्रतीक के द्वारा महाकवि ने 1. दुष्यन्त के सामने उपस्थित होने वाली शकुन्तला के स्वभाव की अभिव्यंजना की

है, और 2. आगे चलकर शकुन्तला और हरिण के जीवन की पूर्ण रूप से समरसता खड़ी करके, चतुर्थांक में करुण रस की वेदना को तीव्रतर बनाया है ॥

3-1 प्रथमांक में, जहाँ दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति के आशीर्वाद दिये जाते हैं, वहाँ आश्रम के मृग के लिये जो ''अनागस'' (निष्पाप) शब्द[31] का प्रयोग किया गया है, वह साभिप्राय है। साहित्यकृति में पात्रों के निश्चित प्रकार के स्वभाव को व्यक्त करने के लिये कवियों के द्वारा कदाचित् प्रतीकों की योजना की जाती है[32]। महाकवि कालिदास ने भी यहाँ नायिका शकुन्तला का स्वभाव निष्पाप, निष्कपट और भला-भोला है यह व्यंजित करने के लिये मृग के लिये अनागस शब्द का प्रयोग किया है। उसके बाद, समग्र कृति में इसी प्रतीक का सातत्यपूर्वक विनियोग करके शकुन्तला के जीवन को वर्णित भी किया है[33]। इसलिये नाटक की पात्रसृष्टि के एक पात्र के रूप में रंगभूमि पर हरिण का बार-बार प्रवेश होता है। कवि की इस प्रतीक-योजना को बारिकी से समझने के लिये इन सभी रसप्रद प्रसंगों का अवलोकन करना चाहिये। तृतीयांक में, लता-वलय में नायक-नायिका को एकान्त प्रदान करने के लिये प्रियंवदा और अनसूया वहाँ घूम रहे एक मृगशिशु को देखकर कहते हैं कि यह अपनी माता से बिछड़ा हुआ लगता है, चलो हम उसकी माँ के साथ उसका संयोजन करवाते हैं[34]। यहाँ संयोजन करवाने की बात ध्वनिपूर्ण है। चतुर्थ अंक में, पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही शकुन्तला मुनि की झोपड़ी के पास मन्थरगति से फिरती हुई एक सगर्भा मृगी को देखती है। वह अपने पिता से कहती है कि इस मृगी को जब सुखपूर्वक प्रसव हो जाय तब इस प्रिय वृत्तान्त का निवेदन करने के लिये किसी को मेरे पास भेज देना[35]। महाकवि ने यहाँ नाट्यात्मक वक्रता का विधान करने के लिये रंगभूमि पर मृगी को उपस्थित की है। जो निसर्ग-कन्या स्वयं आपन्नसत्त्वा है, फिर भी आश्रम के मृगों की इतनी चिन्ता में निमग्न रहती है, उसके भाग्य में तो कुछ विपरीत ही लिखा है। इसी के दौरान उसको मालूम होता है कि उसका वस्त्र कोई पीछे से बार-बार खींच रहा है। शकुन्तला पूछती है कि कौन मेरा पल्लू खींच रहा है ? तब पिताजी बताते हैं कि

कण्टक लग जाते थे तो तूं उसको इंगुदी के तेल का लेपन कर देती थी। और जिसको तूं निवार के दानें खिलाती थी। वह मृग आज तेरा मार्ग रोक रहा है। शकुन्तला इसको कहती है कि मैं तो तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ, परन्तु पिताजी अब से तेरी देखभाल करेंगे। महाकवि ने यहाँ चतुर्थ अंक में, शकुन्तला-विदाय के प्रसंग में एक सगर्भा मृगी और दूसरा मातृसुख-वञ्चित दीर्घापांग नामक मृग को उपस्थित किया है। शकुन्तला के वर्तमान जीवन को निरूपित करने के लिये मृग के प्रतीक का इससे बेहतर प्रयोग ओर क्या हो सकता है? इसी तरह से पंचम अंक में भी शकुन्तला ने यही दीर्घापांग मृग को याद किया है। और कहा है कि एकदा वे दोनों जब साथ में बैठे थे और दुष्यन्त ने मृग को पानी पिलाने की कोशिश की थी तब दीर्घापांग ने दुष्यंत के हाथ का पानी नहीं पिया था[36]। इस तरह ये दोनों मृग नाट्यसृष्टि के वास्तविक पात्र के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। साथ में वे शकुन्तला के प्रतीक भी हैं, अतः ये दोनों सन्दर्भ व्यंजना-सभर भी बनते हैं। जैसे कि शकुन्तला के ससुराल जाने से आश्रम-मृगी निराधार बन रही है वैसे ही वर्तमान में सगर्भा शकुन्तला की जिंदगी भी असहाय होने जा रही है। दूसरा दीर्घापांग नामक मृग मातृसुख-वंचित शकुन्तला की भी जिंदगी करुणापूर्ण है ऐसा व्यक्त कर रहा है। अर्थात् ये दोनों मृग यहाँ उद्दीपक विभाव बनके करुणरस का परिपोष करते हैं। एवम्, इसी दीर्घापांग मृग ने जो शकुन्तला का पल्लू खींचा था ऐसा कहा गया है, और उसने दुष्यन्त के हाथ का पानी नहीं पिया है - उसमें से ऐसी ध्वनि निकलती है कि यह मृगशिशु जान गया है कि शकुन्तला का पति के गृह में स्वागत नहीं होगा[37] (बेलवालकर, 1962)। अतः वह उसको वहाँ जाने से रोकने के लिये ही उसका पल्लू खींच रहा था। इस तरह पूरे नाटक में जहाँ जहाँ शकुन्तला के आस-पास मृगों का निर्देश है, वहाँ वे नाटक की पात्रसृष्टि के जीवन्त पात्र के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, एवं वे शकुन्तला के प्रतीक भी होने के कारण शकुन्तला के असहाय एवं निराधार जीवन की भावि करुणता को भी अभिव्यक्त कर रहे हैं।

3-2 नाटक के आरम्भ में दुष्यन्त ने आश्रम के मृग को नहीं मारकर

चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति के आशीर्वाद प्राप्त किये थे। लेकिन यहाँ तात्त्विक दृष्टि से सोचें तो स्थूल मृग के शिकार को छोड़ देना पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि मृग यदि शकुन्तला का प्रतीक है तो दुष्यन्त ने जो शकुन्तला का प्रत्याख्यान किया है, वह आश्रम–मृग को मारने के समान ही कर्म था। अतः अब देखना यह होगा कि दुष्यन्त को कब शकुन्तला की, एवं चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होती है। इस तरह के विकसित हुए नाट्यकार्य की झाँखी षष्ठांक में होने वाली है। अंगुलीयक की प्राप्ति हो जाने से दुर्वासा का शाप निवृत्त हो जाता है। और दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण होता है। तब उस प्रत्याख्यान समय के शकुन्तला के शब्द, तिरस्कार दिखाती हुई शकुन्तला की आँखें – यह सब कुछ दुष्यन्त की दृष्टि के सामने आ जाते हैं। अब दुष्यन्त को भारी संताप हो रहा है, सांसारिक कोई चीज उसको आनन्द नहीं देती है। शकुन्तला के बिना संसार असार लगता है, इसलिये उसने सभी उत्सव बंद करवा दिये हैं। इस तरह के विरहालेखन को देखकर ऐसा सोचना पर्याप्त नहीं होगा कि शृंगार को वर्णित करने के लिये ही दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण करवाया है। वस्तुतः षष्ठांक को बारिकी से देखने से मालूम होता है कि कालिदास ने पहले तीनों अंकों में नायक–नायिका का बाह्य मिलन दिखाया है, लेकिन अब वे इन दोनों के आभ्यन्तर मिलन को सिद्ध करने के लिये सन्नद्ध हुए हैं। इस सन्दर्भ में षष्ठांक के 1. कार्या सैकतलीनहंसमिथुना...(6/17), 2. कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे... (6/18) एवं, एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती... (6/19) – इन तीन श्लोकों को पुनः पुनः देखने की परम आवश्यकता है। क्योंकि महाकवि ने यहाँ हंस–मिथुन, हरिण–हरिणी, शकुन्तला के कर्णाभूषण बने शिरीष पुष्प तथा कमल एवं भ्रमर जैसे केन्द्रवर्ती सभी प्रतीकों का एक ही स्थान पर संनिवेश किया है। और एक ही स्थान पर सभी महत्त्वपूर्ण प्रतीकों का क्रमशः विनियोग करके, महाकवि ने विकसित हुए नाट्यकार्य का यहाँ पर हृदयस्पर्शी उद्घाटन किया है।

यहाँ आमतौर पर सभी विवेचकों ने ऐसा ही कहा है कि महाकवि ने षष्ठांक में, विप्रलम्भ शृंगार का आलेखन करने के आशय से दुष्यन्त को शकुन्तला

का चित्र बनाते हुए वर्णित किया है। किन्तु इस चित्रांक के दौरान ही हम नायक-नायिका के अपेक्षित उत्कृष्ट आन्तरिक/आभ्यन्तर मिलन को सिद्ध होता हुआ देखते हैं। यहाँ विदूषक दुष्यन्त को पूछता है कि चित्र में दोनों सखियों के साथ शकुन्तला का चित्र तो बन गया, अब उसमें क्या क्या बनाना बाकी है ? तब दुष्यन्त कहता है कि (इस चित्र में मुझे अभी) जिसकी बालुका में हंसमिथुन रममाण हो ऐसी जल से भरी मालिनी नदी चित्रित करनी है। उस नदी के पृष्ठ भाग में (माता) पार्वतीजी के पावनकारी पिता हिमालय की गोदी में हरिण बैठे हो ऐसा दिखाना है। उसके साथ साथ, जिसकी शाखाओं पर (शकुन्तला के) वल्कल-वस्त्र टाँगे गये हों ऐसे वृक्ष के अधोभाग में (स्थिर खड़े) कृष्णमृग के शींग पर (अपनी) बाँई आँख खुजलाती हुई मृगी भी चित्रित करने की मेरे मन में चाहत है। (अ. शा. 6/17) यहाँ अभिलषित चित्र की सभी चीजों का वर्णन बहुत व्यंजना पूर्ण है। यह श्लोक अब नायक दुष्यन्त जिस स्वरूप में शकुन्तला को आत्मसात् कर रहा है उसी को वाचा प्रदान करने वाला है। महाकवि ने इस नाटक के मुख्य नाट्यकार्य को समझने की गुरुचावी यहाँ रखी है :-

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्ताम् अभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानाम् मृगीम्॥ (अ.शा. 6/17)

इस श्लोक की अन्तिम पंक्ति में कहा गया है कि जिस आश्रमवृक्ष की शाखाओं पर (शकुन्तला के) वल्कलवस्त्र टाँगे गये हों, वहीं पर (वृक्ष की शीतल छाया में) एक हरिण ऐसा बनाना है, जो न केवल अक्षुब्ध, परन्तु विश्वसनीय हो, ताकि उसी के शृंग पर बगल में खड़ी हरिणी अपने वामनेत्र को विश्रब्ध होकर खुजला सके। इन शब्दों के वाच्यार्थ से प्रेक्षकों के मनोजगत् में एक नयनरम्य चित्र तो खड़ा होता ही है। किन्तु उसका व्यंग्यार्थ भी दुष्यन्त के हृद्गत मर्म को उद्घाटित करने वाला है। एक मृगी के लिये मृग इतना विश्वसनीय होना चाहिये कि उसके नोंकिले

शींग पर भी यदि वह अपना नाजुक नेत्र खुजलायेगी तो भी वह मृग तनिक भी नहीं हिलेगा, और उसके नेत्र को हानि नहीं होने देगा। ऐसी उसके अन्तःकरण की दृढ़ प्रतीति होने पर ही वह मृगी अपने पास खड़े मृग के शींग पर नेत्र की खुजलाहट को दूर करेगी। यहाँ एक विश्वसनीय हो ऐसे मृग का चित्र बनाने की जो चाहत दुष्यन्त को हो रही है वह मृग और कोई नहीं है, वह स्वयं दुष्यन्त ही है। मृग के निमत्त से दुष्यन्त ही अपनी नयी पहचान बनाना चाहता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के नाट्यकार्य को समझने के लिये उपर्युक्त सन्दर्भ न केवल ध्यानार्ह ही है, अनिवार्य भी है। इस श्लोक से सूचित होता है कि अङ्गुलीयक पुनः प्राप्त हो जाने के बाद, विरहसंतप्त दुष्यन्त को अब शकुन्तला का नया, अथवा कहो कि सही अभिज्ञान (पहचान) मिल गया है। आश्रम के इस मृग का हनन तो करना ही नहीं है, उसका तिरस्कार (प्रत्याख्यान) भी नहीं करना है। बल्कि उसके जीवन को पूरा सहारा ही देना है। यह बात ठीक तरह से दुष्यन्त को अवगत हो गई है। जीवन की यह नयी समझदारी उपर्युक्त श्लोक के अन्तिम चरण से ध्वनित होती है। प्रथमांक में शकुन्तला ने जिस नवमालिका, अपर नाम वनज्योत्स्ना को सहकार वृक्ष का अवलम्बन मिलने की बात से प्रसन्नता दिखाई थी[38] उसी की परिणति अब नायक-नायिका के जीवन में सिद्ध होती यहाँ दिखाई गई है। शिकारी बनकर तो दुष्यन्त कदापि नायिका शकुन्तला को प्राप्त नहीं कर सकेगा। हरिणी स्वरूपा शकुन्तला को प्राप्त करने के लिये तो उसे विश्वसनीय हरिण ही बनना पड़ेगा। क्योंकि "सर्वः सगन्धिषु विश्वसिति" ऐसा दुष्यन्त ने ही उच्चरित किया हुआ जो सत्य था, वह अब उसको पूर्ण रूप से आत्मसात् हो गया है। अतः अनागस हरिणी जैसी प्रेम भरी शकुन्तला को सर्वथा आश्वस्त जीवन प्रदान करने वाला पति बनने को अब वह उद्यत हो गया है। उसको दाम्पत्य जीवन में पति के रूप में अपनी भूमिका कैसी होनी आवश्यक है वह समझ में आ गया है। दुष्यन्त को शकुन्तला का एवं अपना इस तरह का अभिज्ञान जो मिला है वह अङ्गुलीयक

रूप अभिज्ञान से अधिक सूक्ष्म एवं उन्नततर है, और कवि को भी यही अभिज्ञान आविष्कृत करना अभीष्ट है।

उपर्युक्त श्लोक में शार्दूलविक्रीडित वृत्त का विनियोग किया गया है। शार्दूल याने सिंह, सिंह की विक्रीडित गति याने चार कदम आगे चलकर फिर वापस घूम कर पीछे की ओर देखना – पश्चाद्वर्ती मार्ग का पुनः परीक्षण कर लेना – ऐसी सतर्क गति दुष्यन्त में यहाँ देखी जाती है। अङ्गुलीयक मिल जाने के बाद दुष्यन्त भूतकाल में (अंक पाँच में) खुद से जो अनजान में गलतियाँ हुई थीं उसका पुनरीक्षण करता है। और उसका अवमर्श करके अपने व्यक्तित्व में जिन बदलाव की आवश्यकता है उन सबको संकल्पित चित्र के बहाने वह शब्दबद्ध कर रहा है। महाकवि कालिदास ने इसीलिये उपर्युक्त श्लोक में "कार्या" (विध्यर्थ कृदन्त) शब्द का प्रयोग किया है, और उसी को पदक्रम की दृष्टि से भी सर्वप्रथम रखा है – वह बहुत सूचक है।

यहाँ समग्र निरूपण का मर्म ऐसा दिखता है कि दुष्यन्त को शिकारी बनने से हरिणी स्वरूपा शकुन्तला नहीं मिल सकेगी। शिकारी दुष्यन्त में रहे भोक्तृत्वभाव को कवि ने यद्यपि आरम्भ में ही शब्दबद्ध किया है, जो यहाँ स्मर्तव्य है :- "शकुन्तला तो अनाघ्रात पुष्प है, नखों से नहीं तोड़ा गया किसलय है, सूचि से अनाविद्ध रहा रत्न है, और अनास्वादित नया मधु है। यह निष्पाप रूप तो मानो कि अखण्ड पुण्यों के फलस्वरूप है। न जाने विधाता इस रूप को किस भोक्ता को उपस्थित करेगा।"[39] इस श्लोक में कहे गये दुष्यन्त का जो भोक्तृत्व और शकुन्तला का भोग्यत्व रूप स्वरूप है, उसमें एक नया उन्मेश प्रकट होता हुआ दिखाई देता है। हरिण बनकर खड़े दुष्यन्त में भोक्तृत्व भाव अब विगलित हुआ है और वह स्वयं भोग्य की कोटि में आकर खड़ा है। यहाँ शिकारी एवं हरिणी में जो विसंवाद था वह नितान्त रूप में विगलित होकर पूर्ण संवाद की भूमिका का निर्माण हुआ है। इस तरह से यहाँ हरिण के प्रतीक के द्वारा नये विकसित हुए नाट्यकार्य को व्यंजित होता हम देख सकते हैं[40]। इस नव विकसित नाट्यकार्य के कारण ही

नाटक के पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की ओर आगे-कदम शुरू होता है। (अनेक विद्वानों को षष्ठांक बहुत लम्बा लगता है, लेकिन इसके कारणों की मीमांसा करने का धैर्य शायद किसीने नहीं दिखाया है)।

4-1 अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के आरम्भ में आये 1. नटी-गीत, 2. चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति के आशीर्वाद और 3. पिता कण्व मुनि के द्वारा की गई सोमतीर्थ की यात्रा के निर्देश ध्यान में लेते हुए यहाँ प्रस्तुत कृति का नाट्यकार्य समझने का उपक्रम रखा है। उसमें अब सोमतीर्थ की यात्रा का कारण और उसका क्या फल है ? वह विवेचनीय है। इस नाटक में, दुष्यन्त शकुन्तला को देखे या मिले उससे भी पहले कहा गया था कि इस कन्या के प्रतिकूल दैव का शमन करने के लिये पिता कण्व सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हैं। महाकवि ने प्रतिकूल दैव क्या है ? वह नहीं कहा है। किन्तु काल के गर्भ में छिपा हुआ कोई दुर्दैव है जरूर। इस तरह प्रथमांक में जिसका कौतुकाधान किया था वह दुर्दैव चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में सुनने को मिलता है। दुष्यन्त हस्तिनापुर के लिये चल पड़ा है तब, उसी दिन, उसके विचारों में तल्लीन शकुन्तला आश्रम के प्रांगण में अतिथि के रूप में आये दुर्वासा की आवाज नहीं सुन पाती है। अतः सुलभकोप दुर्वासा "तूं जिसके विचारों में खोई हुई है वह याद दिलाने पर भी तुझे याद नहीं करेगा"[41] ऐसा शाप दे देते हैं। इस तरह दुर्वासा का शाप ही शकुन्तला के दुर्दैव का प्रतीकात्मक स्वरूप धारण करता है। किन्तु पिता कण्व की सोमतीर्थ की यात्रा का क्या फल ? ऐसी जिज्ञासा का जो उत्तर है वह शक्रावतार तीर्थ के जल में निवास करने वाला मत्स्य है। इस मत्स्य ने शकुन्तला के अङ्गुलीयक को गहरे जल के नीचे, धरातल में चले जाने से पहले निगल लिया। यह मत्स्य ही पिता कण्व की शुभ-भावनाओं का मूर्तिमन्त प्रतीक बनता है। यदि यह अङ्गुलीयक उस मत्स्य के उदर में नहीं गया होता तो शकुन्तला का भविष्य हमेशा हमेशा के लिये अन्धेरे में चला गया होता। किन्तु कण्व की सोमतीर्थ की यात्रा का यह फल आता है कि वह अङ्गुलीयक मत्स्य के उदर में जाता है और पुण्यवशात् वहाँ से राजा दुष्यन्त के पास पहुँचता है। इस तरह

प्रतीकात्मक दृष्टि से देखा जाय तो दुर्वासा का शाप शकुन्तला के दुर्दैव का प्रतीक बनता है और मत्स्य के माध्यम से अङ्गुलीयक की पुनः प्राप्ति होना वह सोमतीर्थ की यात्रा का फल बनता है।[42]

4-2 शकुन्तला के अनिर्दिष्ट दुर्दैव का दूसरा एक स्वरूप विविध पक्षियों के प्रतीक से अभिव्यक्त हो रहा है उसकी भी आलोचना करनी आवश्यक है। शकुन्तला के जन्म की जो कथा है उससे हम जानते हैं कि माता मेनका ने शकुन्तला को जन्म देकर कण्व मुनि के आश्रम के पास तुरन्त ही त्याग दिया था। तब उस तपोवन के शकुन्तों (पक्षियों) ने उसको सुरक्षित रखते हुए, कलरव करके कण्व मुनि को वहाँ आकर्षित किया था। कण्व मुनि ने उस बच्ची को शकुन्तों से परिरक्षित देखकर उसका नाम "शकुन्तला" रख दिया। तत्पश्चात मेनका की उस संतान को कण्व मुनि ने अपने आश्रम में ले जाकर, उसका पालन-पोषण किया। परिणामतः शकुन्तला को भी द्विजत्व आ मिला। अतः शकुन्तला के जीवन की कहानी निरूपित करने के लिये महाकवि ने नाटक में क्रमशः कोकिल (परभृतिका), चक्रवाक-युगल, हंस-मिथुन तथा (मृत्तिका) मयूर जैसे पक्षियों का अनेकत्र उल्लेख किया है, जो सब प्रतीकात्मक बनते हैं। जैसे कि - तृतीयाङ्क में नायक-नायिका का जब एकान्त मिलन होने वाला था तब गौतमी वहाँ आ जाती है। वहाँ नेपथ्य से कहा जाता है कि - "चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्, उपस्थिता रजनी।" यहाँ कवि ने चक्रवाक पक्षी का उपयोग करके दोनों का वियोग सिद्ध किया। चतुर्थ अंक में, शकुन्तला जब पतिगृह जा रही है, तब उससे बिछड़ने का भाव सर्वत्र फैल गया है। सारा तपोवन शकुन्तला बिदा हो रही है, ऐसा देख कर संतप्त हो रहा है। वहाँ भी एक चक्रवाक उन्मुख हो कर शकुन्तला को देख रहा है और बगल में खड़ी चक्रवाकी उसको नहीं देख सकती है। क्योंकि उन दोनों के बीच में नलिनीपत्र आ गया था। चक्रवाकी को एक क्षण के लिये भी चक्रवाक का विरह सहन नहीं हो पाता, अतः वह रोने लगती है। उसको रोती देखकर शकुन्तला कहती है कि मुझे लगता है कि मैं भी पतिगृह जाने का दुष्कर कार्य ही कर रही हूँ।[43] अर्थात् मेरा भी

पतिगृह जाना मुश्किल सिद्ध होगा। यह सुनकर अनसूया उसे दिलासा देती है कि चक्रवाकी भी अपने प्रियतम के बिना ही, विषाद से दीर्घ रात्रि को कथमपि व्यतीत कर लेती है। उस तरह तुम भी बड़े दुःख को पार कर लोगी। मनुष्य को आशा का तन्तु ही-सब कुछ सह लेने की शक्ति देता है[44]। यहाँ शकुन्तला के जीवन में भी पति याद दिलाने पर प्रतिवचन नहीं देगा, और लम्बे विरह के बाद पुनर्मिलन होगा, यह चक्रवाक पक्षी के प्रतीक से ध्वनित किया जाता है। पञ्चम अङ्क में, दुर्वासा के शापवशात् दुष्यन्त को शकुन्तला विस्मृत हो गई है। शकुन्तला उसे बार-बार याद दिलाने की कोशिश कर रही है, तब दुष्यन्त उद्विग्न हो कर उसे ''परभृतिका की तरह किसी दूसरे की संतान मेरे वहाँ संवर्धित करने आयी हो''[45] ऐसा कह देता है। इन शब्दों से निर्दोष शकुन्तला के शिर पर निष्कारण परभृतिका का कलंक चढ़ाया जाता है। जैसे माता मेनका ने उसे जन्म देकर कण्व मुनि के आश्रम के पास छोड़ दिया था, उसी तरह से वह भी किसी दूसरे की संतान को दुष्यन्त के वहाँ ले आयी है – ऐसा कटाक्ष व्यंजित होते ही शकुन्तला के लिये असह्य हो जाता है। वह राजा को ''अनार्य'' ऐसा सम्बोधन करती है। शकुन्तला के अज्ञात भावि में छिपा हुआ जो दुर्दैव था वह यह था कि वह दुष्यन्त की धर्मपत्नी होते हुए भी, और दुष्यन्त का ही तेज गर्भ में लेकर पतिगृह आयी थी, फिर भी उसको एक क्षण के लिये तो ''परभृतिका'' शब्द का टोना सुनना पड़ा। किन्तु कण्व मुनि की सोमतीर्थ की यात्रा का फल उसे यह मिलता है कि वह दुष्यन्त के साथ हंस-मिथुन के रूप में रहने का सौभाग्य सिद्ध करती है। विरह में संतप्त दुष्यन्त षष्ठांक में, मालिनी नदी की सिकता में रममाण हो ऐसे एक हंसमिथुन को चित्रित करने की जो अभिलाषा व्यक्त करता है उसमें दुष्यन्त अपने भावि दाम्पत्य जीवन का स्वप्न देख रहा है। अथवा कहो कि जिस दुष्यन्त ने शापवशात् शकुन्तला को परभृतिका रूप में देखा था, उसी को अब उसका हंसी के रूप में सही अभिज्ञान मिल जाता है। इस तरह महाकवि कालिदास ने परभृतिका, चक्रवाक एवं हंसमिथुन जैसे पक्षियों का प्रतीकात्मक

निर्देश करके, शकुन्तला के दुर्दैव से भरे वर्तमान को और भावि सद्-भाग्य को क्रमशः अभिव्यक्त किया है।

5-1 स्वयं महाकवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में जो त्रिविध गति-निर्देश दिये थे उसी को देखते हैं तो मालूम होता है कि अब शिकारी और हरिण के बीच का विसंवाद रहा ही नहीं है। दुष्यन्त अब विश्वसनीय हरिण बनकर हरिणी स्वरूपा शकुन्तला के सामने खड़ा है। अतः आश्रम-मृग पर अब कोई अभिघात होने का सवाल ही नहीं पैदा होता है। भ्रमर भी कमल के अन्दर कैद हो गया है, अथवा अपने बिना मधुपान नहीं करने वाली और प्रतीक्षा करती तृषित बैठी मधुकरी के विषय में सभान हो गया है। तथा सोमतीर्थ की यात्रा के फलस्वरूप अङ्गुलीयक मिल जाने पर, विरहसंतप्त दुष्यन्त को शकुन्तला का सही (आन्तरिक) अभिज्ञान मिल जाता है। इसलिये सप्तमांक में निर्वहण सन्धि शुरू होती है, जिसमें शकुन्तला के पुत्र का अभिज्ञान और उसकी प्राप्ति पर्यन्त का आवश्यक नाट्यकार्य आगे बढ़ता है। महाकवि कालिदास ने नान्दी-श्लोक में भगवान् शिव के अभिज्ञान के रूप में उनकी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ प्रेक्षकों के सामने रखी थी, उसी तरह से शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन भरत भी दुष्यन्त का ही पुत्र है, उसके अभिज्ञान के रूप में आठ अभिज्ञान प्रस्तुत किये हैं[46] (द्विवेदी, 2004)। जैसे कि, 1. मारीच ऋषि के आश्रम में सिंहशिशु के साथ खेल रहे पुत्र के-हाथ में चक्रवर्ती बनने के लक्षण दिखाई पड़ते हैं[47]। राजा दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र होगा ऐसा आशीर्वाद मिला था। अतः यह पुत्र दुष्यन्त का हो सकता है। ऐसा प्रथम अभिज्ञान मारीच ऋषि के आश्रम में प्रकट होता है। 2. यह बालक पुरुवंश का अंकुर है। तो दुष्यन्त भी पुरुवंश का ही था[48]। 3. यह मनुष्य का बालक अप्सरा (मेनका) की पुत्री थी और प्रत्याख्यान के बाद उसको कोई अन्तरिक्ष में उठा कर ले गया था। दुष्यन्त को यह द्वितीय आशाजनक एक अभिज्ञान लगता है। 4. दुष्यन्त पूछता है कि इस पुत्र की माता किस राजर्षि की पत्नी है ? तब ऋषिकन्याओं ने उत्तर दिया कि धर्मपत्नी का त्याग करनेवाले उस अभागी व्यक्ति का नाम कौन लेगा ? यह संवाद भी, यह पुत्र (भरत)

शकुन्तला का ही होगा – उसका अभिज्ञान देने वाला है। 5. इस बालक को मृत्तिका-मयूर देते समय जैसे ही बोला जाता है कि ''शकुन्तलावण्यं पश्य'' वैसे ही, वह बालक पूछता है कि कहाँ है मेरी माता ? इससे भी राजा को अभिज्ञान मिल जाता है कि इस बालक की माता का नाम शकुन्तला ही है। 6. दुष्यन्त ने मार्ग पर गिरी अपराजिता औषधि से बनी बालक की अङ्गूठी उठा ली। फिर भी वह सर्प बनकर दुष्यन्त को दंश नहीं देती है[51]। इससे भी सिद्ध होता है कि दुष्यन्त ही उस बालक का पिता है। 7. सर्वदमन भरत कहता है कि तुम मेरे पिता नहीं हो, मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं[52]। किसी भी बालक को अपनी माता से अपने पिता का जो नाम जानने को मिलता है, वही प्रमाण माना जाता है। वही परम सत्य होता है। क्योंकि गान्धर्व विवाह का कोई ओर तो साक्षी था नहीं, इस स्थिति में माता का वचन ही अन्तिम प्रमाण बनेगा। 8. शकुन्तला ने ही इसी बालक को जन्म दिया था। इस बात का प्रमाण मारीच प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि हे राजन् दुष्यन्त, आपने इस शाकुन्तलेय का अभिनन्दन किया या नहीं ? तब इसी बालक को शकुन्तला ने जन्म दिया था – यह स्पष्ट हो जाता है। इस तरह बालक भरत का ''दौष्यन्ति'' एवं ''शाकुन्तल'' के रूप में अभिज्ञान सर्वथा निःशंक हो जाता है। षष्ठांक में अङ्गुलीयक मिलने से तो केवल शकुन्तला का ही अभिज्ञान स्पष्ट हुआ था। किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था पुत्र भरत का अभिज्ञान। जिसकी सिद्धि के लिये महाकवि कालिदास ने भगवान् शिव के आठ प्रत्यक्ष रूपों की तरह, सप्तम अंक में आठ आठ अभिज्ञान प्रस्तुत किये हैं !

5-2 अभिज्ञान शब्द का अर्थ 1. पहचान का चिह्न 2. पहचाना गया व्यक्ति 3. और पहचान क्रिया[53]। इस नाटक में ये तीनों प्रकार के अभिज्ञान विलसित हो रहे हैं। किन्तु ''यह शकुन्तला दुष्यन्त की परिणीता स्त्री है'' – इस तरह के अभिज्ञान से भी अधिक सुन्दर एवं मनोहारी है सगन्ध हरिण बने दुष्यन्त का अभिज्ञान ! जो विकसित हुए नाट्यकार्य का सर्वोत्तम परिणाम है, ऐसा प्रतीत होता है। महाकवि ने इस नाटक को केवल नायिका शकुन्तला के अभिज्ञान से ही पूर्ण न करते हुए, पुत्र भरत का शाकुन्तल एवं दौष्यन्ति के रूप में अभिज्ञान दिखाने तक

नाटक का विस्तार किया है, उससे यह भी स्पष्ट होता है कि बंगाली एवं मैथिल पाठ परम्परा अनुसार प्रस्तुत नाट्यकृति का शीर्षक ''अभिज्ञानशकुन्तल'' नहीं हो सकता, किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य पाठपरम्परा अनुसार ''अभिज्ञानशाकुन्तल'' ही हो सकता है। इस शीर्षक के अनुसार यहाँ अभिज्ञान, शकुन्तला एवं शाकुन्तल (भरत) – इन तीनों को आविष्कृत करके महाकवि ने सभी दर्शकों को शाश्वत काल के लिये चमत्कृत कर दिया है।

6-1 प्रस्तुत आलेख में प्रतीकों से व्यक्त होने वाले नाट्यकार्य को स्पष्ट करने का उपक्रम रखा है, इसलिये पुत्र भरत का अभिज्ञान भी प्रतीकों के द्वारा ही दिखाया गया है यह कहना अवशिष्ट है। महाकवि ने शकुन्तला के लिये हरिणी का प्रतीक रखा है, तो उसके सामने दुष्यन्त के लिये (प्रथमांक के अन्त में) धर्मारण्य में गज का प्रवेश हुआ है ऐसा कहकर नायक के लिये गज का प्रतीक रखा है। इसी के अनुसन्धान में सप्तम अंक में दुष्यन्त का पुत्र भरत जो चक्रवर्ती के लक्षणों को धारण कर रहा है, उसको सिंहबाल के साथ खेलता हुआ दिखा कर कवि ने उसके लिये बालमृगेन्द्र का प्रतीक रखा है। तथा वह बालक शकुन्तला का भी पुत्र है इसलिये मयूर का प्रतीक उपयुक्त समझा है। सर्वदमन भरत के लिये रखे ''बालमृगेन्द्र'' तथा ''मयूर'' जैसे प्रतीकों से महाकवि ने अपनी हृदयस्पर्शी प्रतीक-योजना को पराकाष्ठा पर पहूँचा दिया है॥

निसर्ग के अंक में प्रसूता शकुन्तला के जीवन की कहानी कहने के लिये महाकवि कालिदास ने समग्र निसर्ग में दृश्यमान 1. हरिण, हस्ती, सिंहशावक जैसे पशु, प्राणियों 2. शिरीष, आम्रमञ्जरी, कमलादि जैसे अनेकविध पुष्प एवं भ्रमर जैसा एक छोटा सा जन्तु, 3. और चक्रवाक, परभृतिका तथा हंस जैसे विभिन्न पक्षियों का प्रतीकात्मक संनिवेश करके इस नाट्यकृति को रमणीय बनाने के साथ शाश्वतकाल के लिये सार्वभौम भी बना दिया है। अलबत्त, इनमें से (नायक दुष्यन्त के लिये प्रयुक्त) भ्रमर, एवं (नायिका शकुन्तला के लिये प्रयुक्त) हरिणी, कमल तथा हंस जैसे त्रिविध प्रतीकों का साद्यन्त विनियोग करके विकसित होते रहे नाट्यकार्य की अविस्मरणीय अभिव्यक्ति की है॥

उपसंहार

1. अभिज्ञानशाकुन्तल का उपर्युक्त विवरण देखकर प्रतीत होगा कि प्रेम जैसी नैसर्गिक संवेदना का आलेखन करने के लिये निसर्ग के ही प्रतीक हृदयस्पर्शी हो सकते हैं – यह परम रहस्य सबसे पहले महाकवि कालिदास को ही प्राप्त हुआ है। शायद इसी बात को लेकर कवियों की गणना के प्रसंग में कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास ने अनामिका को सार्थवती बनाया है।

2. परम्परागत समाज ने पुरुष और स्त्री में जो भोक्तृ–भोग्यभाव सम्बन्ध माना है, उसके प्रति कालिदास की निसर्गसिद्ध दृष्टि सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जहाँ भोक्तृ–भोग्यभाव होता है वहाँ उच्चावचता भी अन्तर्निहित होती है। लेकिन महाकवि ने तो नायक–नायिका को हरिण और हरिणी के रूप में चित्रित करके, मधुकर – मधुकरी में साहचर्य का अभिलाष जगाकर तथा दोनों को हंसमिथुन के रूप में रममाण दिखाकर दोनों के बीच में समान रूप से भोग्यत्व एवं भोक्तृत्व आविष्कृत किया है!

तथा स्त्री एवं पुरुष के अथवा लता एवं वृक्ष में पारम्परिक दृष्टि से जो अवलम्ब्य–अवलम्बन–भाव सम्बन्ध देखा जाता है, उसके प्रति भी कालिदास की निसर्गसिद्ध दृष्टि स्पृहणीय है। शकुन्तला स्वरूपिणी वनज्योत्स्ना को दुष्यन्त स्वरूप सहकार वृक्ष का अवलम्बन अपेक्षित है, उसमें अवलम्बन–प्रदाता वृक्ष का चारितार्थ्य भी उसी में होगा की वह अपना सहकारत्व प्रकट करें। इसीलिये कालिदास ने दुष्यन्त के लिये और कोई दूसरा वृक्ष न रखकर, सहकार के वृक्ष को ही प्रतीक के रूप में चुना है।

3. नटी–गीत में जो ध्यानास्पद है, वह तो क्षण भर के लिये चुम्बित और बाद में परित्यक्त शिरीषपुष्पों की दयनीय दशा है, उसमें उल्लिखित भ्रमर ध्यानाकर्षक नहीं है। महाभारत–प्रोक्त शकुन्तलोपाख्यान में केवल अभिज्ञान की समस्या थी और वह बेढंगी रूप से वर्णित थी। उसमें परिष्कार करते हुए महाकवि ने स्त्रीजीवन की करुणासभर नियति को भी शामिल किया है, तथा उसको समस्त प्रकृति में फैले शिरीषादि पुष्पों के द्वारा वाचा दी है।

4. अतः "दुष्यन्त में भ्रमरवृत्ति थी और उसके उन्मूलन के लिये दुर्वासा के शाप का कवि ने विधान किया है" ऐसा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मन्तव्य आकर्षक होते हुए भी पुनरीक्षणीय लगता है। क्योंकि उपर्युक्त प्रतीक–चर्चा के अनुसार तो दुष्यन्त के लिये भ्रमर का प्रतीक सर्वांश में घटित नहीं होता है। प्रत्युत

भ्रमर के विनियोग से कवि ने नाट्यकार्य का जो विकास प्रदर्शित किया है, वही ध्यानास्पद है।

5. तथा ''शकुन्तला में अतिथि-सत्कार की भावना नहीं थी, इसलिये उसको भी शाप का फल मिला है'' ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि कवि ने कहीं पर भी शकुन्तला को पश्चात्ताप हो रहा है ऐसा नहीं कहा है। बल्कि शकुन्तला को तो अन्त तक यह मालूम भी नहीं है कि उसको कोई शाप मिला था। अतः पश्चात्ताप हो रहा है ऐसा नहीं कहा है। बल्कि शकुन्तला को ते अन्त तक यह मालूम भी नहीं है कि उसको कोई शाप मिला था। अतः पश्चात्ताप की बात भी प्रकृत में संगत नहीं होती है।

6. नाटक के आरम्भ में ही कहा गया है कि पिता कण्व शकुन्तला के प्रतिकूल दैव का शमन करने के लिये सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हैं। इसके अनुसन्धान में दुर्वासा के शाप को दुर्दैव का प्रतीक ही कहना होगा। और शकुन्तला ने भी यही कहा है कि मेरे कोई पुराकृत के कारण ही आर्यपुत्र कुछ काल के लिये मुझसे विरस हो गये थे। इस तरह नाटक के उपक्रमोपसंहार को देखते हुए दुर्वासा के शाप को शकुन्तला के दुर्दैव का ही प्रतीक मानना तर्कयुक्त सिद्ध होता है।

7. और, शकुन्तला के लिये प्रयुक्त परभृतिका या चक्रवाक पक्षी के प्रतीक भी शकुन्तला के दुर्दैव का ही प्रकट रूप कहा जा सकता है।

=०=

संदर्भ

1. प्रस्तुत आलेख में अभिज्ञानशाकुन्तल (राघवभट्ट की अर्थद्योतनिका टीका के साथ), प्रका. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली (2006) का विनियोग किया गया है।
2. फ्रान्स में (1880 में) जो प्रतीकवाद (Symbolism) चला था, और आध्यात्मिक/अगोचर विश्व को सूचित करने वाले प्रतीकों की जो चर्चायें होती थी - उसके साथ कालिदास के प्रतीकों की तुलना अभीष्ट नहीं है।
3. एतेन मधुकरस्थाने दुष्यन्तो, मञ्जरीस्थाने हंसपदिका, मधुस्थाने नवसम्भोगविलासः, कमलस्थाने शकुन्तलैव व्यज्यते। - अभिज्ञानशाकुन्तलम् (घनश्यामकृत-सञ्जीवनाख्य-टिप्पणसहितम्), सं. पूनम पंकज रावळएवं वसन्तकुमार भट्ट, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1997 (पृ. 112)
4. S'akuntala (English stage version), introduction by Rabindranath Tagore, Macmillan & C. Limited, Bombay, 1953. इसका हिन्दी अनुवाद ''कालिदास परिशीलन'' सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988 में उपलब्ध है।
5. This indication of the fick leness of royal love is not purposeless at the beginning of tne Fifth Act. With masterly skill the poet shows

that what Durvasa's curse had brought about had ets seeds in human nature. ibid, p. 11

6. देवनागरीवाचना में ईषद् ईषच्चुम्बितानि ऐसा पाठ है। किन्तु बंगाली वाचना का क्षणचुम्बितानि पाठ प्रसंगानुरूप है।
7. अथ चात्र प्रमदाशब्देन शकुन्तला गृहीता। सा शिरीषकुसुमान्यवतंसयन्तीत्युक्तम्। ... कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषम् आगण्डविलम्बिकेसरम् इत्युक्तम्। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्। पृ. 12-13
8. नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्। अ.शा. 4-8 (पृ. 134)
9. नटी-गीत का मर्म दिखाते हुए श्रीशरदरञ्जन राय (1908-1928, पृ. 74), तथा डॉ. बेलवालकरजी (1925, पृ. 351) (Belvalkar, 1925) ने ऐसा कहा है कि प्रमदायें जो शिरीषपुष्प को कानों में धारण करती हैं, उससे मेनका ने अपनी सखी सानुमती से शकुन्तला को अन्तरिक्ष में उठा लिया था, उसका सूचन हो रहा है। लेकिन ऐसा सूचन एकदेशीय सिद्ध होता है।
10. तत्र चक्रवर्तिपुत्रलाभो मुनिजनाशीर्वचनद्वारेण फलस्वभावस्यैवाभिज्ञानशाकुन्तले। इति अभिनवगुप्तपादाः। (ना.शा., भाग - 3 अ. 19-22), परिमल पब्लीकेशन्स, दिल्ली, 1983
11. अहमप्येनैनं जानामि स्वमात्मजम्। यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामिमम् आत्मजम्। भवेद्धि शंका लोकस्य नैवं शुद्धो भवेदयम्॥ महाभारतम् (आदिपर्वणि अ. 69/36), भा. ऑ. रि. इन्स्टी., पुणे, 1933
12. वैखानसः - इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्कारार्थं नियुज्य, दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (अ. शा. पृ. 22)
13. शकुन्तलेति नाम यौगिकमेव। तथाह आदिपर्वणि, निर्जने भुवने यस्मात् शकुन्तैः परिवारिता। शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मयेति॥ मैथिलपाठानुगम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् (शंकरस्य रसचन्द्रिका टीका), पृ. 177
14. अनसूया - हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। (शाकु. प्रथमांक :, पृ. 31)
15. स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं, बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः। अ.शा. 1/26
16. अथ चात्र प्रमदाशब्देन शकुन्तला गृहीता। सा शिरीषकुसुमान्यवतंसयन्तीत्युक्तम्। बहुवचनं पूजार्थम्। अ.शा. पृ. 12
17. कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्। न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ अ.शा. 6/18 पृ. 213
18. श्रीशरदरञ्जन राय एवं डॉ. एस. के. बेलवालकरजी ने ऐसा माना है। द्रष्टव्य : The song in the prologue accordingly suggests the fate of Skuntala including her rescur at the hands of her mother and mother's friends. - THE ORIGINAL SAKUNTALA, Sir Asutosh Mookherjee Silver jubilee Vol. - Orientalia Part - 2, Calcutta, 1925, p. 351.

19. शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने... । अ. शा. 4/15 पृ. 66
20. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । अ.शा. 1/20
21. अनेन शकुन्तलायाः पद्मिनीत्वं व्यज्यते । अ. शा. पृ. 33
22. अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
 कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर, विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥ अ.शा. 5/1
23. टीकाकार घनश्याम कहते हैं कि महाभारत युद्ध में अन्तरिक्ष में फेंके हाथी जैसे अद्यावधि घूमते रहे हैं, वैसे हंसपदिका के अर्थघटन करने में सभी व्याख्याकार भी भ्रममाण हैं । (अ. शा. घनश्याम की टीका के साथ, पृ. 150), वस्तुतः इस गीत का अर्थ तो हंसपदिका, दुष्यन्त और प्रेक्षकों के अलग अलग दृष्टि बिन्दुओं से त्रिविध सोचना चाहिये ।
24. स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं, प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदं ॥ अ.शा. 3/6
25. न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे । अ.शा. 65/18
26. न त्वत् प्रेक्षामि । पवनकम्पिता कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः । अ.शा. 3/34 श्लोकस्याधस्तात् शकुन्तलाया उक्तिः ।
27. कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
 न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ अ.शा. 6/18
28. करौ व्याधून्वत्याः पिबति रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥ अ.शा. 1/20 पृ. 34
29. शकुन्तलापि भ्रमरीवद् इममपेक्षत इति मनसि कृत्वाह मिश्रकेशी । मैथिलपाठानुगमम् अभिज्ञानशकुन्तलम्, (शङ्कर–नरहरिटीकासमेतम्), पृ. 355
30. सानुमती – सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः । अ.शा. 6/22 इत्यस्याधस्तात्, पृ. 217
31. आर्तत्राणाय वः शस्त्रं, न प्रहर्तुम् अनागसि । अ. शा. 1/11
32. SYMBOL - Something chosen to stand for of represent something else. Usually because of a resemblance in qualities or characteristic; an object used to typify a quality, abstract idea, etc. The oak is a Symbol of strength. Webster's Comprehensive Dictionary, 2004 Edition, Page : 1270
33. कण्व मुनि के लिये मृग का प्रतीक रखा गया है ऐसा पं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी मानते हैं । क्योंकि कण्व जिस सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हैं, वह सोमवंशीय दुष्यन्त को सूचित करता है । अर्थात् मुनि ही मृग बनके दुष्यन्त को यहाँ खींच लाये हैं । (आश्रममृगोऽपि कण्व एव कच्चित्) – कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी, 1986 पृ. 536
34. अनसूये, एष इतस्ततो दत्तदृष्टिः पर्युत्सको मृगपोतको मातरमन्वेषते । एहि, संयोजयाव एनम् । अ.शा. 3-18 के ऊपर ।

35. तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदानघप्रसवा भवति, तदा कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ । अ.शा. 4
36. तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः । त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्ते परिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगतः । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिले कृत- प्रणयः । अ.शा. 5-21 इत्यस्याधस्तात् ॥
37. द्रष्टव्य : निसर्ग-कन्या शकुन्तला, एस.के. बेलवालकर, कालिदास-ग्रन्थावली (अनु. सीताराम चतुर्वेदी) का परिशिष्ट, पृ.
38. इयं स्वयंवरवधू सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका ।... । हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवोपभोगक्षमः सहकारः ॥ अ.शा. पृ. 31
39. अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम् । अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद् रूपमनघं, न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः । अ.शा. 2/10
40. अभिज्ञानशकुन्तल की बंगाली वाचना में, तृतीयांक के गान्धर्व-विवाह की क्षणों में शकुन्तला की आँखों में पुष्प-पराग-रज आकर गिरती है । इस तरह शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने पर दुष्यन्त ने अपने वदन-मारुत से उस दृष्टि को निर्मल कर दी थी । उस पूर्वानुभूत घटनाचक्र के प्रतिध्वनि के रूप में दुष्यन्त ने कण्डूयमाना मृगी को चित्र में आलिखित करने की इच्छा प्रकट की है - यह बिन्दु भी यहाँ उल्लेखनीय है ।
41. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा, तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् । स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्, कथां प्रमत्तः कृतामिव ॥ अ.शा. 4/1
42. दुर्वासा का शाप यदि कविनिर्दिष्ट शकुन्तला के दुर्दैव का ही परिपाक है तो उस शाप को दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति के साथ जोड़ना तर्कसंगत नहीं लगता । एवमेव कवि ने पुनर्मिलन से पहले शकुन्तला को यह बताया भी नहीं है कि उसको शाप मिला था । अतः उसका पश्चात्ताप दिखाने की या उसमें कोई परिवर्तन आने की भी कोई बात उठती ही नहीं है ।
43. हला पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करमहं करोमि । अ.शा. 4/14 के नीचे
44. एषापि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घतराम् । गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥ अ.शा. 4/15
45. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातम् अन्यैर्द्विजैः परभृता खलु पोषयन्ति ॥ अ.शा. 5/22
46. काशी के मूर्धन्य विद्वान् श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी के मत से इस नाट्यकृति में अनेकविध अभिज्ञान आये हुए हैं । कृतिनिष्ठ यह मत भी अतीव ध्यानास्पद है । द्रष्टव्य : कालिदास - अपनी बात, (पृ. 40-48) वाराणसी, 2004
47. कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः । अ.शा. 7/16

48. राजा – न चेन्मुनिकुमारो यम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः । तापसी – पुरुवंशः । राजा कथमेकान्वयो मम । अ.शा. 7
49. यथा भद्रमुखो भणत्यप्सरासंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता । अ.शा. 7
50. तापसी – कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति । अ.शा. 7
51. प्रथमा – एषा अपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता । एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वापरो भूमिपतितां न गृह्णाति । राजा – अथ गृह्णाति । प्रथमा – ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति ॥ अ.शा. 7
52. बालः – मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम् ॥ अ.शा. 7
53. 1. अभिज्ञायतेऽनेन (अङ्गुलकीयेन) तद् अभिज्ञानम् । 2. अभिज्ञायते यत् तद् अभिज्ञानम् । 3. अभिज्ञप्तिः अभिज्ञानम् ।

Bibliography

Belvalkar, S. (1925). The Orignal Sakuntala. Sir Asutosh Mookherjee Silver Jubilee Vol.3, Orientalia, Part-2, Calcutta, 349350

Pischel, R. (1922, (Second edition). Kalidas's S'akuntala. USA: Harvard Uni. Press.

Sukathandar, V.S. (1933). Adi-parvan of the Mahabharata. Pune : Bhandarkar Oriental Institute.

Tagore, R. (1953). Sakuntala (English stage version) - Introduction. Bombay : Macmillan & C. Lid.

अभिनवगुप्तपाद. (1957). अभिनवभारती टीका, नाट्यशास्त्रम् (अ. 19-22) वडोदरा : ओरि. इन्स्टी, म.स. युनि.

कालिदास (2006) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (राघवभट्टस्य टीकया सहितम्), सं. नारायण राम आचार्य, नव देहली : राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

घनश्याम (1997) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अहमदाबाद : सरस्वती पुस्तक भण्डार, सं. डॉ. पूनम पंकज रावळ

त्रिपाठी राधावल्लभ. (1988) कालिदास परिशीलन. सागर (मध्यप्रदेश) : संस्कृत विभाग. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय

द्विवेदी रेवाप्रसाद. (2004) कालिदास – अपनी बात. वाराणसी : कालिदास संस्थान, २८, महामना पुरी, वाराणसी

शंकरयोः टीकाभ्यां सहितम् (1957) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (मैथिलपाठानुगम्) दरभंगा : सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ.

कालिदास-ग्रन्थावली, (1963) वेलवालकर अनुवाद-सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ मुनिः, भरत. (1986) नाट्यशास्त्रम् (भाग-3, अध्याय 19-22) दिल्ली परिमल पब्लीकेशन्स

राय शरद रञ्जन (1908, 1928) अभिज्ञानशकुन्तलम्, कोलकत्ता

#47

शकुन्तला- मअ[illegible]ड्ढो वि ण अत्तणो कण्णआअणो पहवदि । भूओ वि दाव सहि[illegible] अणुपाणइस्सम् ।

(मदना[illegible]ऽपि नात्मनः कन्यकाजनः प्रभवति । भूयोऽपि सखीजनम् अनुमान[illegible] ।)

राजा- (मुहूर्तम् उपविश्य) ततो मोक्ष्यामि ।

शकुन्तला- (कृतककोपा) पोरव, रक्ख विणअं । इदो इदो इसिओ सञ्चरन्ति ।

(पौरव, रक्ष विनयम् । इतो(त) इत ऋषयः सञ्चरन्ति ।)

राजा- (दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशम् अस्मि निर्गतः ।

(ससंभ्रमम्, शकुन्तलां मुक्त्वा तैरेव पदैर्निवर्तते)

शकुन्तला- (स्तोकमुपगम्य साङ्गभङ्गम्) पोरव, अणिच्छापूरओ वि दंसणमेत्तसुहदो ण ते अअं जणो विसुमरिदव्वो । (पौरव, अनिच्छापूरकोऽपि दर्शनमात्रसुखतो(दो)न तेऽयं जनो विस्मर्तव्यः)

राजा- सुन्दरि,

त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे ।

दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः ॥ ३-२३ ॥

शकुन्तला- (स्तोकमिव गत्वा) हद्धी, ण मे चरणा पुरोमुहा पहवन्ति । इमेहिं अय्यउत्तस्स कुरवएहिं ववहिदा पच्छादो लदामण्डवअस्स पेक्खिस्सं दाव से भावानुबन्धं । (तथा करोति) (हा धिक्, न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रभवतः । एभिरार्यपुत्रस्य, कुरबकैर्व्यवहिता पश्चाल्लतामण्डपकस्य प्रेक्षिष्ये तावद् अस्य भावानुबन्धम् ।)

राजा- प्रिये, मामेवम् अनुरागैकरसं समुत्सृज्य प्रस्थितैवासि निरपेक्षं गन्तुम् ।

अनिर्दयोपभोगस्य रूपस्य मृदुनस्तथा ।

(यह पृष्ठ शारदालिपि में सन् १६३० में लिखे गये अभिज्ञान शाकुन्तल के हस्तलेख का देवनागरी लिप्यन्तर है । (शारदालिपि का हस्तलेख मुख पृष्ठ पर है ।)) इस हस्तलेख को ब्युलहर ने सन् १८७५ में खरीदा था तथा उसे वे अपने साथ जर्मनी में ले गये थे । वहाँ से यह हस्तलेख रोयल एशियाटिक सोसायटी, मुंबई में पहुँचा था । तत्पश्चात् यह हस्तलेख भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना के संग्रह में चला गया । यहाँ पर संगृहीत इस हस्तलेख को प्रो. वी. राघवनजी ने न्यू केटलोगस केटलोगरम्, मद्रास में (सन् १९६८ में) घोषित किया की यह संग्रह में से खो गया है । वास्तव में यह हस्तलेख भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट में ही था और अब उसकी हमने (प्रो. वसन्तकुमार म. भट्टने) फोटोकोपी प्राप्त करली है ।

ISBN : 978-93-5235-160-2